युग प्रमुख चारित्रशिरोमणि सन्मार्गदिवाकर पूज्य आचार्यश्री
विमलसागरजी महाराज की हीरक जयन्ती प्रकाशन माला

श्री विद्यानन्दि विरचितम्

सुदर्शनचरितम्

हिन्दी अनुवाद

डॉ० रमेशचन्द्र जैन, जैनदर्शनाचार्य
एम. ए., पी-एच. डी., डि. लिट्.
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, वर्द्धमान कालेज, बिजनौर (उ० प्र०)

अर्थ सहयोग

श्री सोहनलाल सम्पतलालजी सबलावत
अशोका प्रिंटिंग प्रेस, डीमापुर (नागालैण्ड)

प्रकाशक

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

प्रकाशकीय

इस परमाणु युग में मानव के अस्तित्व की ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के अस्तित्व की सुरक्षा की समस्या है। इस समस्या का निदान 'अहिंसा' अमोघ अस्त्र से किया जा सकता है। अहिंसा जैनधर्म-संस्कृति की मूल आत्मा है। यही जिनवाणी का सार भी है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली वाणी को गणधरों ने ग्रहण किया और आचार्यों ने निबद्ध किया जो आज हमें जिनवाणी के रूप में प्राप्त है। इस जिनवाणी का प्रचार-प्रसार इस युग के लिए अत्यन्त उपयोगी है। यही कारण है कि हमारे आराध्य पूज्य आचार्य, उपाध्याय एवं साधुगण जिनवाणी के स्वाध्याय और प्रचार-प्रसार में लगे हुए हैं।

उन्हीं पूज्य आचार्यों में से एक हैं सन्मार्ग दिवाकर, चारित्र चूडामणि, परम पूज्य आचार्यवर्य विमलसागर जी महाराज। जिनकी अमृतमयी वाणी प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है। आचार्यवर्य की हमेशा भावना रहती है कि आज के समय में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का प्रकाशन हो और मन्दिरों में स्वाध्याय हेतु रखे जाएं जिसे प्रत्येक श्रावक पढ़कर मोहरूपी अन्धकार को नष्ट कर ज्ञानज्योति जला सके।

जैनधर्म की प्रभावना जिनवाणी के प्रचार-प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो, आर्ष परम्परा की रक्षा हो एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का शासन निरन्तर अबाधगति से चलता रहे। उक्त भावनाओं को ध्यान में रखकर परम पूज्य ज्ञान-दिवाकर, वाणीभूषण उपाध्यायरत्न भरतसागर जी महाराज एवं आर्यिकारत्न स्याद्वादमती माता जी की प्रेरणा व निर्देशन में परम पूज्य आचार्य विमल सागर जी महाराज की 74वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर 75वीं जन्म-जयन्ती के रूप में मानने का संकल्प समाज के सम्मुख भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् ने लिया। इस अवसर पर 75 ग्रन्थों के प्रकाशन की योजना के साथ ही भारत के विभिन्न नगरों में 75 धार्मिक शिक्षण शिविरों का आयोजन किया जा रहा है और 75 पाठशालाओं की स्थापना भी की जा रही है। इस ज्ञान यज्ञ में पूर्ण सहयोग करने वाले 75 विद्वानों का सम्मान एवं 75 युवा विद्वानों को प्रवचन हेतु तैयार करना तथा 7775 युवा वर्ग से सप्तव्यसन का त्याग करना आदि योजनाएँ इस हीरक जयन्ती वर्ष में पूर्ण की जा रही हैं।

उन विद्वानों का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रन्थों के प्रकाशन में अनुवादक/सम्पादक एवं संशोधक के रूप में सहयोग किया है। ग्रन्थों के प्रकाशन में जिन दाताओं ने अर्थ का सहयोग करके अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग कर पुण्यार्जन किया, उनको धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। ये ग्रन्थ विभिन्न प्रेसों में प्रकाशित हुए। एतदर्थ उन प्रेस संचालकों को जिन्होंने बड़ी तत्परता से प्रकाशन का कार्य किया, धन्यवाद देता हूँ। अन्त में उन सभी सहयोगियों का आभारी हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष-परोक्ष में सहयोग किया है।

ब्र० पं० धर्मचन्द्र शास्त्री

अध्यक्ष,

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

भूमिका

सुदर्शनचरित में मुनि श्री सुदर्शन का चरित्र विद्यानन्दि ने संस्कृत काव्य के रूप में प्रस्तुत किया है। जैन परम्परा के अनुसार सुदर्शन भगवान् महावीर के पाँचवें अन्तकृत् केवली हुए। उन्होंने कठिन तपश्चरण किया, घोर उपसर्गों को सहा और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति की। धवला में कहा गया है—

अष्टकर्मणामन्तं विनाशं कुर्वन्तीति अन्तकृतः। अन्तकृतो भूत्वा सिज्झंति सिद्ध्यन्ति निस्तिष्ठन्ति निष्पद्यते स्वरूपेण इत्यर्थः। बुज्झंति त्रिकालगोचरानन्तार्थ व्यञ्जनपरिणामात्मकाशेष वस्तु तत्त्वं बुद्ध्यन्ति अवगच्छन्तीत्यर्थः—जो आठ कर्मों का अन्त अर्थात् विनाश करते हैं, वे अन्तकृत् कहलाते हैं। अन्तकृत् होकर सिद्ध होते हैं, निष्ठित होते हैं व अपने स्वरूप से निष्पन्न होते हैं, ऐसा अर्थ जानना चाहिए। 'जानते हैं' अर्थात् त्रिकालगोचर अनन्त अर्थ और व्यञ्जन पर्यायात्मक अशेष वस्तु तत्त्व को जानते व समझते हैं।

धवला ६।१, ९-९, २१६-४९०।१

संसारस्यान्तः कृतो यैस्तेऽन्तकृतः (केवलिनः) = जिन्होंने संसार का अन्त कर दिया है, उन्हें केवली कहते हैं।

धवला ११।१, १, २।१०२।१

नमि मतङ्ग, सोमिल रामपुत्र-सुदर्शन-यमलीकवलीककिष्किविल-पालम्बाष्टपुत्रा इति एते दश वर्द्धमानतीर्थंकरतीर्थे''''दारुणानुपसर्गा-न्निर्जित्य कृत्स्नकर्मक्षयादन्तकृतो—वर्द्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में नमि, मतंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यमलीक, वलीक, किष्किविल पालम्ब, अष्टपुत्र ये दस दारुण उपसर्गों को जीतकर सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से अन्तकृत् केवली हुए।

धवला ११।१, १, २।१०३।२

उपर्युक्त दश अन्तकृत् केवलियों का जीवन आठवें अङ्ग अन्तकृत् दशांग में वर्णित किया जाता है।

पञ्च नमस्कार मन्त्र के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए महामुनि सुदर्शन का चरित्र कथा ग्रन्थों में प्रायः वर्णन किया गया है। इस मन्त्र का प्रभाव अचिन्त्य और अद्भुत है। इसकी साधना द्वारा सभी प्रकार की ऋद्धि-सिद्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। यह मन्त्र आत्मिक शक्ति का विकास करता है। इस

मन्त्र की निष्काम साधना से लौकिक और पारलौकिक सभी कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

पञ्च परमेष्ठी नमस्कार स्तोत्र में कहा गया है—

एसो परमिट्ठीणं पंचण्हं वि भावओ णमुक्कारो।
सव्वस्स कीरमाणो, पावस्स पणासणो होइ ॥ ६ ॥

पंचपरमेष्ठी को भाव सहित किया गया नमस्कार समस्त पापों का नाश करने वाला है।

सयलुज्जोइय भुवणं विद्दाविय सेस सत्तु सघायं।
नासिय मिच्छत्त तमं विघलिय मोहं हय तमोह ॥ ३० ॥

यह पंच नमस्कार चक्र समस्त भुवनों को प्रकाशित करने वाला, सम्पूर्ण शत्रुओं को दूर भगाने वाला, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार का नाश करने वाला, मोह को दूर करने वाला और अज्ञान के समूह का हनन करने वाला है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री ने 'मंगलमय णमोकार : एक अनुचिन्तन' पुस्तक में मन्त्र के स्वरूप और माहात्म्य का अच्छी तरह से मूल्यांकन किया है।

प्राचीन साहित्य में शिवार्य कृत भगवती आराधना में मुनि श्री सुदर्शन के विषय में एक गाथा मिलती है—

अन्नाणीविय गोवो आराधित्ता मदो नमोक्कारं।
चंपाए सेट्ठिकुले जादो पत्तो य सामन्नं ॥ ७५८ ॥

अर्थात् अज्ञानी होते हुए भी सुभग गोपाल ने णमोकार मन्त्र की आराधना की, जिसके प्रभाव से वह मरकर चम्पानगर के श्रेष्ठिकुल में उत्पन्न हुआ और श्रामण्य को प्राप्त हुआ।

भगवती आराधना में जो कथायें आई हैं, उनका विस्तार से वर्णन करने वाली कुछ रचनायें प्राप्त हुई हैं। इनमें सुदर्शन मुनि की कथा वर्णित है।

विक्रम संवत् ९८९ तथा शक संवत् ८५३ में हरिषेण द्वारा लिखे गए बृहत्कथाकोश में ६०वीं कथा सुभग गोपाल की है। यह १७३ पद्यों में पूर्ण हुई है।

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में प्रभाचन्द्र ने आराधना कथा प्रबन्ध (कथाकोश) या आराधना सत्कथा प्रबन्ध की रचना की। इसमें २३वीं आराध्यनमस्कारमित्यादि कथा सुभग ग्वाले की अत्यन्त संक्षिप्त रूप में दी गई है, जो इस प्रकार है—

अङ्ग देश में चम्पा नगरी में राजा दन्तिवाहन तथा सेठ वृषभदास था। सेठ के गोपाल ने एक बार घर आते हुए निश्चल आभा को प्रकट करने वाले

चारणमुनि देखे। शीतकाल में तुषार के गिरने पर शिलातल पर स्थित हो, बिना आच्छादन के कैसे रात्रि व्यतीत करेंगे, ऐसा सोचकर घर जाकर पश्चिम रात्रि में भैंस को लेकर शीघ्र गया। उन मुनि को समाधिस्थ देखकर शरीर पर हुए तुषार को तितर-बितर कर हाथ पैर आदि का मर्दन किया।

सूर्योदय होने पर ध्यान समेट कर (मुनि ने) यह आसन्नभव्य है, ऐसा मानकर णमो अरहंताणं, इत्यादि मन्त्र कहा। उस मन्त्र का उच्चारण कर भगवान् आकाश (मार्ग) में चले गए। मन्त्र के ऊपर उसकी बहुत श्रद्धा हो गई, अतः समस्त क्रियाओं के प्रारम्भ में उस मन्त्र का उच्चारण करने लगा। सेठ ने यह क्या उपद्रव करते हो, इस प्रकार रोका। उस ग्वाले ने जब पूर्व वृत्तान्त कहा तो सेठ ने कहा—तुम्हीं धन्य हो, जिसने उनके चरणों के दर्शन किये। इस प्रकार एक बार गङ्गा पाकर (उसकी) वे भैंसे एक प्रकार की फसल के खेत (वल्ल क्षेत्र) में भक्षण के लिए चली गई। उन्हें रोकने को उत्सुक उस ग्वाले ने नमस्कार मन्त्र का उच्चारण कर जल के बीच छलांग लगाई। अदृश्य लकड़ी उसके पेट में घुस गई। निदान से मर कर वह अर्हद्दास की सेठानी का सुदर्शन नामक पुत्र हुआ। अतिरूपवान् तथा समस्त विद्याओं से युक्त उसने सागरसेना और सागरदत्त की पुत्री मनोरमा को विवाहा। एक बार वृषभदास सेठ सुदर्शन को अपने पद पर अधिष्ठित कर समाधिगुप्त मुनि के समीप हो गया।

राजा ने सुदर्शन का सम्मान किया, वह समस्त लोगों में प्रसिद्ध हो गया। एक बार राजा के साथ बड़ी विभूति से उद्यान क्रीड़ा के लिए आए। अभयमती रानी ने देखा। विह्वलीभूत होकर धाय से पूछा—यह कौन है ? उसने कहा—यह राजश्रेष्ठी सुदर्शन है। पुनः रानी ने कहा—यदि इसे मुझसे मिलाओ तो जीवन धारण करूंगी, अन्यथा मर जाऊँगी। धाय ने अवश्य मिलाऊँगी, इस प्रकार धैर्य बंधाकर रानी को घर लाई तथा कुम्हार के पास आकर पुरुष प्रमाण मिट्टी का पुतला बनवाया। वस्त्र से वेष्टितकर रानी के समीप ले जाकर जाती हुई उसे द्वारपालों ने रोक लिया। कुटिलतापूर्वक पुतले को फेंककर टूटा हुआ देखकर धाय ने द्वारपालों से कहा—रानी पुरुष अनुष्ठान करती है, भूखी आज इसकी पूजा करायगी। इसे आप लोगों ने तोड़ दिया, अतः आप सभी को प्रातःकाल मरवा डालूंगी। अनन्तर भयभीत होकर उन्होंने कहा—क्षमा करो। कोई कभी तुम्हें नहीं रोकेगा। इस प्रकार द्वार के रक्षकों को नियन्त्रित कर अष्टमी को आधी रात के समय कायोत्सर्ग पूर्वक स्थित सुदर्शन को लाकर रानी को समर्पित कर दिया। आलिङ्गनादि विज्ञानों से वह क्षुब्ध नहीं कर सकी। उपसर्ग का निवारण हो जाने पर प्रातःकाल पाणिपात्र में आहार करूंगा, इस प्रकार

प्रतिज्ञा लेकर काठ की तरह खड़े रहे। अभयमती ने अपने आपको नाखूनों से विदीर्ण कर सेठ ने बलात् मुझे नष्ट कर दिया, इस प्रकार प्रातःकाल जोर-जोर से चिल्लाना प्रारम्भ किया। यह सुनकर राजा ने—सेठ को श्मसान में ले जाकर मार डालो, ऐसा कहा। वहाँ पर राजपुरुषों ने उसके ऊपर जो तलवार छोड़ी, वह उसके कण्ठ में फूलों की माला हो गई। देवों ने उसके शील की प्रशंसा कर फूलों की वर्षा आदि की। नगरजनों तथा राजा ने सुदर्शन से क्षमा कराई। सुकान्त नामक पुत्र को अपने पद पर बैठाकर विमल वाहन मुनि के समीप तप ग्रहण कर केवलज्ञान उत्पन्न कर सुदर्शन मोक्ष चले गए।

विक्रम संवत् ११२३ के आस पास लिखे गये मुनि श्रीचन्द्र कृत कहाकोसु (कथाकोश) में २२वीं सन्धि के १६ कड़वकों में सुभग गोपाल और सेठ सुदर्शन का चरित्र कहा गया है।

नयनन्दि कृत सुदंसणचरिउ में सुदर्शन मुनि के चरित्र का विविध छन्दों में काव्यात्मक ढंग से वर्णन किया गया है। यह काव्य १२ संधियों से युक्त है। इसकी रचना अवन्ति प्रदेश की राजधानी धारानगरी के बड़विहार नामक जैन मन्दिर में राजा भोज के समय विक्रम संवत् ११०० में हुई थी।

रामचन्द्र मुमुक्षु कृत पुण्यास्रव कथाकोश में 'पञ्चनमस्कार मन्त्र फलम्' नामक द्वितीय अधिकार में आठवीं कथा सुभग गोपालचर सेठ सुदर्शन की कही गई है। पुण्यास्रव कथाकोश छह अधिकारों में विभक्त है। इसमें कुल छप्पन कथाएँ हैं। रामचन्द्र मुमुक्षु १२वीं शती के मध्य से भी पूर्वकालीन सिद्ध होते हैं।

भट्टारक सकलकीर्ति (विक्रम संवत् १४४३–१४९९) की अनेक रचनायें प्राप्त हैं। इनमें एक रचना सुदर्शन चरित भी है।

पूज्य श्री १०८ आचार्य ज्ञानसागर जी ने अभी बीसवीं शताब्दी ई० में सुदर्शनोदय काव्य की रचना की, जिसका विद्वत्तापूर्ण सम्पादन पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, सिद्धान्तालङ्कार, न्यायतीर्थ, सादूमल (जिला—ललितपुर, उ० प्र०) ने किया। यह रचना प्रथम बार वीर निर्वाण संवत् २४९३, वि० सं० २०२३ नवम्बर १९६६ में प्रकाशित हुई। इस काव्य के विषय में श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी के साहित्याध्यापक पं० गोविन्द नरहरि वैजापुरकर, एम० ए०, न्याय-वेदान्त-साहित्याचार्य ने लिखा है कि नौ सर्गों वाला यह काव्य चम्पापुरी के सुदर्शन सेठ का चरित वर्णन करता हुआ जिनोपदिष्ट मोक्ष-लक्ष्मी का पोषण करता है। प्रस्तुत काव्य में धीरोदात्त नायक की ऐसी कौतूहल जनक कथावस्तु कवि ने अपनी कविता के लिए चुनी है कि वह इस काव्य के आद्योपान्त पढ़ने की उत्सुकता को शान्त नहीं करती, प्रत्युत उत्तरोत्तर प्रति सर्ग वह बढ़ती ही

जाती है। प्रसन्न एवं गम्भीर वैदर्भी रीति से प्रवहमान इस सरस्वती नदी के प्रवाह में सहृदय पाठकों के मन रूप मीन विलासपूर्वक उद्वर्तन, निवर्तन करने लगते हैं। अनुप्रास, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा और विरोधाभास आदि अलंकार इसे विशेष रूप से उज्ज्वल और विभूषित करते हैं। श्यामकल्याण, कव्वाली, प्रभाती, सारंग, काफी इत्यादि रागों की सुन्दर ध्वनि उसकी स्वाभाविक सुन्दरता को दुगुणी करती हुई अन्य काव्यों में दुर्लभ ऐसे दिव्य संगीत को रचती है। महाकाव्य के अनुकूल नगर वर्णन, नायिका वर्णन, विलास वर्णन, निसर्ग वर्णन आदि गुण भी सतत रूप से इस काव्य में यथा स्थान प्रसंग के अनुसार गूंथे गए हैं। महाकाव्य के होते हुए भी इसमें जैन आचार और दर्शन रूप समुद्र के मन्थन से उत्पन्न नवनीत (मक्खन) ऐसी कुशलता से समालिम्पित है कि जिससे इस काव्य की कान्तासम्मित सुन्दर उपयोगिता मूर्तिमती होकर दिखाई देती है। यह काव्य केवल दर्शनशास्त्र ही नहीं, बल्कि [illegible] धर्मशास्त्र भी है, जिसे कवि ने मोक्षमार्ग पर चलने वाले मुनि और श्रावकादि के उद्देश्य से निर्मित किया है। विलासिनी ब्राह्मणी, राजरानी और नर्तकी वेश्या आदिक, जो कि एक मात्र सांसारिक विषयों के लोलुपी हैं, उनके मुखों से भी उपदेश कराया है जो यह अभिप्राय व्यक्त करता है कि धर्म और दर्शन के निर्णय में मनुष्य को सदा विवेकशील होना चाहिए; क्योंकि ऊपरी तौर से किसी वस्तु का देखना कदाचित् भ्रामक भी हो सकता है। दूसरी बात यह भी भी सूचित होती है कि उस समय ऐसे अतिविषयी लोग भी शास्त्र और दर्शन के तत्त्वज्ञ थे तथा उनका बहुलता से प्रचार था।'[1]

सुदर्शनचरित के विषय में उपर्युक्त विभिन्न रचनाओं में जो वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है, उसके विषय में सिद्धान्तशास्त्री पं० हीरालाल जी ने सुदर्शनोदय काव्य की विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना में प्रकाश डाला है। प्रमुख वैशिष्ट्य इस प्रकार है—

हरिषेण ने अपने कथाकोश में सुदर्शन का न कामदेव के रूप में उल्लेख किया है और न अन्तकृत्केवली के रूप में ही। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर उनके आठ प्रातिहार्यों का वर्णन करते हुए लिखा है कि मुण्डकेवली के समवशरण की रचना नहीं होती है। यथा—

> छत्रत्रयं समुत्तुङ्गं प्रकारो हरिविष्टरम् ।
> मुण्डकेवलिनो नास्ति सरणं समवादिकम् ॥ १५७ ॥
> छत्रमेकं शशिच्छायं भद्रपीठं मनोहरम् ।
> मुण्डकेवलिनो नूनं द्वयमेतत् प्रजायते ॥ १५८ ॥

१. सुदर्शनोदय काव्य, पृ० ११ ।

इस उल्लेख से यह सिद्ध है कि सुदर्शन मुण्ड या सामान्य केवली हुए हैं और सामान्य केवलियों के समवशरण रचना नहीं होती। आठ प्रातिहार्य अवश्य होते हैं, पर तीन छत्र की जगह एक श्वेत छत्र और सिंहासन की जगह मनोहर-भद्रपीठ होता है।

नयनन्दि ने अपने सुदंसणचरिउ में तथा सकलकीर्ति ने अपने सुदर्शनचरित में उन्हें स्पष्ट रूप से चौबीसवाँ कामदेव और वर्द्धमान तीर्थंकर के समय में होने वाले दश अन्तःकृत्केवलियों में से पांचवां अन्तःकृत्केवली माना है यथा—

(१) अन्तयड सु केवलि सुप्पसिद्ध, ते दह दह संखए गुणसमिद्ध।
रिसहाइ जिणिंदहं तित्थे ताम, इह होंति चरम तित्थयरु जाम॥
तित्थे जाउ काय कम्म हाणि, पंचमु तहिं अंतयडणाणि णामेण।
सुदंसणु तहो चरितु पारंभिउ अयाणहुँ पवित्तु॥

(२) इय सुविणो एहिं चरिमाणगउ अच्छइ।
नर वइ हे पसाय पुण्णुवंतु संघच्छइ॥

उक्त दो अंशों में से प्रथम में पाँचवें अन्तःकृत्केवली होने का तथा दूसरे में चरम अनङ्ग अर्थात् अन्तिम कामदेव होने का स्पष्ट निर्देश है।

सकलकीर्ति ने दोनों ही रूपों में सुदर्शन को स्वीकार किया है। यथा—

श्रीवर्द्धमानदेवस्य यो वैश्यकुलशांशुमान्।
अन्तकृत्केवली पंचमो बभूवाखिलार्थदृक्॥ १।१४
कामदेवश्च दिव्याङ्गो रौद्रघोरोपसर्गजित्।
त्रिजगन्नाथ वन्द्यार्च्यः सुदर्शनमुनीश्वरः॥ १।१५

तत्त्वार्थवार्त्तिक और धवला टीका में भी सुदर्शन को अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का पाँचवां अन्तकृत्केवली माना।[1]

(२) हरिषेण ने चम्पा के राजा का नाम दन्तिवाहन, प्रभाचन्द्र ने सुवाहन तथा आचार्यों ने धात्रीवाहन नाम दिया है।

(३) हरिषेण ने सुदर्शन के गर्भ में आने के सूचक स्वप्नादि का वर्णन नहीं किया है, पर शेष सबने उल्लेख किया है।

(४) हरिषेण और सुदर्शनोदयकार ने सुदर्शन की जन्मतिथि का कोई निर्देश नहीं किया है, जबकि नयनन्दि और सकलकीर्ति ने सुदर्शन का जन्म पौष सुदी ४ का बतलाया है। नयनन्दि ने तो बुधवार का भी उल्लेख किया है। यथा—

पोसे पहुले सेय पक्खए हुए, बुहवारए च उत्थि तिहि संजुए।

---

१. तत्त्वार्थवार्त्तिक अ० १ सूत्र २०, धवला पु० १ पृ० १०३।

(५) हरिषेण ने सुभग ग्वाले के द्वारा शीत परीषह सहने वाले मुनिराज की शीतबाधा को अग्नि जलाकर दूर करने का कोई वर्णन नहीं किया है। नयनन्दि और सकलकीर्ति ने उसका उल्लेख किया है। विद्यानन्दि कृत सुदर्शनचरित में भी यह उल्लेख मिलता है।[१]

(६) नयनन्दि और सकलकीर्ति ने सुदर्शन के विवाह का मुहूर्त शोधने वाले श्रीधर ज्योतिषी के नाम का उल्लेख किया है और बताया है कि सुदर्शन और मनोरमा का विवाह वैशाख सुदी पंचमी को हुआ। विद्यानन्दि कृत सुदर्शनचरितम् में भी यह उल्लेख है।[२]

(७) नयनन्दि और सकलकीर्ति ने सुदर्शन का निर्वाण पौष सुदी पंचमी, सोमवार के दिन बतलाया है। विद्यानन्दि ने निर्वाण की तिथि नहीं दी है।

सुदर्शन के निष्कलुष चरित के विषय में नयनन्दि ने बहुत ही सुन्दर कथन किया है—

रामो सीय विओय सोय विहुरं संपत्तु रामायणे,
जादा पंडव धायरट्ठ सददं गोत्तं कली भारहे।
डेड्डा कोलिय चोररज्जुणिरदा आहासिदा सुद्दये,
णो एक्कंपि सुदंसणस्स चरिदे दोसं समुब्भासिदं॥

रामायण में राम सीता के वियोग से शोकाकुल दिखाई देते हैं, महाभारत में पाण्डव और कौरवों की कलह एवं मारकाट दिखाई देती है तथा अन्य लौकिक शास्त्रों में जार, चोर, भील आदि का वर्णन मिलता है, किन्तु इस सुदर्शन सेठ के चरित में ऐसा एक भी दोष दिखाई नहीं देता, अर्थात् यह सर्वथा निर्दोष चरित है।[३]

सुदर्शनचरित के कर्ता

सुदर्शनचरित मुमुक्षु विद्यानन्दि की रचना है। ग्रन्थ के अन्तिम पद्यों में ग्रन्थकार की गुरु परम्परा का स्पष्ट व विस्तृत वर्णन इस प्रकार किया गया है—

श्रीमूलसङ्घे वरभारतीये गच्छे बलात्कारगणेऽति रम्ये।
श्रीकुन्दकुन्दाख्य मुनीन्द्रवंशे जातः प्रभाचन्द्र महामुनीन्द्रः॥ ४७
पट्टे तदीये मुनिपद्मनन्दी भट्टारको भव्यसरोजभानुः।
जातो जगत्त्रयहितो गुणरत्नसिन्धुः कुर्यात् सतां सारसुखं यतीशः॥४८

---

१. विद्यानन्दि : सुदर्शनचरितम् ८/८८–९४।
२. वही ४/९९/१०१।
३. सुदर्शनोदय काव्य (प्रस्तावना), पृ० ३१।

तत्पट्टपद्माकर भास्करोऽत्र देवेन्द्र कीर्ति मुनि चक्रवर्ती ।
तत्पादपङ्कजसुभक्तियुक्तो विद्यादिनन्दीचरितं चकार ॥४९॥
तत्पादपट्टेऽजनि मल्लिभूषण गुरुश्चारित्रचूडामणिः,
संसाराम्बुधितारणैकचतुरश्चिन्तामणिः प्राणिनाम् ।
सूरि श्री श्रुतसागरो गुणनिधिः श्री सिंहनन्दी गुरुः,
सर्वे ते यति सत्तमाः शुभतराः कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ॥ ५०॥
गुरूणामुपदेशेन सच्चरित्रमिदं शुभम् ।
नेमिदत्तो व्रती भक्त्या भावयामास शर्मदम् ॥५१॥

अर्थात् मूलसङ्घ में, श्रेष्ठ सरस्वती गच्छ और अतिरम्य बलात्कारगण में कुन्दकुन्द नामक मुनीन्द्र के वंश में महामुनीन्द्र प्रभाचन्द्र हुए। उनके पट्ट में भव्य-जनों के लिए सूर्य के समान मुनि पद्मनन्दी भट्टारक हुए। वे तीनों लोकों के हितकारी तथा गुणरूपी रत्नों के समुद्र थे। वे यतीश सज्जनों के सार स्वरूप सुख को करें। उनके पट्ट रूपी कमलों के लिए सूर्य स्वरूप देवेन्द्रकीर्ति मुनि चक्रवर्ती हुए। उनके चरणकमलों के प्रति भक्ति से युक्त विद्यानन्दी ने (सुदर्शन) चरित बनाया। उनके पादपट्ट पर चारित्रचूड़ामणि मल्लिभूषण गुरु हुए। वे प्राणियों को संसार रूपी समुद्र से तारने में एकमात्र चतुर चिन्तामणि थे। श्री श्रुतसागरसूरि, गुणनिधि सिंहनन्दी गुरु ये सब शुभतर यति श्रेष्ठ आपका मङ्गल करें।

गुरु के उपदेश से यह शुभ, सुख देने वाले इस सच्चरित्र की नेमिदत्त व्रती ने भक्ति से भावना की।

इस प्रकार सुदर्शनचरित के कर्त्ता विद्यानन्दि की गुरुपरम्परा यह है—

मूलसंघ, सरस्वती गच्छ, बलात्कारगण, कुन्दकुन्दान्वय—प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, देवेन्द्रकीर्ति और विद्यानन्दी। विद्यानन्दि के चार शिष्य हुए—मल्लिभूषण, श्रुत-सागर, सिंहनन्दि और नेमिदत्त।

बलात्कारगण

प्रो० वी० पी० जोहरापुरकर ने अपने ग्रन्थ भट्टारक सम्प्रदाय में बलात्कार-गण की उत्तर शाखा के विषय में कहा है—

बलात्कारगण की उत्तरभारत की पीठों की पट्टावलियों में वसन्तकीर्ति पहले ऐतिहासिक भट्टारक प्रतीत होते हैं। पट्टावलियों के अनुसार ये संवत् १२६४ की माघ शुक्ल ५ को पट्टारूढ़ हुए तथा एक वर्ष ४ माह पट्ट पर रहे। इन्हें वनवासी और शेर द्वारा नमस्कृत कहा गया है। श्रुतसागर सूरि के अनुसार ये ही मुनियों के वस्त्रधारण के प्रवर्तक थे। वसन्तकीर्ति के बाद

विशालकीर्ति और उनके बाद शुभकीर्ति पट्टाधीश हुए। शुभकीर्ति के बाद धर्मचन्द्र संवत् १२७१ की श्रावण शुक्ल ७ को पट्टारूढ़ हुए तथा २५ वर्ष पट्ट पर रहे। इनके बाद रत्नकीर्ति संवत् १२९६ की भाद्रपद कृ० १३ को पट्टारूढ़ हुए। ये १४ वर्ष पट्ट पर रहे। रत्नकीर्ति के पट्ट पर दिल्ली में संवत् १३१० की पौष शुक्ल १५ को भट्टारक प्रभाचन्द्र का अभिषेक किया गया। प्रभाचन्द्र ७४ वर्ष तक पट्टाधीश रहे। भट्टारक प्रभाचन्द्र ने पद्मनन्दि को अपने पद पर स्थापित किया। ये संवत् १३८५ की पौष शुक्ल ७ से ६५ वर्ष तक पट्टाधीश रहे। भट्टारक पद्मनन्दि के तीन प्रमुख शिष्यों द्वारा तीन भट्टारक परम्परायें आरम्भ हुई, जिनका आगे अनेक प्रशाखाओं में विस्तार हुआ। इनमें शुभचन्द्र का वृत्तान्त दिल्ली-जयपुर शाखा में, सकलकीर्ति का वृत्तान्त ईडर शाखा में तथा देवेन्द्रकीर्ति का वृत्तान्त सूरत शाखा में देखना चाहिए।[1] भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० १६९ से सेरगढ़ (ललितपुर) से प्राप्त प्रतिमा लेख से इतना ज्ञात होता है कि देवेन्द्रकीर्ति वि० सं० १४९३ के पूर्व भट्टारक पद को अलंकृत कर चुके थे। इनके प्रमुख शिष्य विद्यानन्दी परवार थे। वि० सं० १४९३ के पूर्व ही चन्देरी पट्ट स्थापित किया जा चुका होगा, फिर भी उनको गुजरात में पूरी प्रतिष्ठा बनी हुई थी और उनका गुजरात से सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं हुआ था। सूरत के पास रांदेर पट्ट का प्रारम्भ होना और उस पर विद्यानन्दी का अधिष्ठित होना तभी सम्भव हो सका होगा।[2]

वि० सं० १४६१ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने गांधार से भट्टारक पट्ट को लाकर रांदेर में स्थापित किया और भट्टारक विद्यानंदी उसी पट्ट को वि० सं० १५१८ में सूरत ले आये।[3] चन्देरी के प्रतिमालेखों को देखने से यह भी पता लगता है कि भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति अठसखा परवार थे। विद्यानन्द को एक पट्टावली में अष्टशाखा प्राग्वाटवंशावतंस तथा हरिराजकुलोद्योतकर कहा गया है, जिससे ज्ञात होता है कि ये प्राग्वाट जाति के थे तथा उनके पिता का नाम हरिराज था।[4]

सुदर्शनचरित की रचना

सुदर्शनचरित के अन्तिम अधिकार के ४२ वें पद्य में कहा गया है कि इसकी रचना विद्यानन्दि ने गंधारपुरी के छत्र-ध्वजा आदि से सुशोभित जैनमन्दिर में

---

१. भट्टारक सम्प्रदाय, पृ० ९३-९५।
२. सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३६२।
३. वही, पृ० ३६५।
४. सुदर्शनचरितम् (प्रस्तावना), पृ० १५।

की । गंधारपुरी या तो सूरत नगर का ही नाम था या उसके किसी एक भाग का अथवा उसके समीपवर्ती किसी अन्य नगर का। यहीं सं० १५१३ के लगभग सुदर्शनचरित की रचना हुई ।[1]

पूर्व परम्परा का स्मरण

सुदर्शनचरित के कर्त्ता मुमुक्षु विद्यानन्दि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ में समस्त तीर्थंकरों, सिद्धों, सरस्वती, जिनभारती तथा गौतम आदि गणधरों की वन्दना करने के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, पात्रकेसरी, अकलंक, जिनसेन, रत्नकीर्ति और गुणभद्र का स्मरण किया है। पश्चात् भट्टारक प्रभाचन्द्र और सूरिवर देवेन्द्रकीर्ति को क्रमशः नमन कर कहा है कि ये जो दीक्षा रूपी लक्ष्मी का प्रसाद देने वाले मेरे विशेष रूप से गुरु हैं, उनका सेवक मैं विद्यानन्दी भक्ति सहित वन्दन करता हूँ। अनन्तर उन्होंने आशाधर सूरि का भी स्मरण किया है तथा प्रत्येक पुष्पिका में प्रस्तुत कृति को मुमुक्षु विद्यानन्दि विरचित कहा है।[2]

ग्रन्थ वैशिष्ट्य

सुदर्शनचरित १३६२ पद्यों में द्वादश अधिकारों में सम्पूर्ण हुआ है। इसमें चरित काव्य के लक्षण प्रायः पाए जाते हैं। कवि का उद्देश्य कवित्व शक्ति प्रदर्शन न होकर मुनि सुदर्शन के श्रेष्ठ और निष्कलुष चारित्र का सरल भाषा में प्रतिपादन करना था। पूरा ग्रन्थ शान्ति रस की धारा में प्रवाहित हुआ है। बीच-बीच में मनोहारी और अर्थगाम्भीर्य की विशेषता को लिए हुए सुभाषितों का प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ विद्या की महत्ता के विषय में कवि ने कहा है—

विद्या लोकद्वये माता विद्या शर्मयशस्करी।
विद्या लक्ष्मीकरा नित्यं विद्या चिन्तामणिर्हितः ॥३२॥
विद्या कल्पद्रुमो रम्यो विद्या कामदुहा च गौः।
विद्या सारधनं लोके विद्या स्वर्मोक्षदायिनी ॥३३॥

(चतुर्थ अधिकार)

कहीं कहीं थोड़े से शब्दों में बड़ी बात कह दी है। जैसे—

कामिनां क्व विवेकिता ॥६।७४
परोपदेशने नित्यं सर्वोऽपि कुशलो जनः ॥६।९२
कष्टं स्त्री दुराग्रहः ॥६।९८॥
सुरतां भास्करोद्योते सत्यं याति तमश्चयः ॥१०।१३६

१. सुदर्शनचरितम् (प्रस्तावना), पृ० १६-१७ ।
२. वही, पृ० १३, सर्ग प्रथम-१-३३ ।

नवम अधिकार में द्वादशानुप्रेक्षाओं का सुन्दर विवेचन हुआ। ये अनुप्रेक्षायें प्रतिदिन पाठ करने योग्य हैं।

द्वादश अधिकार में २७वें पद्य से ३७वें पद्य तक नमस्कार मन्त्र की महिमा का वर्णन करते हुए उसे सुख-प्राप्ति का साधन, स्वर्ग और मोक्ष का एक मात्र कारण, विघ्नों का निवारक तथा महाप्रभावक वर्णित किया गया है। कवि के अनुसार जिस प्रकार समस्त वृक्षों में कल्पवृक्ष सुशोभित होता है, उसी प्रकार समस्त मन्त्रों में यह मन्त्रराज विराजित है।

● प्रत्येक अधिकार में जैनधर्म के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द आए हैं, जो कि जैन अध्येताओं के लिए प्रायः सुगम हैं। अभयमती की शृंगारिक चेष्टाओं के सामने सुदर्शन का निर्विकार रहना उनकी धीरता, गम्भीरता और व्रत के प्रति दृढ़ निष्ठा को अभिव्यक्त करता है। सुदर्शन मुनि का जीवन आदर्श जीवन है, जिससे कोई भी व्यक्ति शिक्षा ले सकता है। अनुप्रेक्षा अधिकार को छोड़कर कथा अपने प्रवाह से चलती है। बीच बीच में जो धार्मिक चर्चायें हुई हैं, उनसे भी पाठकों को ऊब पैदा नहीं होती है, अपितु आदर्श जीवन की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार अभिव्यक्ति की सार्थकता इसमें दृष्टिगोचर होती है।

आभार प्रदर्शन

पूज्य १०८ उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज के प्रति मैं अपनी विनम्र श्रद्धा व्यक्त करता हूं, जिनकी प्रेरणा से मैं सुदर्शनचरित के अनुवाद में प्रवृत्त हुआ। यह ग्रन्थ भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा संचालित माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थ-माला के ग्रन्थांक ५१ के अन्तर्गत महामनीषी डॉ० हीरालाल जैन के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ था। उन्होंने ग्रन्थ को सब प्रकार से उपयोगी बनाने की चेष्टा की है। इसकी विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावना मुझे भूमिका लिखने में दीपतुल्य सिद्ध हुई है और इसका मैंने भरपूर उपयोग भी किया है। पूज्य १०८ आचार्य ज्ञान-सागर महाराज के सुदर्शनोदय काव्य की पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना मेरे लिए उपयोगी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त भट्टारक सम्प्रदाय, णमोकार मन्त्र : एक अनुचिन्तन, सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र शास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष एवं विविध कथा ग्रन्थों से मुझे सहायता प्राप्त हुई है। मैं इनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। मेरा यह सारा परिश्रम निष्फल रह जाता यदि उपाध्याय श्री भरतसागर जी महाराज, आर्यिका स्याद्वादमती माताजी एवं ब्रह्मचारिणी प्रभा पाटनी व पं० धर्मचन्दजी शास्त्री इसके प्रकाशन में प्रेरक और सहायक न होते। सब कार्यकलापों की

पृष्ठभूमि में सन्मार्ग दिवाकर आचार्य श्री १०८ विमलसागर जी महाराज सूर्य के समान देदीप्यमान हैं। उनके स्नेहाशीष से 'जिनवाणी प्रकाशन द्वारा अपूर्व धर्म-प्रभावना हो रही है। मेरा पूज्य साधुजनों के चरणों में बारंबार नमोऽस्तु।

ग्रन्थ के सुन्दर प्रकाशन हेतु महावीर प्रेस के मालिक श्री बाबूलाल जैन फागुल्ल को बधाई।

२८ नवम्बर १९९१ ई०

रमेशचन्द्र जैन

विषय-परिचय

अधिकार १–महावीर-समागम

वृषभादि चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना (१-१५), त्रिकालवर्ती अन्य जिनेन्द्रों से शक्ति की प्रार्थना (१६), सिद्धों की संस्तुति (१७), सरस्वती की संस्तुति (१८), जिनवाणी की स्तुति (१९), गौतम आदि गणधरों को नमस्कार (२०), कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, पात्रकेसरी, अकलंक, जिनसेन, रत्नकीर्ति, गुणभद्र, प्रभाचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति, आशाधर मुनियों का संस्मरण तथा ग्रन्थ रचना की प्रतिज्ञा (२१-३३), आत्मविनय व सुदर्शनचरित का माहात्म्य (३४-३६), जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, मगधदेश व राजगृह नगर (३७-५७), राजा श्रेणिक, रानी चेलना व वारिषेण आदि पुत्रों का वर्णन (५८-६८), विपुलाचल पर महावीर स्वामी का आगमन व उसका पर्वत तथा पशुओं पर प्रभाव (६९-७७), वनपाल का राजा श्रेणिक से संवाद व राजा का प्रजाजनों सहित चलकर समवशरण दर्शन (७८-८९), समवशरण में मानस्तम्भ, सरोवर, खातिका, पुष्पवाटिका, गोपुर, नाट्यशाला, उपवन, वेदिका सभा, रूप्यशाला, कल्पवृक्ष-वन, हर्म्यावली, महास्तूप, स्फटिकशाला तथा जिनेन्द्र के सभा-स्थान का त्रिमेखलापीठ दिव्य-चमर, अशोक वृक्ष आदि का वर्णन (९०-११७), श्रेणिक द्वारा जिनेन्द्र की पूजा व स्तुति (११८-१३१) ।

अधिकार २–श्रावकाचार तत्त्वोपदेश

जिनेन्द्र स्तुति (१), श्रेणिक नरेश का गौतम से धर्म विषयक प्रश्न (२), दर्शन-ज्ञान-चारित्र, अणुव्रत-महाव्रत सप्ततत्त्व एवं कर्मबन्ध और मोक्ष (३-८८) ।

अधिकार ३–सुदर्शन-जन्म-महोत्सव

राजा श्रेणिक का गौतम गणधर से पंचम अन्तकृत्केवली सुदर्शन मुनिके चरित्र वर्णन की प्रार्थना (१-४), गौतम स्वामी का उत्तर । अंग देश का वर्णन (५-२०), चम्पापुरी वर्णन (२१-४२), राजा धात्रीवाहन का वर्णन (४३-५१), रानी अभयमती का वर्णन (५२-५५), सेठ वृषभदास का वर्णन (५६-६२), सेठानी जिनवती का वर्णन (६३-६७), सेठानी का स्वप्न तथा पति से निवेदन (६८-७२), सेठ वृषभदास द्वारा रानी के स्वप्न सुनकर प्रसन्नता । जिनमन्दिर गमन । ज्ञानी गुरु से प्रश्न तथा मुनि द्वारा स्वप्नों का फल वर्णन (७३-८३), सेठानी की प्रसन्नता व गृहगमन (८४-८७), सेठानी का धर्मधारण व धर्मचर्या (८८-९२), पुत्र जन्म और उसका महोत्सव (९३-१०७) ।

अधिकार ४–सुदर्शन-मनोरमा-विवाह

बालक सुदर्शन का संवर्धन व सौन्दर्य (१-२६), सुदर्शन का विद्या-ग्रहण (२७-३५), उसी नगर के सेठ सागरदत्त और सेठानी सागरसेना की पुत्री मनोरमा और उसका रूप वर्णन (३६-५८), सुदर्शन का अपने मित्र कपिल के साथ नगर का पर्यटन व पूजा के निमित्त जाती हुई मनोरमा के दर्शन (५९-६४), सुदर्शन का अपने मित्र कपिल से उसके सम्बन्ध में प्रश्न, तथा कपिल द्वारा उसका परिचय (६५-७१), कुमार का मोहित होना। घर आकर शैया-ग्रहण। अन्नपान विस्मरण। मोहयुक्त प्रलाप (७२-७६), पिता की चिन्ता तथा कपिल से कुमार की दशा के कारण की जानकारी (७७-७९), पिता का सागरदत्त के घर जाना। वहाँ मनोरमा की भी काम-दशा (८०-८८), सेठ वृषभदास और सागरदत्त का वार्तालाप। विवाह का प्रस्ताव व स्वीकृति, ज्योतिषीका आगमन एवं विवाह-तिथि का निर्णय। पूजा-अर्चना तथा विवाहोत्सव (८९-११७)।

अधिकार ५–सुदर्शन को श्रेष्ठिपद-प्राप्ति

दम्पति के भोगोपभोग व मनोरमा का गर्भधारण व पुत्र-जन्म (१-५), वृषभदास सेठ का धर्माचरण। समाधिगुप्त मुनि का आगमन। वनपाल का भूपति से निवेदन तथा भूपति का वृषभादि नगरजनों सहित मुनि के दर्शन हेतु तपोवन गमन। मुनि-वन्दन एवं मुनि का धर्मोपदेश (६-२३)। मुनि और श्रावक के भेद से धर्माचरण का उपदेश (२४-६२), राजा तथा भव्यजनों द्वारा व्रतग्रहण एवं वृषभदास सेठ की वैराग्य-भावना (६३-७३)। सेठ की मुनि से दीक्षा देने की प्रार्थना तथा मुनिकी अनुमति। सेठ द्वारा राजा से सुदर्शन के पालन की प्रार्थना। राजा की स्वीकृति एवं सेठ का अपने बन्धु-बान्धवों से पूछकर दीक्षाग्रहण (७४-८६), सेठानी जिनमती द्वारा आर्यिका-व्रतग्रहण तथा दोनों की स्वर्ग-प्राप्ति (८७-९०), सुदर्शन का श्रेष्ठिपद पाकर सुखभोग और धर्माचरण (९१-१०१)।

अधिकार ६–कपिल का प्रलोभन तथा रानी अभयमती का व्यामोह

सुदर्शन का नगर-भ्रमण। कपिला द्वारा दर्शन व मोहोत्पत्ति (१-६), कपिल के बाहर जाने पर सखी को भेजकर कपिल के ज्वर-पीड़ित होने के बहाने सुदर्शन सेठ को अपने पास बुलवाना और उससे काम-क्रीड़ा की प्रार्थना करना (७-३२), सुदर्शन का चकित होना। एकनारी व्रत का स्मरण एवं नपुंसक होने का बहाना बनाकर छुटकारा पाना (३३-४७)। वसन्त ऋतु का आगमन। राजा का वन-क्रीडा हेतु नागरिकों सहित वनगमन (४८-५४), रानी का सुदर्शन के रूप पर मोहित होना तथा कपिला द्वारा उसे पुरुषत्वहीन बतलाना (५५-५८)। रानी

का मनोरमा को पुत्र सहित देखकर कपिला के वचनों का अविश्वास तथा सुदर्शन से रमण करने की प्रतिज्ञा (५९-६९), राजभवन आकर रानी का व्याकुल होना। पंडिता धात्री का उसे समझाना। रानी का हठ—आग्रह और पंडिता द्वारा विवश होकर उसकी अभिलाषा पूर्ण करने का वचन देना (७०-१०८)।

अधिकार ७—अभयाकृत उपसर्ग निवारण व शील-प्रभाव वर्णन

सुदर्शन सेठ का धर्म-पालन तथा अष्टमादि पर्व के दिनों में उपवास और रात्रिमें श्मशान में योग-साधन (१-३), यह जानकर पंडिता द्वारा कुम्भकार से सात पुरुषाकार पुतलियों का निर्माण तथा एक पुतली को लेकर राजमहल के प्रवेश-द्वार में द्वारपाल से झगड़ा तथा उस पर रानी के व्रत भंग होने का आरोप लगा कर उससे क्षमा-याचना कराना और इसी प्रकार एक-एक पुतली लेकर समस्त द्वारपालों को वशीभूत कर लेना (४-२०)। अष्टमी के दिन पण्डिता का श्मशान में जाकर सुदर्शन सेठ को लुभाने का प्रयत्न करना और उसके शील में अटल रहने पर उसे बलपूर्वक रानी के शयनागार में पहुँचाना (२१-६२)। अभयारानी द्वारा सुदर्शन को लुभाने का प्रयत्न किन्तु उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करने के कारण रानी का पश्चात्ताप। सेठ को यथास्थान वापस भेजने का विचार, किन्तु सूर्योदय समीप होने से पण्डिता की असमर्थता होने पर रानी द्वारा सेठ पर बलात्कार के दोषारोपण का प्रयत्न (६३-८७)। राजा द्वारा रानी की बात सुन-कर सेठ को राजद्रोही होने का अपराधी ठहराना व श्मशान में ले जाकर प्राण-घात का आदेश (८८-९१)। राजसेवकों का संशय किन्तु राजादेश की अनिवार्यता के कारण सेठ को श्मशान में ले जाना (९२-९८)। इस वार्ता से नगर में हाहा-कार व मनोरमा का श्मशान में जाकर विलाप (९९-११४)। सुदर्शन का ध्यान में रहते हुए संसार की अनित्यादि भावनाएँ (११५-१२०)। सेठ पर खड्ग प्रहार किये जाने के समय यक्षदेव के आसन का कम्पन। प्रहारों का स्तम्भ तथा सेठ पर पुष्पवृष्टि एवं नगरजनों का हर्ष (१२१-१२६)। राजा द्वारा अन्य सेवकों का प्रेषण व उनके भी यक्ष द्वारा कीलित किये जाने पर सैन्य सहित स्वयं आगमन (१२७-१२९)। राज-सेना व यक्षदेव द्वारा निर्मित मायामयी सैन्य के बीच घोर संग्राम (१३०-१३३)। राजा का पराजित होकर पलायन व यक्ष द्वारा उसका पीछा करना (१३४-१३७)। राजा का सुदर्शन की शरण में आना और सेठ द्वारा उसकी रक्षा करना (१३८-१४२)। यक्ष की सेना द्वारा सुदर्शन की पूजा कर यथास्थान गमन। शील प्रभाव वर्णन (१४२-१४५)।

अधिकार ८—सुदर्शन व मनोरमा का पूर्वभव वर्णन

अभया रानी ने सेठ सुदर्शन के पुण्य प्रभाव सुनकर भयभीत हो फाँसी लगा-

कर आत्मघात कर लिया और मरकर पाटलिपुत्र में व्यन्तरी देवी के रूप में उत्पन्न। पण्डिता चम्पापुरी से भागकर पाटलिपुत्र में देवदत्त नामक वेश्या के पास पहुँची और उसे अपना सब वृत्तान्त सुनाया। देवदत्त ने अपनी चातुरी से सुदर्शन को अपने वश में करने की प्रतिज्ञा की (१-१०), उधर राजा धात्रीवाहन ने सच्ची बात जानकर पश्चात्ताप किया, सुदर्शन सेठ से क्षमा याचना की तथा आधा राज्य स्वीकार करने की प्रार्थना की (११-१७)। सुदर्शन ने राजा को सम्बोधन किया। अपने दुःख को अपने ही कर्मों का फल बतलाया तथा मुनि दीक्षा लेने का अपना निश्चय प्रकट किया (१८-२३), सुदर्शन जिन मन्दिर में गया। जिनेन्द्र की पूजा व स्तुति की तथा विमलवाहन मुनि से अपने पूर्वभव सुनने की इच्छा प्रकट की (२४-४०)। मुनि ने उसके पूर्व भव का इस प्रकार वर्णन किया—भरत क्षेत्र के विन्ध्यप्रदेश में कौशलपुर। वहाँ राजा भूपाल व रानी वसुन्धरा। उनका पुत्र लोकपाल शूरवीर और बुद्धिमान् (४१-४४)। एक बार राजा के सिंहासन पर रक्ष-रक्षको की पुकार। मन्त्री ने जानकारी दी कि वहाँ से दक्षिण दिशा में विन्ध्यगिरि पर व्याघ्र भील तथा कुरंगी भीलनी का निवास। व्याघ्र की क्रूरता व प्रजा पीड़न। इस कारण प्रजा की पुकार (४५-४९)। राजा का उस भील को पराजित करने हेतु सेनापति को आदेश। भील राज्य द्वारा सेनापति की पराजय। राजपुत्र लोकपाल द्वारा व्याघ्र भील का हनन। व्याघ्र का कूकर योनि में जन्म और फिर कुछ पुण्य के प्रभाव से चम्पा में नर जन्म और फिर मरकर उसी नगर में सुभग गोपाल के रूप में जन्म व वृषभदास सेठ का ग्वाल होना (५०-६२), सुभग गोपाल का वन में मुनिदर्शन (६३-६७)। मुनि के आचार व गुणों का विस्तार से वर्णन (६८-८७)। कठोर शीत से अप्रभावित ध्यानमग्न मुनि को देखकर गोप के हृदय में आदर भावना का उदय। अग्नि जलाकर मुनि की शीतबाधा को दूर करने का प्रयत्न व रात्रिभर गुरु-भक्ति में तल्लीनता (८८-९४)। प्रातःकाल सब कार्यों का साधन सप्ताक्षर महा-मन्त्र गोप को देकर मुनिराज का आकाश मार्ग से विहार (९४-१०१)। गोपाल का सदाकाल उस मन्त्र का उच्चारण व सेठ द्वारा पूछे जाने पर वृत्तान्त कथन। सेठ द्वारा उसकी धर्म बुद्धि की प्रशंसा व उसके प्रति अधिक वात्सल्य भाव से व्यवहार (१०१-१११)। एक बार गोप का वन में गाय-भैंसों को चराना। भैंसों का नदी पार चले जाना, उनके लौटाने हेतु गोपाल का नदी में प्रवेश व एक ठूंठ से टकराकर पेट फटने से मृत्यु। मन्त्र के स्मरण सहित निदान करने से उसका सुदर्शन के रूप में सेठ वृषभदास के यहाँ जन्म। मन्त्र का प्रभाव वर्णन (११२-१२५), कुरंगी नामक भीलनी का बनारस में भैंस के रूप में जन्म फिर धोबी की पुत्री के रूप में और वहाँ किंचित् पुण्य के प्रभाव से मरकर मनोरमा के रूप में जन्म। धर्म का माहात्म्य (१२५-१३२)।

अधिकार ९–द्वादश अनुप्रेक्षा वर्णन

मुनिराज से अपना पूर्वभव सुनकर व संसार की क्षणभंगुरता का विचार करते हुए अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधि और धर्म इन बारह भावनाओं के स्वरूप का विचार (१-९१)।

अधिकार १०–सुदर्शन का दीक्षाग्रहण और तप

सुदर्शन का अपने पुत्र सुकान्त को अपने पदपर प्रतिष्ठित कर मुनिदीक्षा ग्रहण करना (१-७)। सुदर्शन के चरित्र से प्रभावित हो राजा धात्रीवाहन का भी अपने पुत्र को राज्य दे मुनि होना। रानियों का भी तप स्वीकार करना तथा अन्य भव्यजनों द्वारा श्रावक के व्रत अथवा सम्यक्त्व ग्रहण करना (८-१९)। सुदर्शन द्वारा मुनिचर्या का पालन एवं नागरिकों द्वारा सुदर्शन, मनोरमा एवं राजा के चरित्र की प्रशंसा। आहारदान व भक्ति (२०-४५)। सुदर्शन का ज्ञानार्जन, गुरुभक्ति एवं मुनिव्रतोंका परिपालन (४६-४९)। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह त्याग इन पाँच व्रतों का उनकी पच्चीस भावनाओं का पाँच प्रवचन, माताओं का पंचेन्द्रिय संयम पंचलोंच, परिग्रह-जय तथा वन्दना सामायिक आदि गुणों का परिपालन (५०-१४८)।

अधिकार ११–केवलज्ञानोत्पत्ति

धर्मोपदेश करते हुए सुदर्शन मुनि का ऊर्जयन्तादि सिद्धक्षेत्रों की वन्दना कर पाटलिपुत्र नगर में आहार निमित्त प्रवेश (१–६)। पण्डिता धात्री के संकेत पर देवदत्ता गणिका द्वारा श्राविका का वेश धारण कर मुनिराज का आमन्त्रण तथा अपने यौवन और वैभव द्वारा उनका प्रलोभन (७-१६)। मुनि द्वारा संसार के स्वरूप शरीर की अपवित्रता और क्षणभंगुरता भोगों की भयंकरता व वैभव की चंचलता आदि का उपदेश देकर स्त्री स्वभाव का चिन्तन करते हुए ध्यान में तल्लीनता (१७-३०)। देवदत्ता ने मुनि को अपने यौवनादि द्वारा प्रलोभित करने की तीन दिन तक चेष्टा की और अन्ततः निराश होकर मुनिराज को श्मशान में लाकर छोड़ दिया (३१-३७)। जो अभया रानी आर्तध्यान से मरकर व्यन्तरी हुई थी उसका विमान आकाश मार्ग में स्खलित होने से उसने मुनि को देखा और उन्हें पहिचान कर बदले की भावना से घोर उपसर्ग करना प्रारम्भ किया। यक्ष ने आकर मुनि की रक्षा की। व्यन्तरी ने यक्ष से सात दिन तक युद्ध किया और अन्ततः परास्त होकर भाग गयी (३८-४३), मुनि का निश्चल ध्यान। नाना गुणस्थानों द्वारा कर्मप्रकृतियों का क्षय (४४-५७)। सुदर्शन मुनि द्वारा क्रम से कर्म क्षय कर केवलज्ञान तथा वर्धमान तीर्थंकर के तीर्थ में अन्तकृत्केवली पद

की प्राप्ति (५८-६०) । इन्द्रासन का कम्पायमान होना । देवों का आगमन, गन्ध-कुटी निर्माण, स्तुति तथा धर्मोपदेश की प्रार्थना (६१-७६) । केवली द्वारा मुनि व श्रावक, आचार्य का तथा तत्त्वों, द्रव्यों व पदार्थ का उपदेश (७७-८३) व्यन्तरी का कोप शमन और सम्यक्त्व ग्रहण (८४-८५) । सेठ सुकान्त व मनोरमा का आगमन व मनोरमा का आर्यिका व्रत धारण । पंडिता की आत्मनिन्दा व व्रतग्रहण । केवलज्ञान की महिमा (८६-९६) ।

अधिकार १२—सुदर्शन मुनि की मोक्षप्राप्ति

सुदर्शन केवली का मोक्ष विहार व धर्मोपदेश व आयु के अन्त में छत्र चमरादि विभूति का त्याग कर मौन ध्यान अयोगकेवली गुणस्थान की प्राप्ति । अघाति कर्मों का क्रमशः क्षय तथा सिद्ध शुद्ध व निराबाध होकर शरीर का त्याग मोक्ष गमन (१-१७) । सिद्धों के गुण तथा पंचनमस्कार मंत्र का माहात्म्य (१८-३७) । सुदर्शन चरित्र को पढ़ने-पढ़ाने तथा लिखने एवं सुनने वालों को सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति (३८-३९) ।

गौतम स्वामी से यह चरित्र सुनकर राजा श्रेणिक व अन्य नगरवासियों का राजगृह लौटना (४०-४१) । गंधारपुरी के जैन मंदिर में इस सुदर्शन चरित्र के रचे जाने की सूचना (४२) । सुदर्शन चरित्र तथा पंचपरमेष्ठीकी महिमा (४३-४६) । मूलसंघ भारतीय-गच्छ बलात्कार गण के मुनि कुन्दकुन्द के वंशमें प्रभाचन्द्र मुनि उनके पट्ट पर मुनि-पद्मनन्दि भट्टारक उनके पट्ट पर देवेन्द्रकीर्ति मुनि उनके शिष्य विद्यानन्दि द्वारा यह चरित्र रचे जाने की सूचना (४७-४९) । देवेन्द्रकीर्ति के पट्ट पर मल्लिभूषण गुरु तथा श्रुतसागर-सूरि सिंहनन्दि गुरु का स्मरण और उसमें मंगल प्रार्थना (५०) । गुरु के उपदेश से नेमिदत्तव्रती द्वारा इस चरित्र की भावना की सूचना एवं ग्रन्थ समाप्ति (५१) ।

विद्यानन्दि-विरचितं

सुदर्शन-चरितम्

प्रथमोऽधिकारः

प्रणम्य वृषभं देवं लोकालोकप्रकाशकम् ।
अजितं जितशत्रुघ्नं जितशत्रुसमुद्भवम् ॥ १ ॥

संभवं भवनाशं च स्तुवेऽहमभिनन्दनम् ।
सर्वज्ञं सर्वदर्शं च सप्ततत्त्वोपदेशकम् ॥ २ ॥

वन्दे सुमतिदातारं चिदानन्दं गुणार्णवम् ।
पद्मप्रभं च तद्वर्णं प्रातिहार्यादिभूषितम् ॥ ३ ॥

सुपार्श्वं च सदानन्दं धर्मतीर्थं जगद्गुरुम् ।
धर्मभूषणसंयुक्त स्तुवेऽहं जिनसत्तमम् ॥ ४ ॥

महासेनसमुद्भूतं चन्द्रचिह्नं जिनं वरम् ।
चन्द्रप्रभं पुष्पदन्तं च श्वेतवर्णं स्तुवे सदा ॥ ५ ॥

शीतलं शीतलं वन्दे व्याधित्रयविनाशकम् ।
पञ्चसंसारदावाग्निशमनैकघनाघनम् ॥ ६ ॥

पावनं श्रेयसं वन्दे श्रेयोनिधिं सदा शुचिम् ।
वासुपूज्यं जगत्पूज्यं वसुपूज्यसमुद्भवम् ॥ ७ ॥

विमलं विमलं वन्दे देवेन्द्रार्चितपङ्कजम् ।
अकलङ्कं पूज्यपादं स्तुवे प्रारब्ध सिद्धये ॥ ८ ॥

अनन्तं च जिनं वन्दे संसारार्णवतारकम् ।
धर्मं धर्मस्वरूपं हि भानुराजसमुद्भवम् ॥ ९ ॥

विद्यानन्दि-विरचितं

सुदर्शन-चरितम्

प्रथमोऽधिकारः

लोकालोक के प्रकाशक वृषभदेव को प्रणाम कर जितशत्रु से उत्पन्न शत्रुओं को जीतने वाले लोगों पर भी विजय प्राप्त करने वाले अजित को (प्रणाम कर) ॥ १ ॥

और भव का नाश करने वाले सम्भव (नाथ) को प्रणाम कर मैं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और सात तत्त्वों के उपदेशक अभिनन्दन की स्तुति करता हूँ ॥ २ ॥

सुमति को देने वाले, चिदानन्द और गुणों के सागर सुमति (नाथ) की वन्दना करता हूँ और कमल के समान लाल वर्ण वाले प्रातिहार्यादि से भूषित पद्मप्रभ की वन्दना करता हूँ ॥ ३ ॥

सदा आनन्द स्वरूप, धर्म में समर्थ, संसार के गुरु, धर्मरूपी भूषण से संयुक्त सप्तम जिन सुपार्श्व की मैं स्तुति करता हूँ ॥ ४ ॥

महासेन से उत्पन्न, चन्द्र चिह्न वाले श्रेष्ठ जिन चन्द्रप्रभ की और श्वेतवर्ण पुष्पदन्त की मैं सदा स्तुति करता हूँ ॥ ५ ॥

जन्म, जरा, मरण रूप तीनों व्याधियों के विनाशक, पञ्चपरिवर्तनाय संसार रूपी दावाग्नि का शमन करने के लिए एकमात्र घने मेघस्वरूप, शीतल (नाथ) की वन्दना करता हूँ ॥ ६ ॥

कल्याण के निधि, सदा पवित्र, पावन श्रेयांस (नाथ) की वन्दना करता हूँ। वसुपूज्य से उत्पन्न जगत्पूज्य वासुपूज्य की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ७ ॥

देवेन्द्र के द्वारा जिनके चरणकमलों की वन्दना की गई है ऐसे निष्कलङ्क, पूज्यपाद विमल (नाथ) की वन्दना प्रारब्ध की सिद्धि के लिए करता हूँ अथवा प्रारब्ध की सिद्धि के लिए अकलंक और पूज्यपाद की स्तुति करता हूँ अथवा प्रारब्ध की सिद्धि के लिए पूज्यचरण अकलंक की वन्दना करता हूँ अथवा प्रारब्ध की सिद्धि के लिए निष्कलंक पूज्यपाद की वन्दना करता हूँ ॥ ८ ॥

संसार रूपी समुद्र से तारने वाले अनन्त (नाथ) जिन की वन्दना करता हूँ। भानुराज से उत्पन्न धर्मस्वरूप धर्म (नाथ) जिनकी भी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ९ ॥

शान्तिनाथं जगद्वन्द्यं जगच्छान्तिविधायकम् ।
चक्राङ्कं मृगचिह्नं च विश्वसेनसमुद्भवम् ॥ १० ॥

कुन्थुनाथमहं वन्दे धर्मचक्रान्वितं सदा ।
कुन्थ्वादिजीवसदयं हृदये करुणान्वितम् ॥ ११ ॥

अरनाथमहं वन्दे रत्नत्रयसमन्वितम् ।
रत्नत्रयप्रदातारं सेवकानां सदाहितम् ॥ १२ ॥

मल्लिं कर्मजये मल्लं स्तुवेऽहं मुनिसुव्रतम् ।
नमीशं श्रीजिनं नौमि भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥ १३ ॥

नेमिनाथं नमाम्युच्चैः केवलज्ञानलोचनम् ।
वन्दे श्रीपार्श्वनाथं च प्रसिद्धमहिमास्पदम् ॥ १४ ॥

संस्तुवे सन्मतिं वीरं महावीरं सुखप्रदम् ।
वर्धमानं महत्यादि महावीराभिधानकम् ॥ १५ ॥

एते श्रीमज्जिनाधीशाः केवलज्ञानसंपदः ।
अन्यकालत्रयोत्पन्नाः सन्तु मे सर्वशान्तये ॥ १६ ॥

संस्तुवेऽहं सदा सिद्धान् त्रिलोकशिखरस्थितान् ।
येषां स्मरणमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते ॥ १७ ॥

जिनेन्द्रवदनाम्भोजसमुत्पन्नां सरस्वतीम् ।
संस्तुवे त्रिजगन्मान्यां सन्मातेव सुखप्रदाम् ॥ १८ ॥

यस्याः प्रसादतो नित्यं सतां बुद्धिः प्रसर्पति ।
प्रभाते पद्मिनीवोच्चैः तां स्तुवे जिनभारतीम् ॥ १९ ॥

नमामि गुणरत्नानामाकरान् श्रुतसागरान् ।
गौतमादिगणाधीशान् संसाराम्भोधितारकान् ॥ २० ॥

कवित्वनलिनीग्रामप्रबोधनदिवामणिम् ।
कुन्दकुन्दाभिधं नौमि मुनीन्द्रं महिमास्पदम् ॥ २१ ॥

जिनोक्तसप्ततत्त्वार्थसूत्रकर्त्ता कवीश्वरः ।
उमास्वामिमुनिर्नित्यं कुर्यान्मे ज्ञानसंपदाम् ॥ २२ ॥

संसार की शान्ति करने वाले, विश्वसेन से उत्पन्न चक्रधारी मृगचिह्न शान्तिनाथ संसार के द्वारा वन्दनीय हैं ।। १० ।।

कुन्थु आदि जीवों के प्रति दयाभाव से युक्त, हृदय में करुणा से युक्त, धर्मचक्र से युक्त कुन्थुनाथ की (मैं) सदा वन्दना करता हूँ ।। ११ ।।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रय से युक्त, सेवकों के सदा हितैषी, रत्नत्रय के दाता अरनाथ को मैं वन्दना करता हूँ ।। १२ ।।

कर्म के जीतने में मल्ल मल्लि को तथा मुनिसुव्रत की मैं स्तुति करता हूँ। भुक्ति और मुक्ति के दायक श्रीजिन नमीश (नमिनाथ) को मैं नमस्कार करता हूँ ।। १३ ।।

केवलज्ञानरूपी नेत्र वाले नेमिनाथ को मैं अत्यधिक रूप से नमस्कार करता हूँ। अचिन्त्य महिमा के आगार श्री पार्श्वनाथ की मैं वन्दना करता हूँ ।। १४ ।।

वीर, महावीर, वर्द्धमान महति, महावीर आदि नाम वाले सन्मति की स्तुति करता हूँ ।। १५ ।।

शोभा से युक्त अथवा केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी से युक्त, केवलज्ञान-रूप सम्पत्ति वाले तीनों कालों में उत्पन्न ये जिनाधीश मेरी सब शान्ति के लिए होवें ।। १६ ।।

जिनके स्मरण मात्र से समस्त सिद्धि उत्पन्न हो जाती है, ऐसे तीनों लोकों के शिखर पर स्थित सिद्धों की मैं सदा स्तुति करता हूँ ।। १७ ।।

तीनों लोकों के द्वारा मान्य, सन्माता के समान सुखप्रद जिनेन्द्र भगवान् के मुख कमल से उत्पन्न सरस्वती की स्तुति करता हूँ ।। १८ ।।

प्रातःकाल में कमलिनी के समान जिसके प्रसाद से सज्जनों की बुद्धि नित्य विस्तृत होती है, उस जिनवाणी की स्तुति करता हूँ ।। १९ ।।

गुणरूपी रत्नों की खान, श्रुत के सागर, संसार रूपी समुद्र के तारक गौतमादि गणधरों को नमस्कार करता हूँ ।। २० ।।

कवित्वरूपी कमलिनी के समूह को जाग्रत करने के लिए सूर्य के समान, महिमा के निवास स्थान कुन्दकुन्द नामक मुनीन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ।। २१ ।।

जिन भगवान् के द्वारा कथित सात तत्त्वों के अर्थ के कर्ता अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता कवीश्वर उमास्वामी मुझे नित्य ज्ञानरूपी सम्पत्ति प्रदान करें ।। २२ ।।

स्वामी समन्तभद्राख्यो मिथ्यातिमिरभास्करः ।
भव्यपद्मौघशंकर्ता जीयान्मे भावितीर्थकृत् ॥ २३ ॥

विप्रवंशाग्रणीः सूरिः पवित्रः पात्रकेसरी ।
संजीयाज्जिनपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ॥ २४ ॥

यस्य वाक्किरणैर्नष्टा बौद्धाद्याः कौशिका यथा ।
भास्करस्योदये स स्यादकलङ्कः श्रिये कविः ॥ २५ ॥

श्रीजिनेन्द्रमताम्भोधिवर्धनैकविधूत्तमम् ।
जिनसेनं जगद्वन्द्यं संस्तुवे मुनिनायकम् ॥ २६ ॥

मूलसंघाग्रणीर्नित्यं रत्नकीर्तिगुरुर्महान् ।
रत्नत्रयपवित्रात्मा पायान्मां चरणाश्रितम् ॥ २७ ॥

कुवादिमदमातङ्गविमर्दीकरणे हरिः ।
गुणभद्रो गुरुर्जीयात् कवित्वकरणे प्रभुः ॥ २८ ॥

भट्टारको जगत्पूज्यः प्रभाचन्द्रो गुणाकरः ।
वन्द्यते स मया नित्यं भव्यराजीवभास्करः ॥ २९ ॥

जीवाजीवादितत्त्वानां समुद्योतदिवाकरम् ।
वन्दे देवेन्द्रकीर्तिं च सूरिवर्यं दयानिधिम् ॥ ३० ॥

मद्गुरुर्यो विशेषेण दीक्षालक्ष्मीप्रसादकृत् ।
तमहं भक्तितो वन्दे विद्यानन्दी सुसेवकः ॥ ३१ ॥

सूरिराशाधरो जीयात् सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ।
श्रीजिनेन्द्रोक्तसद्धर्मपद्माकरदिवामणिः ॥ ३२ ॥

इत्याप्तभारतीसाधुसंस्तुतिं शर्मदायिनीम् ।
मङ्गलाय विधायोच्चैः सच्चरित्रं सतां ब्रुवे ॥ ३३ ॥

तुच्छमेधोऽपि संक्षेपात् सुदर्शनमहामुनेः ।
वृत्तं विधाय पूतोऽस्मि सुधास्पर्शोऽपिशर्मणे ॥ ३४ ॥

मत्वेति मानसे भक्त्या तच्चरित्रं सुखावहम् ।
वक्ष्येऽहं भव्यजीवानां भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥ ३५ ॥

मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के लिए सूर्य, भव्य कमलों के समूह को सुख प्रदान करने वाले स्वामी समन्तभद्र नाम के मेरे भावी तीर्थंकर जयशील हों ।। २३ ।।

विप्रवंश के अग्रणी, सूरि, पवित्र पात्रकेशरी, जो कि जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों के सेवन के एकमात्र भ्रमर हैं, वे जयशील हों ।। २४ ।।

सूर्य के उदय होने पर जिस प्रकार उल्लू भाग जाते हैं, उसी प्रकार जिसकी वाणी-रूपी किरणों से बौद्धादि भाग गए, वह अकलङ्क कवि कल्याण के लिए हों ।। २५ ।।

श्री जिनेन्द्र भगवान् के मन रूपी समुद्र की वृद्धि के लिए जो एक मात्र उत्तम चन्द्रमा हैं, उन संसार के द्वारा वन्दना करने योग्य मुनि नायक जिनसेन की स्तुति करता हूँ ।। २६ ।।

रत्नत्रय से जिनकी पवित्र आत्मा है, जो सम्यक् चारित्र का आश्रय लेते हैं तथा मूल संघ के अग्रणी हैं, वे महान् रत्नकीर्ति गुरु नित्य मेरी रक्षा करें ।। २७ ।।

जो कविता करने में समर्थ हैं, कुवादी रूपी मतवाले हाथियों को निर्मद करने में सिंह के समान हैं, ऐसे गुणभद्र गुरु जयशील हों ।। २८ ।।

जो भव्य कमलों के लिए सूर्य के समान हैं, ऐसे गुणों की खान जगत्पूज्य भट्टारक प्रभाचन्द्र मेरे द्वारा नित्य वन्दित किए जाते हैं ।। २९ ।।

जीवाजीवादि तत्वों का उद्योत करने के लिए जो सूर्य के समान हैं, ऐसे दयानिधि सूरिश्रेष्ठ देवेन्द्रकीर्ति की मैं वन्दना करता हूं ।। ३० ।।

जो विशेष रूप से मेरे गुरु थे, दीक्षा रूपी लक्ष्मी की कृपा जिन्होंने मेरे ऊपर की थी, उन गुरु देवेन्द्र की मैं सुसेवक विद्यानन्दी भक्तिपूर्वक वन्दना करता हूँ ।। ३१ ।।

श्री जिनेन्द्रोक्त सद्धर्म रूपी कमलों की खान के लिए जो सूर्य के समान हैं, ऐसे सम्यग्दृष्टि शिरोमणि आशाधर सूरि जयशील हों ।। ३२ ।।

इस प्रकार मंगल के लिए सुख प्रदान करने वाली आप्त वाणी की भले प्रकार स्तुति कर सज्जनों के सच्चरित्र को कहता हूँ ।। ३३ ।।

तुच्छ मेधा वाली होने पर भी संक्षेप से सुदर्शन महामुनि के चरित्र की रचना कर मैं पवित्र हुआ हूँ; क्योंकि अमृत का स्पर्श भी सुख के लिए होता है ।। ३४ ।।

इस प्रकार मन में मान करके भक्तिपूर्वक, सुख को लाने वाले उस चरित्र को मैं कहता हूँ, जो कि भव्य जीवों को भोग और मुक्ति दिलाने वाला है ।। ३५ ।।

श्रुतेन येन संपत्तिर्भवेल्लोकद्वये शुभा ।
शृण्वन्तु साधवो भव्यास्तद्वृत्तं शर्मकारणम् ॥ ३६ ॥
अथ जम्बूमति द्वीपे सर्वद्वीपाब्धिमध्यगे ।
मेरुः सुदर्शनो नाम लक्षयोजनमानभाक् ॥ ३७ ॥
यच्चतुर्षु वनेषूच्चैश्चतुर्दिक्षु समुन्नताः ।
जिनेन्द्रप्रतिमोपेताः प्रासादाः सन्ति शर्मदाः ॥ ३८ ॥
तस्य दक्षिणतो भाति भरतक्षेत्रमुत्तमम् ।
जिनानां पञ्चकल्याणैः पवित्रं शर्मदायकैः ॥ ३९ ॥
तत्रास्ति मगधो नाम देशो भुवनविश्रुतः ।
यत्र स्वपूर्वपुण्येन संवसन्ति जनाः सुखम् ॥ ४० ॥
योऽनेकनगरग्रामपुरपत्तनकादिभिः ।
नानाकारैर्विभात्युच्चैः सुराजेव सुखप्रदः ॥ ४१ ॥
धनैर्धान्यैः जनैर्मान्यैः संपदाभिश्च संभृतः ।
राजते देशराजोऽसौ निधिर्वा चक्रवर्तिनः ॥ ४२ ॥
यत्र नित्यं विराजन्ते पद्माकरजलाशयाः ।
स्वच्छतोयाः सुविस्तीर्णा महतां मानसोपमाः ॥ ४३ ॥
इक्षुभेदै रसैरन्यैः सरसैः सत्कलादिभिः ।
यो नित्यं दर्शयत्युच्चैः सौरस्यं निजसंभवम् ॥ ४४ ॥
यत्र मार्गे वनादौ च सफलास्तुङ्गपादपाः ।
सुछायाः सज्जना वोच्चैर्भान्ति सर्वप्रतर्पिणः ॥ ४५ ॥
यत्र देशे पुरे ग्रामे पत्तनेसुगिरौ वने ।
जिनेन्द्रभवनान्युच्चैः शोभन्ते सद्ध्वजादिभिः ॥ ४६ ॥
भव्या यत्र जिनेन्द्राणां नित्यं यात्राभिरादरम् ।
प्रतिष्ठाभिर्गरिष्ठाभिः संचयन्ति महाशुभम् ॥ ४७ ॥
पात्रदानैर्महामानैः सज्जनैः परिवारिताः ।
धर्मं कुर्वन्ति जैनेन्द्रं श्रावका दृग्व्रतान्विताः ॥ ४८ ॥
यत्र नार्योऽपि रूपाढ्याः सम्यक्त्वव्रतमण्डिताः ।
पण्डिता धर्मकार्येषु पुत्रसंपद्विराजिताः ॥ ४९ ॥

जिसके सुनने से सम्पत्ति दोनों लोकों में शुभ होती है, हे भव्य सज्जनों ! सुख के कारण उन सुदर्शन मुनि के चरित्र को सुनो ॥ ३६ ॥

समस्त द्वीप समुद्रों के मध्य में स्थित जम्बूद्वीप में एक लाख योजन प्रमाण वाला सुदर्शन मेरु है ॥ ३७ ॥

जिसके चारों वनों में, चारों दिशाओं में अत्यधिक समुन्नत जिनेन्द्र प्रतिमाओं से युक्त, सुख देने वाले भवन हैं ॥ ३८ ॥

उसके दक्षिण की ओर सुखदायक, जिनेन्द्र भगवान् के पंचकल्याणकों से पवित्र उत्तम भरत क्षेत्र है ॥ ३९ ॥

वहाँ पर भुवन में विख्यात मगध नामक देश है, जहाँ पर अपने पूर्व पुण्य से लोग सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ४० ॥

अत्यधिक सुख को प्रदान करने वाला जो नाना आकार वाले अनेक नगर, ग्राम, पुर और पत्तन आदि से सुराजा के समान सुशोभित होता है ॥ ४१ ॥

धन-धान्य, मान्य जन और सम्पदादि से भरा हुआ जो देशराज सुशोभित है, अथवा जो चक्रवर्ती की निधि है ॥ ४२ ॥

जहाँ पर स्वच्छ जल वाले, सुविस्तीर्ण, बहुत बड़े मानसरोवर से उपमा देने योग्य अथवा बड़े लोगों के मनके समान नित्य कमलों की खान जलाशय हैं ॥ ४३ ॥

अनेक प्रकार के इक्षुओं से, अन्य रसों से, सरस अच्छे फल आदि से जो अपने से उत्पन्न सुरसपने को अत्यधिक दिखलाता है ॥ ४४ ॥

जहाँ पर मार्ग में सफल, अच्छी कान्ति वाले सबको प्रकृष्ट रूप से संतृप्त करने वाले सज्जन अत्यधिक रूप से सुशोभित होते हैं अथवा वनादि में अच्छी छाया वाले, सबको तृप्त करने वाले सफल ऊँचे-ऊँचे वृक्ष अत्यधिक सुशोभित होते हैं ॥ ४५ ॥

जहाँ पर देश, पुर, ग्राम, पत्तन, उत्तम पर्वत और वन में उत्तम ध्वजादि से जिनेन्द्र भवन अत्यधिक शोभित होते हैं ॥ ४६ ॥

जहाँ पर आदरपूर्वक नित्य जिनेन्द्रों की यात्राओं से, बड़ी-बड़ी प्रतिष्ठाओं से भव्य महान् शुभ पुण्य का संचय करते हैं ॥ ४७ ॥

जहाँ पर दर्शन और व्रतादि से युक्त श्रावक महामान पात्रदानों से तथा सज्जनों से घिरे होकर जैनेन्द्र धर्म करते हैं ॥ ४८ ॥

जहाँ पर नारियाँ भी रूप से युक्त, सम्यक्त्व रूपी व्रत से मण्डित, धर्म कार्यों में पण्डित तथा पुत्र रूपी सम्पदा से सुशोभित हैं ॥ ४९ ॥

सद्वस्त्राभरणैः पुण्यैर्दानपूजादिभिर्गुणैः ।
नित्यं परोपकाराद्यैर्जयन्ति स्म सुराङ्गनाः ॥ ५० ॥

पुण्येन यत्र भव्यानां नेतयोऽपि कदाचन ।
भास्करस्योदये सत्यं न तिष्ठति तमश्चयः ॥ ५१ ॥

वनादौ मुनयो यत्र रत्नत्रयविराजिताः ।
तत्त्वज्ञानैस्तपोध्यानैर्यान्ति स्वर्गापवर्गकम् ॥ ५२ ॥

इत्यादि संपदासारे तस्मिन् देशे मनोहरे ।
पुरं राजगृहं नाम पुरन्दरपुरोपमम् ॥ ५३ ॥

नानाहर्म्यावलीयुक्तं शालत्रयविराजितम् ।
रत्नादितोरणोपेतं गोपुरद्वारसंयुतम् ॥ ५४ ॥

स्वच्छतोयभृता खाता समन्ताद्यस्य शोभते ।
पवित्रा स्वर्गगङ्गेव पद्मराजिविराजिता ॥ ५५ ॥

यत्पुरं जिनदेवादिप्रासादध्वजपङ्क्तिभिः ।
आह्वयत्यत्र वा स्वस्य शोभातुष्टान्नरामरान् ॥ ५६ ॥

नानारत्नसुवर्णाद्यैर्मणिमाणिक्यवस्तुभिः ।
संभृतं संनिधानं वा सज्जनानन्ददायकम् ॥ ५७ ॥

तत्राभूच्छ्रेणिको राजा क्षत्रियाणां शिरोमणिः ।
राजविद्याभिसंयुक्तः प्रजानां पालने हितः ॥ ५८ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ।
सम्यक्त्वरत्नपूतात्मा भावितीर्थकराग्रणीः ॥ ५९ ॥

अनेकभूपसंसेव्यो महामण्डलकेश्वरः ।
दाता भोक्ता विचारज्ञः स राजा चादिचक्रभृत् ॥ ६० ॥

सप्ताङ्गराज्यसंपन्नः शक्तित्रयविराजितः ।
षड्वर्गारिविजेताऽभून्मन्त्रपञ्चाङ्गचञ्चुधीः ॥ ६१ ॥

तस्य राज्ये द्विजिह्वत्वं सर्पे नैव प्रजाजने ।
कृशत्वं स्त्रीकटीदेशे निर्धनत्वं तपोधने ॥ ६२ ॥

जहाँ देवाङ्गनायें उत्तम वस्त्र और आभरणों से, दान, पूजा आदि गुणों से और नित्य परोपकारादि से जयशील होती हैं ॥ ५० ॥

जहाँ पर भव्यों के पुण्य से कभी भी ईतियाँ नहीं होती हैं। सूर्य का उदय होने पर सत्य रूप में अन्धकार का समूह नहीं ठहरता है ॥ ५१ ॥

जहाँ पर रत्नत्रय से सुशोभित मुनिगण वनादि में तत्त्वज्ञानों से, तप और ध्यानों से स्वर्ग और मोक्ष को जाते हैं ॥ ५२ ॥

इत्यादि सम्पदाओं के सार रूप उस मनोहर देश में इन्द्रनगरी के तुल्य राजगृह नामक नगर है ॥ ५३ ॥

वह अनेक प्रकार के भवनों से युक्त, तीन शालों से सुशोभित, रत्नादि निर्मित तोरण से युक्त तथा गोपुर द्वार से युक्त है ॥ ५४ ॥

जिसके चारों ओर स्वच्छ जल से भरी हुई खाइयाँ पद्मों के समूह से सुशोभित पवित्र स्वर्ग गङ्गा के समान सुशोभित हैं ॥ ५५ ॥

अथवा जो पुर जिनदेवादि प्रासाद की ध्वज पंक्तियों से अपनी शोभा से सन्तुष्ट हुए मनुष्य और देवों को जहाँ पर बुलाता है ॥ ५६ ॥

अथवा जहाँ नाना रत्न, सुवर्ण आदि मणि और माणिक्य आदि वस्तुओं से भरी हुई सज्जनों को आनन्द देने वाली वस्तुयें रखी जाती हैं ॥ ५७ ॥

वहाँ पर क्षत्रियों का शिरोमणि, राजविद्याओं से संयुक्त, प्रजा के रक्षण में लगा हुआ श्रेणिक राजा था ॥ ५८ ॥

शोभा से युक्त अथवा अन्तरङ्ग, बहिरङ्ग लक्ष्मी से विभूषित जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों का सेवन करने में एकमात्र भ्रमर उसकी आत्मा सम्यक्त्वरूपी रत्न से पवित्र थी और वह भावी तीर्थंकरों में अग्रणी था ॥ ५९ ॥

वह महामण्डलेश्वर राजा अनेक राजाओं से सेवित, दाता, भोक्ता, विचार को जानने वाला तथा वादियों के समूह को धारण करता था ॥ ६० ॥

वह सप्ताङ्ग राज्य से सम्पन्न, तीन प्रकार की शक्तियों से सुशोभित, छः प्रकार के शत्रुओं का विजेता तथा पञ्चाङ्ग मन्त्र में उसकी बुद्धि प्रवीण थी ॥ ६१ ॥

उसके राज्य में दो जीभें सर्पों में ही थी, प्रजाजनों में नहीं थी। स्त्री के कटिभाग में ही कृशता थी, प्रजा कृश नहीं थी। निर्धनता तपस्वियों में थी, प्रजा धनरहित नहीं थी ॥ ६२ ॥

प्रजा सर्वापि तद्राज्ये जाता सद्धर्मतत्परा ।
सत्यं हि लौकिकं वाक्यं यथा राजा तथा प्रजा ॥ ६३ ॥
कराभिधातस्तिग्मांशो पाति तस्मिन् महीं नृपे ।
आसीन्नान्यत्र सर्वोऽतो लोकः शोकविवर्जितः ॥ ६४ ॥
तस्यासीच्चेलना नाम्ना राज्ञी राजीवलोचना ।
पतिव्रतापताकेव जिनधर्मपरायणा ॥ ६५ ॥
तस्या रूपेण सादृश्यो नोर्वशी न तिलोत्तमा ।
अद्वितीयाकृतिस्तस्मात्सा बभौ गृहदीपिका ॥ ६६ ॥
तथा तयोर्जिनेन्द्रोक्तधर्मकर्मप्रसक्तयोः ।
वारिषेणादयः पुत्रा बभूवुर्धर्मवत्सलाः ॥ ६७ ॥
प्रायेण सुकुलोत्पत्तिः पवित्रा स्यान्महीतले ।
शुद्धरत्नाकरोद्भूतो मणिर्वा विलसद्द्युतिः ॥ ६८ ॥

एवं तस्मिन् महीनाथे प्राज्यं राज्यं प्रकुर्वति ।
कदाचित्पुण्ययोगेन विपुलाचलमस्तके ॥ ६९ ॥
चतुस्त्रिंशन्महाश्चर्यैः प्रातिहार्यैर्विभूषितः ।
वीरनाथः समायातो विहरन् परमोदयः ॥ ७० ॥

तस्य श्रीवर्द्धमानस्य प्रभावेन तदाक्षणे ।
सर्वेऽप्यकेशिनो वृक्षा बभूवुः फलसंभृताः ॥ ७१ ॥
आम्रजम्बीरनारङ्गनालिकेरादिपादपाः ।
सच्छायाः सफला जाताः संतुष्टा वा जिनागमे ॥ ७२ ॥
निर्जलाः सजला जाताः सर्वे पद्माकरादयः ।
प्रशान्ताः कानने शीघ्रं ज्वलन्तो वनवह्नयः ॥ ७३ ॥
क्रूराः सिंहादयश्चापि मुक्तवैरा विरेजिरे ।
प्रशान्ताः सज्जना वात्र दयारसविराजिताः ॥ ७४ ॥
सारङ्ग्यः सिंहबालांश्च गावो व्याघ्रीशिशून् मुदा ।
मयूर्यः सर्पजान् प्रीत्या स्पृशन्ति स्म सुतान् यथा ॥ ७५ ॥
अन्ये विरोधिनश्चापि महिषास्तुरगादयः ।
पशवोऽपि श्रावका जाता भिल्लादिषु च का कथा ॥ ७६ ॥

उसके राज्य की समस्त प्रजा सद्धर्म में तत्पर हुई। लौकिक वाक्य सच ही है कि जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा होती है ॥ ६३ ॥

उस राजा के रक्षा कार्य करने पर करानिपात अर्थात् किरणों का आघात सूर्य में ही था अन्यत्र कराभिघात अर्थात् टैक्स का अभिघात नहीं था, अतः समस्त लोक शोकरहित था ॥ ६४ ॥

उसकी कमललोचना चेलना नामक धर्मपरायणा रानी थी। वह पति-व्रत रूप धर्म की मानों पताका थी ॥ ६५ ॥

उसके रूप के सदृश न तो उर्वशी थी और न तिलोत्तमा। चूँकि वह अद्वितीय आकृति थी, अतः गृहदीपिका के समान सुशोभित होती थी ॥ ६६ ॥

उस प्रकार उन दोनों के जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्म-कर्म में लगे रहने पर वारिषेण आदि धर्मप्रेमी पुत्र हुए ॥ ६७ ॥

प्रायःकर पृथ्वी पर अच्छे कुल में उत्पत्ति पवित्र होती है। अथवा चमकदार द्युति वाला मणि शुद्ध रत्नाकर से ही उत्पन्न होता है ॥ ६८ ॥

इस प्रकार उस राजा के उत्कृष्ट राज्य करते रहने पर कदाचित् पुण्ययोग से विपुलाचल के मस्तक पर ॥ ६९ ॥

चौंतीस महा आश्चर्य और प्रातिहार्यों से विभूषित परम उदय वाले वीरनाथ विहार करते हुए आए ॥ ७० ॥

उन वर्द्धमान के प्रभाव से उस क्षण समस्त फलहीन वृक्ष फल से भरे हो गए ॥ ७१ ॥

अथवा जिनेन्द्र भगवान् के आगमन से सन्तुष्ट होकर आम्र, जम्बीर का वृक्ष (मरुवक वृक्ष), नारङ्ग, नारियल आदि के वृक्ष छाया और फल-युक्त हो गए ॥ ७२ ॥

समस्त निर्जल सरोवर सजल हो गए। वन में शीघ्र प्रज्वलित होने वाली अग्नि शान्त हो गई ॥ ७३ ॥

क्रूर सिंहादिक भी वैर छोड़कर सुशोभित हुए अथवा दयारस से सुशो-भित, प्रशान्त सज्जन हो गए ॥ ७४ ॥

मृगी प्रसन्नता से सिंह के बच्चों का, गायें व्याघ्री के शिशुओं का, मयूरी सर्प के बच्चों का प्रीतिपूर्वक पुत्रों के समान स्पर्श करने लगीं ॥ ७५ ॥

अन्य विरोधी भैंसे, घोड़े आदि पशु भी श्रावक हो गए। भीलादि की तो बात ही क्या ? ॥ ७६ ॥

सत्यं जिनागमे क्वापि सर्वप्राणिहितंकरे ।
किं वा भवति नाश्चर्यं परमानन्ददायकम् ॥ ७७ ॥

इत्येवं जिनराजस्य प्रभावं स विलोक्य च ।
संतुष्टो वनपालस्तु समादाय फलादिकम् ॥ ७८ ॥
शीघ्रं तत्पुरमागत्य नत्वा तं श्रेणिकप्रभुम् ।
धृत्वा तत्प्राभृतं चाग्रे संजगौ शर्मदं वचः ॥ ७९ ॥

भो राजन् भवतां पुण्यैः केवलज्ञानभास्करः ।
समायातो महावीरस्वामी श्रीविपुलाचले ॥ ८० ॥

तत्समाकर्ण्य भूपालः परमानन्दनिर्भरः ।
तस्मै दत्वा महादानं समुत्थाय च तां दिशम् ॥ ८१ ॥
गत्वा सप्तपदान्याशु परोक्षे कृतवन्दनः ।
जय त्वं वीर गम्भीर वर्धमान जिनेश्वर ॥ ८२ ॥

आनन्ददायिनीं भेरीं दापयित्वा प्रमोदतः ।
हस्त्यश्वरथसंदोहपदातिजनसंयुतः ॥ ८३ ॥
स्वयोग्ययानमारूढश्छत्रादिकविभूतिभिः ।
वन्दितुं श्रीमहावीरं चचाल श्रेणिको मुदा ॥ ८४ ॥

तां भेरीं ते समाकर्ण्य सर्वे भव्यजनास्तथा ।
पूजाद्रव्यं समादाय सस्त्रीका निर्ययुर्द्रुतम् ॥ ८५ ॥
युक्तं ये धर्मिणो भव्या जिनभक्तिपरायणाः ।
धर्मकार्येषु ते नित्यं भवन्ति परमादराः ॥ ८६ ॥

एवं स श्रेणिको राजा भव्यलोकैः पुरस्कृतः[१] ।
भेरीमृदङ्गगम्भीरनादगर्जितदिक्तटः ॥ ८७ ॥
देवेन्द्रो वा सुरैः सार्द्धं विपुलाचलमुन्नतम् ।
समारुह्य ददर्शोच्चैः समवादिसृतिं विभोः ॥ ८८ ॥

तां विलोक्य प्रभुश्चित्ते संतुष्टः श्रेणिकस्तराम् ।
यथा वृषभनाथस्य कैलासे भरतेश्वरः ॥ ८९ ॥

---

१. प्रतौ 'परिस्कृतः' इति पाठः ।

सत्य है कि समस्त प्राणियों के हितकर जिनेन्द्र भगवान् के आगमन होने पर परम आनन्द को देने वाला क्या आश्चर्य नहीं होता है अर्थात् सभी आश्चर्य होते हैं ॥ ७७ ॥

इस प्रकार जिनराज के प्रभाव को देखकर सन्तुष्ट वनपाल ने फलादि लाकर ॥ ७८ ॥

शीघ्र ही उस नगर में आकर उन श्रेणिक प्रभु को नमस्कार किया और, उस भेंट को आगे रखकर सुखदायक वचन बोला ॥ ७९ ॥

हे राजन् ! आपके पुण्य से केवलज्ञानरूपी सूर्य महावीर स्वामी श्री विपुलाचल पर आए हैं ॥ ८० ॥

उस बात को सुनकर परम आनन्द से भरे हुए राजा ने उसे महादान देकर और उस दिशा में उठकर ॥ ८१ ॥

शीघ्र ही सात कदम चल कर परोक्ष में वन्दना कर। हे वीर, गम्भीर वर्द्धमान जिनेश्वर तुम्हारी जय हो, ऐसा कहा ॥ ८२ ॥

प्रमोदपूर्वक आनन्ददायिनी भेरी बजवाकर हाथी, घोड़े, रथसमूह और पदाति लोगों के साथ ॥ ८३ ॥

अपने योग्य यान पर चढ़कर छत्रादिक विभूतियों के साथ श्री महावीर की वन्दना करने के लिए श्रेणिक प्रसन्नतापूर्वक चला ॥ ८४ ॥

तथा उस भेरी को सुनकर समस्त भव्य जन पूजा द्रव्य को लेकर स्त्री सहित शीघ्र निकले ॥ ८५ ॥

जो जिन भक्ति परायण धार्मिक भव्य होते हैं, वे धर्मकार्यों में परम आदर से युक्त हो जाते हैं ॥ ८६ ॥

इस प्रकार भव्य लोगों को आगे किए हुए भेरी तथा मृदङ्ग के गम्भीर नाद गर्जित दिशाओं रूप तट वाले होता उस श्रेणिक राजा ने ॥ ८७ ॥

देवेन्द्र अथवा असुरों के साथ उन्नत विपुलाचल पर चढ़कर विभु के समवशरणादि को अत्यधिक रूप से देखा ॥ ८८ ॥

उसे देखकर श्रेणिक चित्त में सन्तुष्ट हुआ। जैसे कैलाश पर्वत पर वृषभनाथ के समवशरण को देखकर भरतेश्वर सन्तुष्ट हुआ था ॥ ८९ ॥

चतुर्दिक्षु महामानस्तम्भैस्तुङ्गैः समन्विताम् ।
येषां दर्शनमात्रेण मानं मुञ्चन्ति दुर्दृशः ॥ ९० ॥
तेषां सरांसि सर्वासु दिक्षु षोडश संख्यया ।
स्वच्छतोयैः प्रपूर्णानि सतां चित्तानि वा ततः ॥ ९१ ॥
खातिकां जलसंपूर्णां स्वर्णकूटैर्विराजिताम् ।
तापच्छिदं सतां वृत्तिमिवालोक्य जहर्ष सः ॥ ९२ ॥

जातीचम्पकपुन्नागपारिजातादिसंभवैः ।
नानापुष्पैः समायुक्तां पुष्पवाटीं मनोहराम् ॥ ९३ ॥
स्वर्णप्राकारमुत्तुङ्गं चतुर्गोपुरसंयुतम् ।
मानुषोत्तरभूध्रं वा वीक्ष्य प्रीतिमगात्प्रभुः ॥ ९४ ॥

नाट्यशालाद्वयं रम्यं प्रेक्षणीयं सुरादिभिः ।
देवदेवाङ्गनागीतनृत्यवादित्रशोभितम् ॥ ९५ ॥
अशोकसप्तपर्णाख्यचम्पकाम्राभिधानभाक् ।
नानाशाखिशताकीर्णं सफलं वनचतुष्टयम् ॥ ९६ ॥
वेदिकां स्वर्णनिर्माणां चतुर्गोपुरसंयुताम् ।
समवादिसृतेर्लक्ष्म्या मेखलां वा ददर्श सः ॥ ९७ ॥

स्वर्णस्तम्भाग्रसंलग्नध्वजजालैर्मरुद्धुतैः ।
तां सभामाह्वयन्तीं वा नाकिनो वीक्ष्य तुष्टवान् ॥ ९८ ॥
रूप्यशालं विशालं च गोपुरै रत्नतोरणैः ।
यशोराशिमिवालोक्य जिनेन्द्रस्य मुदं ययौ ॥ ९९ ॥
ततः कल्पद्रुमाणां च वनं सारसुखप्रदम् ।
समन्ताद्वीक्ष्य संतुष्टो भूपालो न ममौ हृदि ॥ १०० ॥
स्वर्णरत्नविनिर्माणां नानाहर्म्यावलीं शुभाम् ।
विश्रामाय सुरादीनां दृष्ट्वा हृष्टो नृपस्तराम् ॥ १०१ ॥
चतुर्दिक्षु महास्तूपान् पद्मरागविनिर्मितान् ।
जिनेन्द्रप्रतिमोपेतान् षट्त्रिंशत्सुमनोहरान् ॥ १०२ ॥
रत्नतोरणसंयुक्तान् सुरासुरसमर्चितान् ।
प्रभुस्तान् पूजयामास वस्तुभिः सज्जनैर्युतः ॥ १०३ ॥

चारों दिशाओं में ऊँचे महामान स्तम्भ से युक्त जिनके दर्शनमात्र से मिथ्यादृष्टि लोग मान को छोड़ देते हैं ॥ ९० ॥

उस समवशरण की समस्त दिशाओं में सोलह स्वच्छ जल से पूर्ण, सज्जनों के चित्र के समान (निर्मल) तालाब थे ॥ ९१ ॥

रत्नों के तटों से सुशोभित जल से भरी हुई सज्जनों के चरित्र के समान सन्ताप को नष्ट करने वाली खाई को देखकर वह हर्षित हुआ ॥ ९२ ॥

चमेली, चम्पा, पुन्नाग तथा पारिजात आदि से उत्पन्न नाना प्रकार के पुष्पों से युक्त मनोहर पुष्पवाटिका को ॥ ९३ ॥

चार गोपुरों से युक्त स्वर्ण के ऊँचे प्राकार को अथवा मानुषोत्तर पर्वत को देखकर वे प्रभु प्रीति को प्राप्त हुए ॥ ९४ ॥

देवों आदि से देखने योग्य, रम्य दो नाट्यशालाओं को, देव देवाङ्गनाओं के गीत, नृत्य तथा वादित्र के शोभित ॥ ९५ ॥

अशोक, सप्तपर्ण तथा चम्पा नामक नाना प्रकार के सैकड़ों वृक्षों से व्याप्त चार वनों को ॥ ९६ ॥

चार गोपुरों से युक्त स्वर्ण वेदिका को अथवा समवशरण रूप लक्ष्मी की मेखला को उसने देखा ॥ ९७ ॥

वायु से कम्पित स्वर्ण के स्तम्भों के अग्रभाग में लगी हुई ध्वजाओं के समूह से उस देवसभा को बुलाने वाली को देखकर वह सन्तुष्ट हुआ ॥ ९८ ॥

रत्नमय तोरणों वाले गोपुरों से विशाल रजत भवन को मानों वह जिनेन्द्र भगवान् के यश की राशि हो, देखकर वह सन्तुष्ट हुआ ॥ ९९ ॥

सार रूप सुख को देने वाले कल्पवृक्षों के वन को चारों ओर से देखकर सन्तुष्ट हुए राजा का हर्ष हृदय में समा नहीं सका ॥ १०० ॥

देवादि के विश्राम के लिए स्वर्ण तथा रत्न से निर्मित शुभ नाना भवनों के समूह को देखकर राजा हर्षित हुआ ॥ १०१ ॥

रत्नतोरण से संयुक्त, सुरों और असुरों से पूजित, पद्मराग मणि से निर्मित, जिनेन्द्र प्रतिमाओं से युक्त छत्तीस सुमनोहर महास्तूपों की राजा ने सज्जनों सहित अनेक वस्तुओं से पूजा की ॥ १०२-१०३ ॥

ततो मार्गं समुल्लङ्घ्य स्फाटिकं शालमुन्नतम् ।
चतुर्गोपुरसंयुक्तं निधानैर्मङ्गलैर्युतम् ॥ १०४ ॥
तन्मध्ये षोडशोत्तुङ्गभित्तिभिः परिशोभितम् ।
सभास्थानं जिनेन्द्रस्य [illegible]शोभितकोष्ठकम् ॥ १०५ ॥
एवं श्रीमन्महावीरसमवादिसृतिं प्रभुः ।
त्रिः परीत्य महाप्रीत्या संतुष्टः श्रेणिकस्तराम् ॥ १०६ ॥
तत्र त्रिमेखलापीठे सिंहासनमनुत्तरम् ।
मेरुशृङ्गमिवोत्तुङ्गं स्वर्णरत्नैर्विनिर्मितम् ॥ १०७ ॥
चतुर्भिरङ्गुलैर्मुक्ता स्थितं वीरजिनेश्वरम् ।
निधानमिव संवीक्ष्य पिप्रिये भूपतिस्तराम् ॥ १०८ ॥
चतुःषष्टिमहादिव्यचामरैरामरैर्युतम् ।
विशुद्धनिर्झरोपेतं स्वर्णाचलमिवाचलम् ॥ १०९ ॥
सर्वं शोकापहं देवं महाशोकतरुश्रितम् ।
सारमेघान्वितं चारु काञ्चनाभं महीधरम् ॥ ११० ॥
नानासुगन्धपुष्पौघसुगन्धीकृतदिक्चयम् ।
इन्द्रादिकरनिर्मुक्तपुष्पवृष्टिविराजितम् ॥ १११ ॥
कोटिभास्करसंस्पर्द्धिदेहभामण्डलान्वितम् ।
तत्र भव्याः प्रपश्यन्ति स्वकीयं जन्मसप्तकम् ॥ ११२ ॥
दुन्दुभीनां च कोटीभिर्घोषयन्तीभिरायुतम् ।
मोहारातिजयं वोच्चैरालुलोक जिनं प्रभुः ॥ ११३ ॥
मुक्तामालायुतेनोच्चैश्चारुछत्रत्रयेण वा ।
त्रिधाभूतेन सेवार्थं समायातेन्दुनाश्रितम् ॥ ११४ ॥
सुरासुरनरादीनां चित्तसंतोषकारिणा ।
दिव्येन ध्वनिना तत्त्वं द्योतयन्तं जगद्धितम् ॥ ११५ ॥
अनन्तज्ञानदृग्वीर्यसुखोपेतं गुणाकरम् ।
इन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्कनरेन्द्राद्यैः समर्चितम् ॥ ११६ ॥
इत्यादि केवलज्ञानसमुत्पन्नविभूतिभिः ।
विराजितं समालोक्य सानन्दो मगधेश्वरः ॥ ११७ ॥

अनन्तर मार्ग को पारकर चार गोपुरों से संयुक्त, मंगल निशानों से युक्त स्फटिक निर्मित उन्नत भवनों के बीच सोलह ऊँची दीवालों से शोभित, बारह प्रकोष्ठों वाले सभा स्थान की, इस प्रकार श्री महावीर प्रभु के समवशरण की महाप्रीति से तीन प्रदक्षिणा देकर श्रेणिक सन्तुष्ट हुआ ।। १०४-१०५-१०६ ।।

वहाँ तीन मेखलाओं वाले पीठ पर मेरु के शिखर के समान ऊँचे, स्वर्ण और रत्नों से निर्मित अनुत्तर सिंहासन पर चार अंगुल छोड़कर स्थित वीर जिनेश्वर को निधान (धर्म के) के समान देखकर राजा परम सन्तुष्ट हुआ ।। १०७-१०८ ।।

वे देवाधिदेव (महावीर) चौंसठ महादिव्य चामरों को लिए हुए देवों से युक्त थे। वे ऐसे लग रहे थे मानों विशुद्ध झरने से युक्त सुमेरु पर्वत हों ।। १०९ ।।

वे समस्त शोक को नष्ट करने वाले थे, महान् अशोक वृक्ष का आश्रय लिए हुए वे ऐसे लग रहे थे मानों सारमेघ से युक्त स्वर्णमयी आभा वाले पर्वत हों ।। ११० ।।

दिशाओं का समूह नाना सुगन्धित पुष्पों के समूह से सुगन्धीकृत था। इन्द्रादिक के द्वारा अपने हाथ से छोड़ी हुई पुष्पवृष्टि से वे सुशोभित थे ।। १११ ।।

करोड़ों सूर्य से स्पर्द्धा करने वाले शरीर के भामण्डल से युक्त थे। उस भामण्डल में भव्य जीव अपने सात जन्मों को देख लेते हैं ।। ११२ ।।

वहाँ करोड़ों दुन्दुभियों का घोष हो रहा था। उन्होंने मोहरूपी शत्रु पर विजय प्राप्त की थी। ऐसे जिनप्रभु को अत्यधिक रूप से देखा ।। ११३ ।।

अथवा मोतियों की माला से युक्त सुन्दर छत्रत्रय से वे ऐसे लग रहे थे मानों तीन होकर सेवा के लिए आए हुए चन्द्रमा से युक्त हों ।। ११४ ।।

सुर, असुर और मनुष्यादि के चित्त में सन्तोष उत्पन्न करने वाली संसार के लिए हितकारी दिव्यध्वनि तत्त्व का द्योतन कर रही थी ।।११५।।

वे अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य और सुख से युक्त थे, गुणों की खान थे, इन्द्र, नागेन्द्र, चन्द्र, सूर्य तथा राजाओं आदि से अर्चित थे ।। ११६ ।।

इत्यादि केवलज्ञान से उत्पन्न विभूतियों से सुशोभित जिनेन्द्रदेव को देखकर मगधराज श्रेणिक आनन्द से युक्त हुए ।। ११७ ।।

जय त्वं त्रिजगत्पूज्य महावीर जगद्धित ।
इत्यादि जयनिर्घोषैर्नमस्कृत्य पुनः पुनः ॥ ११८ ॥
विशिष्टाष्टमहाद्रव्यैर्जलगन्धाक्षतादिभिः ।
पूजयित्वा महाप्रीत्या जिनपादाम्बुजद्वयम् ॥ ११९ ॥
चकार संस्तुतिं भक्त्या भव्यानामीदृशी गतिः ।
यत्सुपूज्येषु सत्पूजा क्रियते शर्मकारिणी ॥ १२० ॥

जय त्वं त्रिजगन्नाथ जय त्वं त्रिजगद्गुरो ।
जय त्वं पर[illegible]दक्ष [illegible]निधे ॥ १२१ ॥
वीतराग नमस्तुभ्यं नमस्ते सन्मते सदा ।
नमस्ते तो महावीर वीरनाथ जगत्प्रभो ॥ १२२ ॥
वर्धमान जिनेशान नमस्तुभ्यं गुणार्णव ।
महत्यादिमहावीर नमस्ते विश्वभावक ॥ १२३ ॥
रत्नत्रयसरोजश्रीसमुल्लासदिवाकर ।
स्याद्वादवादिने तुभ्यं नमस्ते घातिघातिने ॥ १२४ ॥
नमस्ते त्रिजगद्भव्यतायिने मोक्षदायिने ।
नमस्ते धर्मनाथाय कामक्रोधाग्निवार्मुचे ॥ १२५ ॥
नमस्ते स्वर्गमोक्षोरुसौख्यकल्पद्रुमाय च ।
सिद्ध बुद्ध नमस्तुभ्यं संसाराम्बुधिसेतवे ॥ १२६ ॥
अनन्तास्ते गुणाः स्वामिन् विशुद्धाः पारवर्जिताः ।
अल्पधीर्मादृशो देव कः क्षमः स्तवने तव ॥ १२७ ॥
तथापि श्रीमतां सारपादपद्मद्वये सदा ।
भुक्तिमुक्तिप्रदा भक्तिर्भूयान्मे शर्मदायिनी ॥ १२८ ॥
इत्यान्तं श्रीजिनाधीशं केवलज्ञानभास्करम् ।
स्तुत्वा नत्वा नमीधैः स नरकोष्ठे सुधीः स्थितः ॥ १२९ ॥
गौतमादिगणाधीशान् संज्ञानमयविग्रहान् ।
नमस्कृत्य स चिन्मूर्तिः प्रेमानन्दनिर्भरः ॥ १३० ॥

हे तीनों लोकों के पूज्य, संसार के हितैषी महावीर, तुम्हारी जय हो। इस प्रकार जयघोषों से पुनः-पुनः नमस्कार कर ॥ ११८ ॥

विशिष्ट जल, गन्ध, अक्षतादि अष्ट महाद्रव्यों से महान् प्रीति से जिन चरण कमलद्वय की पूजा कर ॥ ११९ ॥

भक्तिपूर्वक भली-भाँति स्तुति की। भव्यों की ऐसी ही मति होती है जो कि उनके द्वारा सुपूज्यों की सुखकारी उत्तम पूजा की जाती है ॥१२०॥

हे तीनों लोकों के नाथ तुम्हारी जय हो, हे तीनों लोकों के गुरु तुम्हारी जय हो। परम आनन्द के देने में दक्ष क्षमानिधि तुम्हारी जय हो ॥ १२१ ॥

हे वीतराग तुम्हें नमस्कार हो, हे सन्मति तुम्हें सदा नमस्कार हो। हे महावीर, वीरनाथ, जगत्प्रभु तुम्हें नमस्कार हो ॥ १२२ ॥

हे गुणों के सागर, वर्द्धमान, जिनेशान्, विश्वभाषक महति आदि महावीर तुम्हें नमस्कार हो ॥ १२३ ॥

रत्नत्रय रूप कमल लक्ष्मी के विकास के लिए सूर्य! घातिकर्मों का विनाश करने वाले स्याद्वादवादी तुम्हें नमस्कार हो ॥ १२४ ॥

तीनों लोकों के भव्यों को तारने वाले, मोक्षदायी! तुम्हें नमस्कार हो। काम, क्रोध रूपी अग्नि को बुझाने वाले धर्मनाथ! तुम्हें नमस्कार हो ॥ १२५ ॥

स्वर्ग, मोक्ष के विस्तीर्ण सुख के कल्पवृक्ष स्वरूप! तुम्हें नमस्कार हो। संसार रूपी समुद्र के सेतुस्वरूप हे सिद्ध! बुद्ध! तुम्हें नमस्कार हो ॥ १२६ ॥

हे स्वामिन्! आपके विशुद्ध, पाररहित अनन्त गुण हैं। हे देव! मुझ जैसा अल्पबुद्धि कौन तुम्हारा स्तवन करने में समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं ॥ १२७ ॥

तथापि शोभा से युक्त सारस्वरूप आपके चरण कमलद्वय में मेरी भुक्ति और मुक्ति को प्रदान करने वाली, सुखदायिनी भक्ति हो ॥ १२८ ॥

इस प्रकार श्री जिनाधीश, केवलज्ञानसूर्य आप्त की नमस्कारों के समूह से स्तुति करके नमस्कार कर वह बुद्धिमान् मनुष्यों के कोठे में बैठ गया ॥ १२९ ॥

सम्यक् ज्ञानमय शरीर वाले गौतमादि गणाधीशों को नमस्कार कर वह चैतन्य मूर्ति प्रेम और आनन्द से भर गया ॥ १३० ॥

स जयतु जिनवीरो ध्वस्तमिथ्यान्धकारो,
विशदगुणसमुद्रः स्वर्गमोक्षैकमार्गः ।
सुरपतिशतसेव्यो भव्यपद्मौघभानुः,
सकलदुरितहर्ता मुक्तिसाम्राज्यकर्त्ता ॥ १३१ ॥

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षु-
श्रीविद्यानन्दिविरचिते श्रीमहावीरतीर्थंकरपरमदेव-
समागमनव्यावर्णनो नाम प्रथमोऽधिकारः ।

॥

जिन्होंने मिथ्यात्व रूपी अन्धकार को ध्वस्त कर दिया है, जो विशद गुणों के समुद्र हैं, स्वर्ग तथा मोक्ष के एक मात्र मार्ग हैं, जो सैकड़ों इन्द्रों से सेवित हैं, भव्य कमलों के समूह के लिए सूर्य स्वरूप हैं, समस्त पापों का हरण करने वाले हैं तथा मुक्ति रूपी साम्राज्य के कर्ता हैं, वे जिन-वीर जयशील हों ॥ १३१ ॥

इस प्रकार श्री सुदर्शन चरित में पञ्चनमस्कार माहात्म्य प्रदर्शक मुमुक्षु श्री विद्यानन्दि रचित श्री महावीर तीर्थंकर परमदेव समागम का वर्णन करने वाला प्रथम अधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीयोऽधिकारः

जयन्तु भुवनाम्भोजभानवः श्रीजिनेश्वराः ।
केवलज्ञानसाम्राज्याः प्रबोधितजनोत्कराः ॥ १ ॥

अथ श्रीश्रेणिको राजा विनयानतमस्तकः ।
नत्वा श्रीगौतमं देवं धर्मं पप्रच्छ सादरम् ॥ २ ॥

तदासौ सत्कृपासिन्धुर्गौतमो गणनायकः ।
संजगौ स स्वभावो हि तेषां यत्प्राणिनां कृपा ॥ ३ ॥

शृणु त्वं श्रेणिक व्यक्तं भावितीर्थकराग्रणीः ।
धर्मो वस्तुस्वभावो हि चेतनेतरलक्षणः ॥ ४ ॥

क्षमादिदशधा धर्मो तथा रत्नत्रयात्मकः ।
जीवानां रक्षणं धर्मश्चेति प्राहुर्जिनेश्वराः ॥ ५ ॥

जिनोक्तसप्ततत्त्वानां श्रद्धानं यत्र निश्चयात् ।
तत्त्वं सद्दर्शनं विद्धि भवभ्रमणनाशनम् ॥ ६ ॥

ज्ञानं तदेव जानीहि यत् सर्वज्ञेन भाषितम् ।
द्वादशाङ्गं जगत्पूज्यं विरोधपरिवर्जितम् ॥ ७ ॥

चारित्रं च द्विधा प्रोक्तं मुनिश्रावकभेदभाक् ।
महाणुव्रतभेदेन निर्मलं सुगतिप्रदम् ॥ ८ ॥

हिंसादिपञ्चकत्यागः सर्वथा यत्त्रिधा भवेत् ।
तच्चारित्रं महत् प्रोक्तं मुनीनां मूलभेदतः ॥ ९ ॥

तथा मूलोत्तरास्तस्य सद्गुणाः सन्ति भूरिशः ।
यैस्तु ते मुनयो यान्ति सुखं स्वर्गापवर्गजम् ॥ १० ॥

श्रावकाणां तु चारित्रं शृणु त्वं श्रेणिक प्रभो ।
सम्यक्त्वपूर्वकं तत्र चादौ मूलगुणाष्टकम् ॥ ११ ॥

पालनीयं बुधैर्नित्यं तद्विशुद्धौ सुखश्रिये ।
रामठं चर्मसंमिश्रं वर्जनीयं जलादिकम् ॥ १२ ॥

द्वितीयोऽधिकारः

संसार कमल के हेतु सूर्य श्री जिनेश्वर जयशील हों। वे केवलज्ञान-रूपी साम्राज्य से युक्त हैं तथा उन्होंने लोगों के समूह को सम्बोधित किया है ॥ १ ॥

अनन्तर श्री श्रेणिक राजा ने विनय से मस्तक झुका कर श्री गौतम देव को नमस्कार कर आदरपूर्वक धर्म को पूछा ॥ २ ॥

अनन्तर सत्कृपा के सागर गणनायक गौतम बोले। प्राणियों पर कृपा करना उनका स्वभाव है ॥ ३ ॥

हे भावि तीर्थंकरों में अग्रणी (प्रथम) श्रेणिक ! तुम स्पष्ट रूप से सुनो। वस्तु का स्वभाव धर्म है। वह दो चेतन और अचेतन लक्षण वाला है ॥ ४ ॥

जिनेश्वर ने कहा है कि धर्म क्षमादि दस रूप है, रत्नत्रयात्मक है और जीवों की रक्षा करना धर्म है ॥ ५ ॥

निश्चय से जिनोक्त सप्त तत्त्वों का श्रद्धान करना यथार्थ रूप से सम्यग्दर्शन जानना चाहिए; जो कि संसार परिभ्रमण का नाश करने वाला है ॥ ६ ॥

सर्वज्ञ देव के द्वारा कहे हुए द्वादशाङ्ग को ही ज्ञान जानो। यह ज्ञान जगत्पूज्य है और विरोधरहित है ॥ ७ ॥

मुनि और श्रावक के भेद से चारित्र दो प्रकार का कहा गया है। मुनि का चारित्र महाव्रत और श्रावक का चारित्र अणुव्रत रूप होता है। यह मद रहित और सुगति को प्रदान करने वाला होता है ॥ ८ ॥

मन, वचन, काय तीन प्रकार से हिंसादि पाँच पापों का त्याग करना मूल भेद की अपेक्षा मुनियों का महाव्रत है ॥ ९ ॥

उस चारित्र के मूल और उत्तर गुण अनेक होते हैं। जिन गुणों से वे मुनि स्वर्ग और मोक्ष से उत्पन्न सुख को प्राप्त होते हैं ॥ १० ॥

हे राजा श्रेणिक ! तुम श्रावकों के चारित्र को सुनो। सम्यक्त्व पूर्वक विद्वानों को निश्चय से आदि में अष्टमूलगुणों का पालन करना चाहिए। आठ मूलगुणों से विशुद्ध होना स्वर्ग लक्ष्मी के लिए होता है।

चर्ममिश्रित हींग अथवा हींग से बने पदार्थ तथा जलादिक छोड़ना चाहिए ॥ ११-१२ ॥

सप्तश्वभ्रप्रदायीनि व्यसनानि विशेषतः ।
संत्याज्यानि यकैश्चात्र महान्तोऽपि क्षयं गताः ॥ १३ ॥
त्रसानां रक्षणं पुण्यं सुधीः संकल्पतः सदा ।
मृषावाक्यं बुधैर्हेयं निर्दयत्वस्य कारणम् ॥ १४ ॥
अदत्तादानसंत्यागो भव्यानां संपदाप्रदः ।
संतोषः स्वस्त्रियां नित्यं कर्त्तव्यः सुगतिश्रिये ॥ १५ ॥
संख्या परिग्रहेषूच्चैः सर्वेषु गृहमेधिनाम् ।
संतोषकारिणी कार्या पद्मिन्या वा रविप्रभा ॥ १६ ॥
निशाभोजनकं त्याज्यं नित्यं भव्यैः सुखार्थिभिः ।
यदुक्तं श्रावकाणां हि मुख्यं धर्म्यं च नेत्रवत् ॥ १७ ॥
जलानां गालने यत्नो विधेयो बुधसत्तमैः ।
नित्यं प्रमादमुत्सृज्य सद्वस्त्रेण शुभश्रिये ॥ १८ ॥
दिग्देशानर्थदण्डाख्यं त्रिभेदं हि गुणव्रतम् ।
पालनीयं प्रयत्नेन भव्यानां सुगतिप्रदम् ॥ १९ ॥
कन्दमूलं च संधानं पत्रशाकादिकं तथा ।
यत्याज्यं श्रीजिनैः प्रोक्तं तत्याज्यं सर्वथा बुधैः ॥ २० ॥
शिक्षाव्रतानि चत्वारि श्रावकाणां हितानि वै ।
सामायिकव्रतं पूर्वं चैत्यपञ्चगुरुस्तुतिः ॥ २१ ॥
त्रिसन्ध्यं समताभावैर्मद्धाधर्मानुरागिभिः ।
कर्त्तव्या सा महाभव्यैः शर्मणा जिनसूत्रतः ॥ २२ ॥
अष्टम्यां च चतुर्दश्यां प्रोषधः प्रविधीयते ।
कर्मणां निर्जराहेतुर्महाभ्युदयदायकः ॥ २३ ॥
भोगोपभोगवस्तूनामाहारादिकवाससाम् ।
संख्या सुश्रावकाणां च प्रोक्ता संतोषकारिणी ॥ २४ ॥
तथा त्रिविधपात्रेभ्यो दानं देयं चतुर्विधम् ।
आहाराभयभैषज्यशास्त्रसंज्ञं सुखार्थिभिः ॥ २५ ॥
महाव्रतानि पञ्चोच्चैस्तिस्रो गुप्तीर्मनोहराः ।
समितीः पञ्च यः पाति स मुनिः पात्रसत्तमः ॥ २६ ॥

नरक प्रदान करने वाले सप्त व्यसन विशेष रूप से छोड़ देना चाहिए। जिनसे इस संसार में बड़े लोग भी क्षय को प्राप्त हुए ॥ १३ ॥

अच्छी बुद्धिवाले का संकल्प पूर्वक सदा त्रस जीवों की रक्षा करना पुण्य है। विद्वानों को असत्यवाक्य छोड़ देना चाहिए; क्योंकि यह निर्दयता का कारण है ॥ १४ ॥

अदत्तादान का त्याग करना भव्य जीवों को सम्पत्ति प्रदान करने वाला होता है। सुगति रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए अपनी स्त्री में नित्य सन्तोष करना चाहिए ॥ १५ ॥

समस्त गृहस्थों को समस्त परिग्रहों की संख्या निर्धारित करना चाहिए, जो कि सन्तोषकारिणी होती है, जिस प्रकार कि सूर्य की प्रभा कमलिनी के लिए सन्तोषकारिणी होती है ॥ १६ ॥

सुखार्थी भव्यों को नित्य रात्रिभोजन का त्याग करना चाहिए। यह श्रावकों का मुख्य धर्म है जिस प्रकार इन्द्रियों में नेत्र मुख्य है ॥ १७ ॥

श्रेष्ठ विद्वानों को नित्य प्रमाद छोड़कर उत्तम वस्त्र से शुभ लक्ष्मी की प्राप्ति हेतु जल छानने का प्रयत्न करना चाहिए ॥ १८ ॥

गुणव्रत तीन प्रकार का होता है—१. दिग्व्रत २. देशव्रत और ३. अनर्थदण्डव्रत। भव्यों को प्रयत्न पूर्वक इनका पालन करना चाहिए। यह सुगति को प्रदान करने वाला होता है ॥ १९ ॥

कन्दमूल तथा पत्र शाकादि का सम्भिक्षण जो जिनों ने त्यागने योग्य कहा है, उसका विद्वानों को सर्वथा त्याग करना चाहिए ॥ २० ॥

चार शिक्षाव्रत श्रावकों के हितकारी हैं। सामायिक व्रत पूर्वक जिन प्रतिमा और पंचपरमेष्ठी की स्तुति महाधर्मानुरागी महाभव्यों को तीनों सन्ध्याओं में सुखपूर्वक करना चाहिए ॥ २१-२२ ॥

अष्टमी और चतुर्दशी को प्रोषध किया जाता है। यह कर्मों की निर्जरा का हेतु और महान् अभ्युदय प्रदान करने वाला होता है ॥ २३ ॥

भोगोपभोग की वस्तुयें, आहार, वस्त्रादिक की संख्या सुश्रावकों के लिए सन्तोषकारिणी कही गई है ॥ २४ ॥

सुख को चाहने वालों को उत्तम, मध्यम और जघन्य तीन प्रकार के पात्रों को आहार, अभय, भैषज्य और शास्त्र ये चार प्रकार के दान देना चाहिए ॥ २५ ॥

जो अत्यधिक रूप पांच महाव्रत, तीन मनोहर गुप्तियाँ तथा पाँच समितियों का पालन करता है, वह श्रेष्ठ (उत्तम) पात्र है ॥ २६ ॥

सद्दृष्टिर्यो गुरोर्भक्तः श्रावको व्रतमण्डितः ।
स भवेन्मध्यमं पात्रं दानपूजादितत्परः ॥ २७ ॥
केवलं दर्शनं धत्ते जिनधर्मे महारुचिः ।
त्यक्तमिथ्याविधो धीमान् स पात्रं स्याज्जघन्यकम् ॥ २८ ॥
इति त्रिविधपात्रेभ्यो दानं प्रीत्या चतुर्विधम् ।
यैर्दत्तं भुवने भव्यैस्तैः सिक्तो धर्मपादपः ॥ २९ ॥
तथा दयालुभिर्देयं दानं कारुण्यसंज्ञकम् ।
दीनान्धबधिरादीनां याचकानां महोत्सवे ॥ ३० ॥

त्यागो दानं च पूजा च कथ्यते जैनपण्डितैः ।
ततः सुश्रावकैर्जैनं भक्तितो भवनं शुभम् ॥ ३१ ॥
कारयित्वा तथा जैनीः प्रतिमाः पापनाशनाः ।
प्रतिष्ठाप्य यथाशास्त्रं पञ्चकल्याणकोक्तिभिः ॥ ३२ ॥
दध्यादिभिर्विधायोच्चैः स्नपनं शर्मकारणम् ।
विशिष्टाष्टमहाद्रव्यैर्जलाद्यैर्नित्यचर्चनम् ॥ ३३ ॥
कर्त्तव्यं च महाभव्यैः स्वर्गमोक्षसुखश्रिये ।
सिद्धक्षेत्रे तथा यात्रा कर्तव्या दुर्गतिच्छिदे ॥ ३४ ॥

संस्तुतिं च विधायैव जिनेन्द्राणां सुखप्रदाम् ।
जाप्यमष्टोत्तरं प्रोक्तं शतं शर्मशतप्रदम् ॥ ३५ ॥
मन्त्रोऽयं त्रिजगत्पूज्यः सुपञ्चत्रिंशदक्षरः ।
पापसंतापदावाग्निशमनैकघनाघनः ॥ ३६ ॥

सुखे दुःखे गृहेऽरण्ये व्याधौ राजकुले जले ।
सिंहव्याघ्रादिके क्रूरे शत्रौ सर्पेऽग्निदुर्भये ॥ ३७ ॥
ध्यायेन्मन्त्रमिमं धीमान् सर्वशान्तिविधायकम् ।
युक्तं दिवाकरोद्योते प्रयाति सकलं तमः ॥ ३८ ॥

तथा गुरूपदेशेन पञ्चश्रीपरमेष्ठिनाम् ।
षोडशाद्यक्षरैर्ज्ञेयो मन्त्रौघःशर्मसाधकः ॥ ३९ ॥
शुद्धस्फटिकसंकाशां जिनेन्द्रप्रतिमां शुभाम् ।
सम्यग्दृष्टिः सदा ध्यायेत् सर्वपापप्रणाशिनीम् ॥ ४० ॥

दान, पूजादि में तत्पर, व्रतों से मण्डित जो सम्यग्दृष्टि श्रावक गुरु का भक्त है, वह मध्यम पात्र है ॥ २७ ॥

केवलीप्रणीत दर्शन और जिनधर्म में जो महारुचि रखता है, मिथ्यात्व रूपी विष को जिसने छोड़ दिया है, वह बुद्धिमान् जघन्य पात्र है ॥ २८ ॥

इस प्रकार संसार में जिन भव्यों ने प्रीतिपूर्वक तीन प्रकार के पात्रों के लिए चार प्रकार का दान दिया है, उन्होंने धर्म रूपी वृक्ष का सिञ्चन किया है ॥ २९ ॥

दयालुओं को दीन, अन्धे और बधिरादि याचकों को महोत्सव में कारुण्य नामक दान देना चाहिए ॥ ३० ॥

जैन पण्डितों ने त्याग, दान और पूजा कही है। सुश्रावक जैनों को भक्तिपूर्वक शुभ जैन भवन बनवाकर तथा पापनाशक जिनेन्द्र प्रतिमा शास्त्र के अनुसार पंचकल्याणक में कही गई विधि के अनुसार प्रतिष्ठापित कर स्वर्ग व मोक्षरूपी लक्ष्मी की प्राप्ति महाभव्यों को विशिष्ट दधि आदि के द्वारा सुख कारक महा-अभिषेक करके विशिष्ट जल आदि अष्टमहाद्रव्यों से नित्य पूजा करना चाहिये तथा दुर्गति का विनाश करने के लिए सिद्ध-क्षेत्रों की यात्रा करना चाहिए ॥ ३१-३२-३३-३४ ॥

और जिनेन्द्रों की सुखप्रद भली भाँति स्तुति कर एक सौ आठ बार जाप देना चाहिए। यह सैकड़ों सुखों को प्रदान करने वाली कही गई है ॥ ३५ ॥

३५ अक्षरों वाला यह णमोकार मन्त्र तीनों लोकों में पूज्य है और पाप संताप रूपी दावाग्नि को शमन करने के लिए मेघ है ॥ ३६ ॥

सुख, दुःख, घर, जंगल, व्याधि, राजकुल तथा जल में, सिंह व्याघ्र, क्रूर शत्रु, सर्प तथा अग्नि का भय होने पर ॥ ३७ ॥

बुद्धिमान् को समस्त शान्ति को लाने वाले इस मन्त्र का ध्यान करना चाहिए। यह बात उचित ही है कि सूर्य का उद्योत होने पर समस्त अन्धकार भाग जाता है ॥ ३८ ॥

तथा गुरु के उपदेश से पंच परमेष्ठियों का सोलह आदि अक्षरों वाले मन्त्र का समूह सुख का साधक जानना चाहिए ॥ ३९ ॥

शुद्ध स्फटिक के समान शुभ जिनेन्द्र प्रतिमा का सम्यग्दृष्टि को सदा ध्यान करना चाहिए। यह समस्त पापों का नाश करने वाली है ॥ ४० ॥

उक्तं च—

आप्तस्यासंनिधानेऽपि पुण्यायाकृतिपूजनम् ।
तार्क्ष्यमुद्रा न किं कुर्याद्विषसामर्थ्यसूदनम् ॥ ४१ ॥

यथा जिनस्तथा जैनं ज्ञानं गुरुपदाम्बुजम् ।
सिद्धचक्रादिकं पूतं चर्चनीयं विचक्षणैः ॥ ४२ ॥
पूज्यपूजाक्रमेणैव भव्यः पूज्यतमो भवेत् ।
ततः सुखार्थिभिर्भव्यैः पूज्यपूजा न लङ्घ्यते ॥ ४३ ॥
यथा मेरुर्गिरीन्द्राणामम्बुधीनां पयोनिधिः ।
तथा परोपकारैस्तु धर्मिणां महतां महान् ॥ ४४ ॥
साधर्मिकेषु वात्सल्यं दानमानादिभिः सदा ।
कर्तव्यं शल्यनिर्मुक्तैः प्रीत्या सद्धर्मवृद्धये ॥ ४५ ॥
तथा सुश्रावकैर्नित्यं जैनधर्मानुरागिभिः ।
शास्त्रस्य श्रवणं कार्यं गुरूणां सारसेवया ॥ ४६ ॥
इत्थं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तसप्तक्षेत्राणि नित्यशः ।
शर्मसस्यकराण्युच्चैस्तर्पणीयानि धीधनैः ॥ ४७ ॥
अन्ते च श्रावकैर्भव्यैर्जैनतत्त्वविदांवरैः ।
मोहं सङ्गं परित्यज्य संन्यासः संविधीयते ॥ ४८ ॥

अनन्यशरणीभूय भावितकैः परमेष्ठिषु ।
विधाय शरणं चित्ते रत्नत्रयमनुत्तरम् ॥ ४९ ॥
कोऽहं शुद्धचैतन्यस्वभावः परमार्थतः ।
इत्यादितत्त्वसंकल्पैः कार्यः संन्याससद्विधिः ॥ ५० ॥

तथा त्वं भो सुधी राजन् शृणु श्रेणिक मद्वचः ।
जिनोक्तसप्ततत्त्वानां लक्षणं ते गदाम्यहम् ॥ ५१ ॥
जीवतत्त्वं भवेत्पूर्वमनादिनिधनं सदा ।
सोऽपि जीवो जिनैः प्रोक्तश्चेतनालक्षणो ध्रुवम् ॥ ५२ ॥
उपयोगद्वयोपेतः स्वदेहपरिमाणभाक् ।
कर्ता भोक्ता च विद्वद्भिरमूर्तः परिकीर्तितः ॥ ५३ ॥

कहा भी है—

आप्त की समीपता न होने पर भी मूर्ति पुण्य के लिए होती है। क्या गरुड़ की मुद्रा विष के सामर्थ्य को नष्ट नहीं करती है? ॥ ४१ ॥

बुद्धिमान् व्यक्तियों को जिस प्रकार जिन की देव पूजा करना चाहिये उसी प्रकार जिनोपदिष्ट ज्ञान, गुरु के चरणकमल तथा पवित्र सिद्ध-चक्रादि की पूजा करना चाहिए ॥ ४२ ॥

पूज्य, पूजा के क्रम से ही भव्य पूज्यतम होता है। अतः सुखार्थी भव्यों के द्वारा पूज्य की पूजा का उल्लंघन नहीं किया जाता है ॥ ४३ ॥

जिस प्रकार पर्वतों में मेरु, समुद्रों में क्षीरसागर का महत्त्व होता है, उसी प्रकार धर्मियों का परोपकार करने में अत्यधिक महत्त्व होता है ॥ ४४ ॥

शल्य रहित लोगों को सद्धर्म की वृद्धि के लिए प्रीतिपूर्वक दान मानादि से सदा साधर्मियों के प्रति वात्सल्य रखना चाहिए ॥ ४५ ॥

तथा जैनधर्मानुयायी सुश्रावकों को नित्य रूप से गुरुओं की सारस्वरूप सेवा कर शास्त्र श्रवण करना चाहिए ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमज्जिनेन्द्र द्वारा कथित सप्तक्षेत्रों का बुद्धिरूपी धन वाले व्यक्तियों को नित्य अत्यधिक रूप से तर्पण करना चाहिए; क्योंकि ये सुख की खान हैं ॥ ४७ ॥

अन्त में तत्त्व को जानने वाले लोगों में श्रेष्ठ भव्य श्रावकों के द्वारा मोह और आसक्ति का त्याग कर संन्यास धारण किया जाता है ॥४८॥

भक्त लोगों को परमेष्ठियों की अनन्य शरण होकर, चित्त में अनुत्तर रत्नत्रय की शरण लेकर परमार्थ रूप से शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाला मैं कौन हूँ, इत्यादि तत्त्व संकल्पों के साथ संन्यास की उत्तम विधि करना चाहिए ॥ ४९-५० ॥

उसी प्रकार हे बुद्धिमान् राजा श्रेणिक! मेरे वचन सुनो। जिनोक्त सप्ततत्त्वों का लक्षण मैं तुमसे कहता हूँ ॥ ५१ ॥

सात तत्त्वों में जीवतत्त्व पूर्व है, जो कि सदा अनादिनिधन है। वह जीव भी निश्चित रूप से जिनों ने चेतना लक्षण वाला कहा है ॥ ५२ ॥

विद्वानों ने उसे दो उपयोगों से युक्त, स्वदेहपरिमाण वाला, कर्त्ता, भोक्ता और अमूर्त कहा है ॥ ५३ ॥

पुनर्जीवो द्विधा ज्ञेयो मुक्तः सांसारिकस्तथा ।
सर्वकर्मविनिर्मुक्तो मुक्तः सिद्धो निरञ्जनः ॥ ५४ ॥
निश्शरीरो निराबाधो निर्मलोऽनन्तसौख्यभाक् ।
विशिष्टाष्टगुणोपेतस्त्रैलोक्यशिखरस्थितः ॥ ५५ ॥
साकारोऽपि निराकारो निष्ठितार्थोऽखिलैः स्तुतः ।
अस्य स्मरणमात्रेण भव्याः संयान्ति तत्पदम् ॥ ५६ ॥
संसारी च द्विधा जीवो भव्याभव्यप्रभेदतः ।
भव्यो रत्नत्रये योग्यः स्वर्णपाषाणहेमवत् ॥ ५७ ॥
अभव्यश्चान्धपाषाणसमानो मुनिभिर्मतः ।
अनन्तानन्तकालेऽपि संसारं नैव मुञ्चति ॥ ५८ ॥
भव्यराशेः सकाशाच्च केचिद् भव्याः स्वकर्मभिः ।
शुभाशुभैः सुखं दुःखं भुञ्जानाः संसृतौ सदा ॥ ५९ ॥
कालादिलब्धितः प्राप्य जिनेन्द्रैः परिकीर्तितम् ।
द्विधा रत्नत्रयं सम्यक् समाराध्य तु निर्मलम् ॥ ६० ॥
शुक्लध्यानप्रभावेण हत्वा कर्माणि कर्मठाः ।
याता यान्ति च यास्यन्ति शाश्वतं मोक्षमुत्तमम् ॥ ६१ ॥

अजीवं पुद्गलद्रव्यं त्वं विजानीहि भूपते ।
पृथिव्यादिकषड् भेदं यथागमनिरूपितम् ॥ ६२ ॥

उक्तं च—

अइथूलथूल थूलं थूलसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं च सुहुमसुहुमं धरादियं होइ छब्भेयं ॥ ६३ ॥
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसय कम्म परमाणू ।
छव्विहभेयं भणियं पुग्गलदव्वं जिणिवेहिं ॥ ६४ ॥

अष्टस्पर्शादिभेदेन पुद्गलं विंशतिप्रमं ।
तथा विभावरूपेण स्यादनेकप्रकारकम् ॥ ६५ ॥
पञ्चप्रकारमिथ्यात्वैरव्रतैर्द्वादशात्मभिः ।
कषायैः पञ्चविंशत्या दशपञ्चप्रयोगकैः ॥ ६६ ॥

जीव दो प्रकार का जानना चाहिए—१. मुक्त, २. संसारी। सब कर्मों से रहित मुक्त, सिद्ध और निरंजन है ॥ ५४ ॥

वह शरीर रहित, निराबाध, निर्मल और अनन्त सुख वाला है, वह विशिष्ट आठ गुणों से युक्त है और तीनों लोकों के शिखर पर स्थित है ॥ ५५ ॥

वह साकार होने पर भी निराकार है, निष्ठित अर्थ वाला है, समस्त लोगों के द्वारा स्तुत्य है। इसके स्मरण मात्र से भव्य उसके पद को प्राप्त हो जाते हैं ॥ ५६ ॥

संसारी जीव दो प्रकार के हैं—१. भव्य और २. अभव्य। जिस प्रकार स्वर्ण पाषाण स्वर्ण बनने के योग्य होता है, उसी प्रकार भव्य रत्नत्रय के योग्य है ॥ ५७ ॥

मुनियों ने अभव्य को अन्ध पाषाण के समान माना है। वह अनन्तानन्त काल में भी संसार को नहीं छोड़ता है ॥ ५८ ॥

कोई भव्य कर्मठ अपने कर्मों से भव्यराशि के साथ संसार में सदा शुभ और अशुभ कर्मों से सुख और दुःख को भोगते हुए कालादि लब्धि पाकर जिनेन्द्रों के द्वारा कथित (निश्चय और व्यवहार) दो प्रकार के सम्यक् रत्नत्रय की आराधना करके, निर्मल शुक्लध्यान के प्रभाव से कर्मों का नाश कर शाश्वत उत्तम मोक्ष को चले गए हैं, चले जा रहे हैं और चले जायँगे ॥ ५९-६०-६१ ॥

हे राजन् ! तुम अजीव पुद्गल द्रव्य को जानो, जो कि पृथिव्यादि छह भेदों के रूप में आगम के अनुसार निरूपित है ॥ ६२ ॥

कहा भी है—

जिनेन्द्र भगवान् ने छह प्रकार का पुद्गल द्रव्य कहा है—अतिस्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म सूक्ष्म इनके उदाहरण क्रमशः पृथ्वी, जल, छाया, चतुरिन्द्रिय विषय, कर्म तथा परमाणु हैं ॥ ६३-६४ ॥

आठ स्पर्शादि के भेद से पुद्गल बीस प्रकार का होता है तथा विभाव रूप से अनेक प्रकार का होता है ॥ ६५ ॥

पाँच प्रकार का मिथ्यात्व, बारह प्रकार का अविरति, पच्चीस प्रकार की कषाय तथा पन्द्रह प्रकार के योगों से ॥ ६६ ॥

उक्तं च—

मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य आसवा होंति ।
पण बारस पणवीसा पण्णरसा हुंति तब्भेया ॥ ६७ ॥

कर्मणामास्रवो जन्तोर्भवेन्नित्यं प्रमादिनि ।
भग्नद्रोण्यां यथा नित्यं तोयपूरो विनाशकृत् ॥ ६८ ॥

कषायवशतो जीवः कर्मणां योग्यपुद्गलान् ।
आदत्ते नित्यशोऽनन्तान् स बन्धः स्याच्चतुर्विधः ॥ ६९ ॥

आद्यः प्रकृतिबन्धश्च स्थितिबन्धो द्वितीयकः ।
तृतीयश्चानुभागाख्यः प्रदेशाख्यश्चतुर्थकः ॥ ७० ॥

उक्तं च—

पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-प्पदेसभेदा दु चदुविहो बंधो ।
जोगा पयडि-पदेसा ठिदि-अणुभागा कसायदो हुंति ॥ ७१ ॥

व्रतैः समितिगुप्त्याद्यैरनुप्रेक्षाप्रचिन्तनैः ।
परीषहजयैर्वृत्तैरास्रवारिः स संवरः ॥ ७२ ॥

कर्मणामेकदेशेन क्षरणं निर्जरा मता ।
सकामाकामभेदेन द्विधा सा च प्रकीर्तिता ॥ ७३ ॥

यज्जिनेन्द्रतपोयोगैर्मुन्याद्यैः क्रियते बलात् ।
कर्मणां क्षरणं सा चाविपाकाभिमता बुधैः ॥ ७४ ॥

या च दुःखादिभिः काले कर्मणां निर्जरा स्वयम् ।
सा भवेत्सविपाकाख्या संसारे सरतां सदा ॥ ७५ ॥

सर्वेषां कर्मणां नाशहेतुर्यो भव्यदेहिनाम् ।
परिणामः स विज्ञेयो भावमोक्षो जिनैर्मतः ॥ ७६ ॥

यः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्जिनभाषितैः ।
शुक्लध्यानप्रभावेन सर्वेषां कर्मणां क्षयः ॥ ७७ ॥
द्रव्यमोक्षः स विज्ञेयोऽनन्तानन्तसुखप्रदः ।
शाश्वतः परमोत्कृष्टो विशिष्टाष्टगुणार्णवः ॥ ७८ ॥
मुक्तिक्षेत्रं जिनैः प्रोक्तं त्रैलोक्यशिखराश्रितम् ।
प्राग्भाराख्यशिलामध्ये छत्राकारं मनोहरम् ॥ ७९ ॥

कहा भी है—

मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये आस्रव होते हैं। उस आस्रव के भेद पाँच, बारह, पच्चीस तथा पन्द्रह होते हैं ॥ ६७ ॥

प्रमाद होने पर जन्तु के कर्मों का आस्रव नित्य होता है। जिस प्रकार टूटी हुई कुण्डी में नित्य जल का भरना विनाशकारी है ॥ ६८ ॥

कषाय के वश जीव नित्य अनन्त कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। वह बन्ध चार प्रकार का होता है ॥ ६९ ॥

१. प्रकृति बन्ध २. स्थिति बन्ध और ३. अनुभाग बन्ध ४. प्रदेश बन्ध ॥ ७० ॥

कहा भी है—

प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, 'इस प्रकार चार तरह का बन्ध होता है। योग से प्रकृति और प्रदेशबन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं ॥ ७१ ॥

व्रत, समिति, गुप्ति आदि से, अनुप्रेक्षाओं के प्रकृष्ट चिन्तन से, परीषहों के जय से, चारित्र से आस्रव का जो घातक है, वह संवर है ॥७२॥

कर्मों का एकदेश क्षय होना निर्जरा मानी गई है। वह सकाम निर्जरा और अकाम निर्जरा के भेद से दो प्रकार की कही गई है ॥ ७३ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए तपोयोग से मुनि आदि के द्वारा जो बलात् कर्मों का क्षरण किया जाता है, उसे विद्वानों ने अविपाक निर्जरा माना है ॥ ७४ ॥

संसार में भ्रमण करने वाले जीवों की दुःखादिक से स्वयं कर्मों की निर्जरा होती है, वह सविपाक नामक निर्जरा है ॥ ७५ ॥

भव्यजीवों का समस्त कर्मों के नाश का कारण रूप जो परिणाम है, उसे जिनेन्द्रों ने भावमोक्ष माना है ॥ ७६ ॥

जिनभाषित सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से शुक्लध्यान के प्रभाव से समस्त कर्मों का जो क्षय होना है ॥ ७७ ॥ वह द्रव्यमोक्ष जानना चाहिए, वह अनन्तानन्त सुख को देने वाला है। शाश्वत, परम उत्कृष्ट, विशिष्ट आठ गुणों का सागर ॥ ७८ ॥ मुक्ति क्षेत्र जिनों ने कहा है। वह तीनों लोकों के शिखर पर प्राग्भार नामक शिला के मध्य, छत्राकार और मनोहर रूप में स्थित है ॥ ७९ ॥

विस्तीर्णं योजनैः पञ्चचत्वारिंशत्प्रलक्षकैः ।
चन्द्रकान्तिपरिस्पर्द्धि विलसद्विमलप्रभम् ॥ ८० ॥

अष्टयोजनबाहुल्यं प्राग्भारापिण्डसंमितम् ।
विशिष्टमुद्रिकामध्यहीरकं वा निवेशितम् ॥ ८१ ॥

मनागूनैकगव्यूतिं मुक्त्वा तस्योपरि ध्रुवम् ।
तिष्ठन्ति तनुवाते ते सिद्धा वो मङ्गलप्रदाः ॥ ८२ ॥

भवन्तु कर्मणां शान्त्यै जरामरणवर्जिताः ।
पूजिता वन्दिता नित्यं समाराध्याः स्वचेतसि ॥ ८३ ॥

एतेषां सप्ततत्त्वानां श्रद्धानं दर्शनं शुभम् ।
मोक्षसौख्यतरोर्बीजं पालनीयं बुधोत्तमैः ॥ ८४ ॥

शुभो भावो भवेत्पुण्यं स्वर्गादिसुखसाधनम् ।
अशुभः परिणामोऽपि पापं श्वभ्रादिदुःखदम् ॥ ८५ ॥

एवं तत्त्वार्थसद्भावं लोकस्थितिसमन्वितम् ।
गौतमस्वामिना प्रोक्तं श्रुत्वा श्रीश्रेणिकः प्रभुः ॥ ८६ ॥
द्वादशोरुसभाभव्यैः सार्धं संतोषमाप्तवान् ।
यत्र श्रीगणभृद्वक्ता कः संतोषं प्रयाति न ॥ ८७ ॥

इत्थं श्रीगणनायकेन गदितं श्रीगौतमेनोत्तमम्,
जीवाजीवसुतत्त्वलक्षणमिदं श्रीमज्जिनेन्द्रोदितम् ।
श्रुत्वा श्रीमगधेश्वरो गुणनिधिः श्रीश्रेणिको भक्तितः
स्तुत्वा तं मुनिनायकं हितकरं भव्यैर्ननामोच्चकैः ॥ ८८ ॥

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षु-
श्रीविद्यानन्दिविरचिते श्रावकाचारतत्त्वोपदेशव्यावर्णनो
नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

वह पैंतालीस लाख योजन विस्तीर्ण है। उसकी सुशोभित निर्मल प्रभा चन्द्रमा की कान्ति से स्पर्द्धा करने वाली है ॥ ८० ॥

उस पर प्राग्भार नामक पिण्ड आठ योजन विस्तीर्ण है। वह ऐसा मालूम पड़ता है मानों विशिष्ट मुद्रिका के मध्य हीरा जड़ा हो ॥ ८१ ॥

उस पर निश्चित रूप से कुछ कम गव्यूति प्रमाण मंगल को प्रदान करने वाले सिद्ध तनुवात पर स्थित हैं ॥ ८२ ॥

वे जरा मरण से रहित सिद्ध कर्मों की शान्ति के लिए हों। वे नित्य अपने मन में पूजित, वन्दित और समाराधना के योग्य हैं ॥ ८३ ॥

इन सात तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यह मोक्षसुख रूपी वृक्ष का बीज है। उत्तम बुद्धिमानों को इसका पालन करना चाहिए ॥ ८४ ॥

शुभ भाव पुण्य है, यह स्वर्गादि सुख का साधन है। अशुभ परिणाम पाप है, जो कि नरकादि दुःखों को देने वाला है ॥ ८५ ॥

इस प्रकार लोकस्थिति से युक्त तत्त्वार्थ सद्भाव को, जो कि गौतम स्वामी ने कहा था, सुन कर श्रेणिक राजा ॥ ८६ ॥ विस्तीर्ण बारह सभाओं के भव्यों के साथ सन्तोष को प्राप्त हुआ। जहाँ पर श्री गणधर देव वक्ता हों, वहाँ कौन सन्तोष को प्राप्त नहीं होता ? ॥ ८७ ॥

इस प्रकार इस श्रीमज्जिनेन्द्र के द्वारा कहे हुए उत्तम गणधर के द्वारा कथित जीव और अजीव तत्त्व के लक्षण को सुनकर गुणों के निधि मगध-राज श्री श्रेणिक ने भक्तिपूर्वक गुणों की निधि स्वरूप भव्यों के लिए हितकारी उन मुनिनायक की स्तुति कर अत्यधिक नमस्कार किया ॥८८॥

इस प्रकार श्री सुदर्शन चरित में पञ्चनमस्कार माहात्म्यप्रदर्शक मुमुक्षु श्री विद्यानन्दि विरचित श्रावकाचार तत्त्वोपदेश व्यावर्णन नामक द्वितीय अधिकार समाप्त हुआ।

तृतीयोऽधिकारः

अथ प्रभुं गुरुं नत्वा पुनः प्राह कृताञ्जलिः ।
अहो स्वामिन् जगद्बन्धुस्त्वं सदा कारणं विना ॥ १ ॥

मेघो वा कल्पवृक्षो वा दिव्यचिन्तामणिर्यथा ।
तथा त्वं त्रिजगद्भव्यपरोपकृतितत्परः ॥ २ ॥

अन्तकृत्केवली योऽत्र वीरनाथस्य पञ्चमः ।
सुदर्शनमुनिस्तस्य चरित्रं भुवनोत्तमम् ॥ ३ ॥

तदहं श्रोतुमिच्छामि श्रीमतां सुप्रसादतः ।
विधाय करुणां देव तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

तन्निशम्य गणाधीशश्चतुर्ज्ञानविराजितः ।
संजगाद शुभां वाणीं परमानन्ददायिनीम् ॥ ५ ॥

शृणु त्वं भो सुधी राजन्नत्रैव भरताह्वये ।
क्षेत्रे तीर्थेशिनां जन्मपवित्रे परमोदये ॥ ६ ॥

अङ्गदेशोऽस्ति विख्यातः संपदासारसंभृतः ।
नित्यं भव्यजनाकीर्णपत्तनाद्यैर्विराजितः ॥ ७ ॥

विशिष्टाष्टादशप्रोक्तधान्यानां राशयः सदा ।
यत्रोन्नता विराजन्ते सतां वा पुण्यराशयः ॥ ८ ॥

यत्र श्रीमज्जिनेन्द्राणां धर्मः शर्मशतप्रदः ।
दशलाक्षणिको नित्यं वर्तते भुवनोत्तमः ॥ ९ ॥

खलाख्या यत्र सस्यानां निष्पत्तिस्थानकेऽभवत् ।
नान्यः कोऽपि खलो लोके परपीडाविधायकः ॥ १० ॥

व्रतानां पालने यत्र योषितां च कुचद्वये ।
काठिन्यं विद्यते नैव जनानां पुण्यकर्मणि ॥ ११ ॥

कज्जलं लेखने यत्र नारीणां लोचनेषु च ।
वर्तते न पुनर्यत्र कुले गोत्रे च देहिनाम् ॥ १२ ॥

म्लानता दृश्यते यत्र भुक्तपुष्पप्रदामसु ।
प्रजानां न मुखेषूच्चैः पूर्वपुण्यप्रभावतः ॥ १३ ॥

तृतीयोऽधिकारः

अनन्तर राजा श्रेणिक ने गुरु को नमस्कार कर पुनः अंजलि बाँधकर कहा—हे स्वामी ! आप कारण के बिना सदा जगद्बन्धु हैं ॥ १ ॥

मेघ, कल्पवृक्ष अथवा दिव्य चिन्तामणि जिस प्रकार परोपकार करने में तत्पर रहते हैं, उसी प्रकार तुम तीनों लोकों के भव्यों का परोपकार करने में तत्पर हो ॥ २ ॥

जो यहाँ पर वीरनाथ का पञ्चम अन्तकृत् केवली है, उस सुदर्शन मुनि का चरित्र भुवनों में उत्तम है ॥ ३ ॥

श्रीमानों की सुकृपा से उसे मैं सुनना चाहता हूँ। हे देव ! करुणा कर उस चरित्र को तुम मुझसे कहने के योग्य हो ॥ ४ ॥

उसे सुनकर चार ज्ञान से सुशोभित गणधर देव परम आनन्द देने वाली शुभ वाणी में बोले ॥ ५ ॥

हे उत्तम बुद्धि वाले राजन् सुनो ! तीर्थंकरों के जन्म से पवित्र परमोदय भरत नाम के क्षेत्र में ॥ ६ ॥ सार रूप सम्पत्तियों से भरा हुआ विख्यात अङ्गदेश है। वह नित्य भव्यजनों से व्याप्त नगर आदि से सुशोभित है ॥ ७ ॥

जहाँ पर विशिष्ट कही हुई अठारह अठारह धान्य की उन्नत राशियाँ सुशोभित होती हैं। मानों वे सज्जनों की पुण्य राशियाँ हों ॥ ८ ॥

जहाँ सैकड़ों सुखों को प्रदान करने वाला श्रीमज्जिनेन्द्रों का भुवनों में उत्तम दशलाक्षणिक धर्म नित्य विद्यमान है ॥ ९ ॥

जहाँ पर धान्यों की निष्पत्ति का स्थान खल नामका हुआ। अन्य कोई परपीड़ादायक खल पुरुष नहीं है ॥ १० ॥

जहाँ पर यदि कठिनता है तो व्रतों के पालन और स्त्रियों के स्तनद्वय में हैं। लोगों के पुण्य कर्म में काठिन्य नहीं है ॥ ११ ॥

जहाँ पर कज्जल लेखन में और नारियों के लोचनों में है। प्राणियों के कुल और गोत्र में कालिमा नहीं है ॥ १२ ॥

उपभोग की हुई पुष्प मालाओं में जहाँ म्लानता दिखाई देती है। पूर्व पुण्य के प्रभाव से प्रजाओं के मुखों पर अत्यधिक म्लानता नहीं दिखाई देती है ॥ १३ ॥

दण्डशब्दोऽपि यत्रास्ति छत्रे नैव प्रजाजने ।
न्यायमार्गप्रवृत्तित्वाद्राज्ञां निर्लोभतस्तथा ॥ १४ ॥

गजादौ दमनं यत्र तपस्येव तपस्विनाम् ।
इन्द्रियेषु च विद्येत दुष्टबुद्धया न कस्यचित् ॥ १५ ॥

चन्द्रे दोषाकरत्वं च वर्तते न प्रजासु च ।
बन्धनं यत्र पुष्पेषु स्तम्भनं दुर्मनस्यलम् ॥ १६ ॥

मिथ्यात्वं सुपरित्यज्य ज्ञात्वा हालाहलोपमम् ।
प्रजा यत्र प्रकुर्वन्ति सद्धर्मं जिनभाषितम् ॥ १७ ॥

पात्रदानं जिनेन्द्रार्चां व्रतं शीलं गुणोज्ज्वलम् ।
सोपवासं विधायोच्चैः साधयन्ति प्रजा हितम् ॥ १८ ॥

यत्र पुष्पफलैर्नम्रसद्वनानि घनानि च ।
राजन्ते सर्वतर्पीणि भव्यानां सुकुलानि वा ॥ १९ ॥

स्वच्छा जलाशया यत्र पद्माकरसमन्विताः ।
विस्तीर्णास्तापहन्तारस्ते सतां मानसोपमाः ॥ २० ॥

यत्र क्षेत्राणि शोभन्ते सर्वसस्यभृतानि च ।
दारिद्र्यछेदकान्युच्चैर्भव्यवृन्दानि वा भुवि ॥ २१ ॥

सरांसि यत्र शोभन्ते चेतांसीव सतां सदा ।
सुवृत्तानि विशालानि तृषातापहराणि च ॥ २२ ॥

यत्र भव्या वसन्त्येवं पूर्वपुण्यप्रसादतः ।
धनैर्धान्यैर्जनैः पूर्णा जिनधर्मपरायणाः ॥ २३ ॥

नार्यो यत्र विराजन्ते रूपसंपद्गुणान्विताः ।
कुर्वन्त्यो जैनसद्धर्मं चतुर्विधमनुत्तरम् ॥ २४ ॥

यत्र सर्वत्र राजन्ते पुरग्रामवनादिषु ।
जिनेन्द्रप्रतिमोपेताः प्रासादाः सुमनोहराः ॥ २५ ॥

जहाँ पर दण्ड शब्द केवल छत्र में ही है, प्रजा जहाँ की न्यायमार्ग में प्रवृत्त रहती है तथा राजा निर्लोभी है, अतः प्रजाओं में दण्ड शब्द नहीं है ॥ १४ ॥

हस्ति आदि में पाया जाने वाला दमन जहाँ तपस्वियों के तप और इन्द्रियों में ही विद्यमान है। दुष्टबुद्धि के कारण किसी का दमन नहीं होता है ॥ १५ ॥

दोषाकरत्व (रात्रि का करना) चन्द्रमा में है, प्रजा में नहीं। जहाँ बन्धन पुष्प में और अत्यधिक रोक दुर्मनों पर ही है ॥ १६ ॥

जहाँ पर मिथ्यात्व को हालाहल के समान जानकर प्रजायें जिन-भाषित सद्धर्म का पालन करती हैं ॥ १७ ॥

प्रजा पात्रदान, जिनेन्द्र अर्चा, व्रत, गुणोज्ज्वल शील उपवासपूर्वक अत्यधिक रूप से कर जहाँ हित का साधन करती हैं ॥ १८ ॥

जहाँ पर पुष्प और फलों से नम्र, सबको तृप्त करने वाले घने, अच्छे वन सुशोभित होते हैं अथवा भव्यों के पुष्प और फलों से नम्र, सबको तृप्त करने वाले, घने, अच्छे कुल सुशोभित होते हैं ॥ १९ ॥

जहाँ पर कमलों के समूह से समन्वित, विस्तीर्ण और ताप को नष्ट करने वाले स्वच्छ जलाशय हैं। उनकी उपमा सज्जनों के मन से ही जा सकती है। सज्जनों के मन भी स्वच्छ, लक्ष्मी से समन्वित, विस्तीर्ण और ताप को नष्ट करने वाले होते हैं ॥ २० ॥

जहाँ पृथ्वी पर समस्त धान्यों से भरे हुए और दरिद्रता का विनाश करने वाले खेत अथवा भव्यों के समूह सुशोभित हैं ॥ २१ ॥

जहाँ सदा गोल-गोल, विशाल और तृषा के ताप को हरने वाले तालाब प्रसन्नतापूर्वक सज्जनों के चित्तों के समान सुशोभित होते हैं। सज्जनों के चित्त भी अच्छे आचरण वाले (सुवृत्त) विशाल और तृषा के ताप को हरण करने वाले होते हैं ॥ २२ ॥

जहाँ पर पूर्व पुण्य की कृपा से धन, धान्य और जनों से पूर्ण, जिनधर्म परायण भव्य रहते हैं ॥ २३ ॥

जहाँ पर रूप, सम्पत्ति और गुणों से युक्त नारियाँ अनुत्तर चार प्रकार के (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप) उत्तम धर्म का आचरण करती हुईं सुशोभित होती हैं ॥ २४ ॥

जहाँ पर नगर, ग्राम और वनादि में जिनेन्द्र की प्रतिमाओं से युक्त सुमनोहर प्रासाद सुशोभित होते हैं ॥ २५ ॥

अनेकभव्यसंदोहजयनिर्घोषसंचयैः ।
गीतवादित्रपूजादिमहोत्सवशतैरपि ॥ २६ ॥
तोरणध्वजमाङ्गल्यैः स्वर्णकुम्भप्रकीर्णकैः ।
शोभन्ते सर्वभव्यानां परमानन्ददायिनः ॥ २७ ॥
वनादौ यत्र सर्वत्र मुनीन्द्रा ज्ञानलोचनाः ।
स्वच्छचित्ताः प्रकुर्वन्ति तपोध्यानोपदेशनम् ॥ २८ ॥
वापीकूपप्रपा यत्र सन्ति पान्थोपकारिकाः ।
सतां प्रवृत्तयो वात्र दानमानासनादिभिः ॥ २९ ॥
दानिनो यत्र वर्तन्ते शक्तिभक्तिशुभोक्तयः ।
सत्यं त एव दातारो ये वदन्ति प्रियं वचः ॥ ३० ॥
तस्याङ्गविषयस्योच्चैर्मध्ये चम्पापुरी शुभा ।
वासुपूज्यजिनेन्द्रस्य जन्मना या पवित्रिता ॥ ३१ ॥
नानाहर्म्यावली यत्र भव्यनामावली यथा ।
सारसंपद्भृता नित्यं शोभते शर्मदायिनी ॥ ३२ ॥
जिनेन्द्रभवनान्युच्चैर्यत्र कुम्भध्वजोत्करैः ।
आह्वयन्तीव पूजार्थं नित्यं सर्वनरामरान् ॥ ३३ ॥
साररत्नसुवर्णादिप्रतिमाभिर्विरेजिरे ।
भव्यानां शर्मकारीणि मेरुशृङ्गाणि वा क्वचित् ॥ ३४ ॥
घण्टाटङ्कारवादित्रनिर्घोषैर्भव्यसंस्तवैः ।
पूजोत्सवैर्हरन्त्यत्र यानि भव्यमनांस्यलम् ॥ ३५ ॥
प्राकारखातिकाट्टालतोरणाद्यैर्विभूषिता ।
पुरी या राजराजस्य रेजे वा सुमनोहरा ॥ ३६ ॥
अनेकरत्नमाणिक्यचन्दनागुरुवस्तुभिः ।
पट्टकूलादिभिर्योच्चैर्जयति स्म निधीनपि ॥ ३७ ॥
यत्र भव्या धनैर्धान्यैः पूर्वपुण्येन नित्यशः ।
सम्यक्त्वव्रतसंयुक्ताः सप्तव्यसनदूरगाः ॥ ३८ ॥
जैनीयात्राप्रतिष्ठाभिर्गरिष्ठाभिर्निरन्तरम् ।
पात्रदानजिनार्चाभिः साधयन्ति निजं हितम् ॥ ३९ ॥

उन प्रासादों में अनेक भव्यजनों के समूह द्वारा की हुई जय निर्घोष होती रहती है, गीत, वादित्र, पूजादि से युक्त सैकड़ों महोत्सव होते रहते हैं ॥ २६ ॥

समस्त भव्यों को परम आनन्द देने वाले वे प्रासाद, तोरण, ध्वज और माङ्गलिक स्वर्ण कुम्भ के समूहों से सुशोभित होते हैं ॥ २७ ॥

जहाँ पर वनादि में सब जगह ज्ञान लोचन, स्वच्छचित्त मुनीन्द्र तप और ध्यान का उपदेश दिया करते हैं ॥ २८ ॥

जहाँ पर बावड़ी, कूप और प्याऊ पथिकों की उपकारक हैं। अथवा यहाँ पर सज्जनों की प्रवृत्तियाँ दान, मान और आसनादि से युक्त हैं ॥ २९ ॥

जहाँ पर दानी शक्ति, भक्ति और शुभ उक्तियों वाले हैं। सचमुच वे ही दातार होते हैं, जो प्रिय वचन बोलते हैं ॥ ३० ॥

उस अङ्ग देश के अत्यधिक मध्य में शुभा चम्पापुरी है। जो वासुपूज्य जिनेन्द्र के जन्म से पवित्र हुई थी ॥ ३१ ॥

जहाँ पर भव्यों के नामों के समूह के समान नाना बड़े-बड़े भवनों का समूह सार रूप सम्पत्ति से भरा हुआ और सुखदायक होकर सुशोभित होता है ॥ ३२ ॥

जहाँ पर जिनेन्द्र भवन अत्यधिक रूप से कुम्भ और ध्वजाओं के समूह से नित्य समस्त मनुष्यों और देवताओं को मानों पूजा के लिए आमन्त्रित करता है ॥ ३३ ॥

वे जिनेन्द्र भवन पृथ्वी पर भव्यों को सुख देने वाले मेरु शिखर के समान सार रूप रत्न तथा सुवर्णादि की प्रतिमाओं से सुशोभित हैं ॥ ३४ ॥

जो घंटाओं की टङ्कार, बाजों के घोष, भव्य जनों के द्वारा की हुई स्तुतियों तथा पूजोत्सवों से भव्यजनों के मनों को अत्यधिक रूप से हरते हैं ॥ ३५ ॥

प्राकार, खाई, अट्टाल तथा तोरण आदि से विभूषित जो कुबेर की सुमनोहर पुरी के समान सुशोभित होती है ॥ ३६ ॥

जो अनेक रत्न, माणिक्य, चन्दन और अगुरु रूप वस्तुओं से तथा रेशमी वस्त्रादि से (कुबेर की) निधियों को भी पराजित करती थी ॥ ३७ ॥

सम्यक्त्व तथा व्रत से संयुक्त तथा सात व्यसनों से दूर जहाँ भव्य पूर्वपुण्य से धन धान्यों से ॥ ३८ ॥ बड़ी-बड़ी जैनी यात्रा और प्रतिष्ठाओं से तथा पात्रदान और जिनेन्द्र भगवान् की अर्चना से अपना हित साधते हैं ॥ ३९ ॥

यत्र नार्योऽपि रूपाढ्याः संपदाभिर्मनोहराः ।
सम्यक्त्वव्रतसद्वस्त्ररत्नभूषाविराजिताः ॥ ४० ॥
सत्पुत्रफलसंयुक्ता दानपूजादिमण्डिताः ।
कल्पवल्लीर्जयन्त्युच्चैः परोपकृतितत्पराः ॥ ४१ ॥
यत्र देवेन्द्रनागेन्द्रनरेन्द्राद्यैः प्रपूजितः ।
वासुपूज्यो जिनो जातः सा पुरी केन वर्ण्यते ॥ ४२ ॥

तत्र चम्पापुरीमध्ये बभौ राजा प्रजाहितः ।
प्रतापनिर्जितारातिर्धात्रीवाहननामभाक् ॥ ४३ ॥
समन्तादस्य पादाब्जद्वयं परमहीभुजः ।
सेवन्ते भक्तितो नित्यं पद्मं वा भ्रमरोत्कराः ॥ ४४ ॥
नीतिशास्त्रविचारज्ञो रूपेण जितमन्मथः ।
धर्मवान् स बभौ राजा वित्तेन धनदोपमः ॥ ४५ ॥

राजविद्याभिरायुक्तः सप्तव्यसनवर्जितः ।
दाता भोक्ता प्रजाभीष्टो मदमुक्तो विचक्षणः ॥ ४६ ॥
सप्ताङ्गराज्यसंपन्नः सुधीः पञ्चाङ्गमन्त्रवित् ।
वैरिषड्वर्गनिर्मुक्तः शक्तित्रयविराजितः ॥ ४७ ॥

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोषदेशदुर्गबलाश्रितम् ।
सप्ताङ्गराज्यमित्येष प्राप्तवान् जिनभाषितम् ॥ ४८ ॥
सहायं साधनोपायं देशकोषबलाबलम् ।
विपत्तेश्च प्रतीकारं पञ्चाङ्गं मन्त्रमाश्रयत् ॥ ४९ ॥
कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः ।
अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवन्त्यमी ॥ ५० ॥

प्रभुशक्तिर्भवेदाद्या मन्त्रशक्तिर्द्वितीयका ।
उत्साहशक्तिराख्याता तृतीया भूभुजां शुभा ॥ ५१ ॥
इत्यादिभूरिसंपत्तेर्भूपतेस्तस्य भामिनी ।
नाम्नाभयमती ख्याता रूपलावण्यमण्डिता ॥ ५२ ॥
शची शक्रस्य चन्द्रस्य रोहिणीव रवेर्यथा ।
रण्णादेवी च तस्येष्टा साभवत् प्राणवल्लभा ॥ ५३ ॥

जहाँ पर सम्यक्त्व, व्रत, उत्तम वस्त्र, रत्न तथा वेशभूषा से सुशोभित नारियाँ भी रूप से सम्पन्न और सम्पदाओं से मनोहर हैं ॥ ४० ॥

जो नगरी सत्पुत्र और फल से संयुक्त है, दान, पूजादि से मण्डित है तथा जहाँ परोपकार में तत्पर कल्पलतायें अत्यधिक जयशील हैं ॥ ४१ ॥

जहाँ पर देवेन्द्र, नागेन्द्र और नरेन्द्रादि से पूजित वासुपूज्य जिन ने जन्म लिया, उस नगरी को कौन वर्णन कर सकता है ? ॥ ४२ ॥

उस चम्पापुरी के मध्य प्रजा का हितकारी, प्रताप से शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला धात्रीवाहन नामक राजा सुशोभित हुआ ॥४३॥

जिस परम राजा के चरणकमल युगल को नित्य रूप से भ्रमरों के समूह कमलों के समान चारों ओर से सेवन करते हैं ॥ ४४ ॥

नीतिशास्त्र को जानने वाला, रूप में कामदेव को जीतने वाला, धर्मवान् वह राजा धन की अपेक्षा कुबेर के समान सुशोभित हुआ ॥४५॥

वह राजविद्याओं में लगा हुआ, सात व्यसनों से रहित, दाता, भोक्ता, प्रजाओं को अभीष्ट, मद रहित, निपुण ॥ ४६ ॥ सप्तांग राज्य से सम्पन्न, विद्वान्, पंचांग मन्त्र को जानने वाला, छः प्रकार के (काम, क्रोधादि) शत्रुओं से रहित तथा (प्रभु, मन्त्र और उत्साह) तीन शक्तियों से सुशोभित था ॥ ४७ ॥

उसने जिनभाषित स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोष, देश, दुर्ग और सेना के आश्रित इस सप्तांग राज्य को प्राप्त किया था ॥ ४८ ॥

वह सहाय, साधनोपाय, देश तथा कोश का बलाबल तथा विपत्ति का प्रतीकार, इस प्रकार पंचांग मंत्र का आश्रय लेता था ॥ ४९ ॥

काम, क्रोध, मान, लोभ, हर्ष तथा मद ये राजा के छः प्रकार के अन्तरंग शत्रुओं का समूह होता है ॥ ५० ॥

पहली प्रभुशक्ति, दूसरी मंत्रशक्ति तथा तीसरी उत्साह शक्ति, इस प्रकार राजाओं की शुभा तीन शक्तियाँ होती हैं ॥ ५१ ॥

इत्यादि अत्यधिक सम्पत्ति वाले उस राजा की रूप और लावण्य से मण्डित अभयमती नामक पत्नी थी ॥ ५२ ॥

जिस प्रकार शची इन्द्र की, रोहिणी चन्द्रमा की तथा सूर्य की पत्नी होती है उसी प्रकार उसकी इष्ट प्राणवल्लभा रणादेवी हुई ॥५३ ॥

कामभोगरसाधारकूपिका कमलेक्षणा ।
भूपतेश्चित्तसारङ्गवागुरा मधुरस्वरा ॥ ५४ ॥
तया सार्धं यथाभीष्टं भुञ्जन् भोगान् मनःप्रियान् ।
स राजा सुखतस्तस्थौ लक्ष्म्या वा पुरुषोत्तमः ॥ ५५ ॥
श्रेष्ठी वृषभदासाख्यस्तत्रासीत्सर्वकार्यवित् ।
उत्तमश्रेष्ठिना राज्यं स्थिरीभवति भूपतेः ॥ ५६ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रपादाब्जसेवनैकमधुव्रतः ।
सद्दृष्टिः सद्गुरोर्भक्तः श्रावकाचारतत्परः ॥ ५७ ॥
जिनेन्द्रभवनोद्धारप्रतिमापुस्तकादिषु ।
चतुःप्रकारसंघेषु वत्सलः परमार्थतः ॥ ५८ ॥
एवं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं शर्मसस्यप्रदायकम् ।
स्वचित्तामृतधाराभिस्तर्पयामास शुद्धधीः ॥ ५९ ॥
यो जिनेन्द्रपदाम्भोजचर्चनं चित्तरञ्जनम् ।
करोति स्म सदा भव्यः स्वर्गमोक्षैककारणम् ॥ ६० ॥
यः सदा नवभिः पुण्यैर्दातृसप्तगुणान्वितः ।
पात्रदानेन पूतात्मा श्रेयांसो वापरो नृपः ॥ ६१ ॥
स श्रेष्ठी श्रावकानां च दयालुर्दानमण्डितः ।
संजातः परमानन्ददायको वा सुरद्रुमः ॥ ६२ ॥
तत्प्रिया जिनमत्याख्या रूपसौभाग्यसंयुता ।
सतीव्रतपताकेव कुलमन्दिरदीपिका ॥ ६३ ॥
श्रीजिनेषु मतिस्तस्याः संजातातीव निर्मला ।
ततोऽस्या जिनमत्याख्याभवत्सार्था शुभप्रदा ॥ ६४ ॥
यद्रूपसंपदं वीक्ष्य जगत्प्रीतिविधायिनीम् ।
जाता देवाङ्गना नूनं मेषोन्मेषविवर्जिताः ॥ ६५ ॥
सद्दानकल्पवल्लीव परमानन्ददायिनी ।
पूजया जिनराजस्य शची वा भक्तितत्परा ॥ ६६ ॥
श्रावकाचारपूतात्मा पवित्रीकृतभूतला ।
दयाक्षमागुणैर्नित्यं सा रेजे वा मुनेर्मतिः ॥ ६७ ॥

वह कामभोग रूपी रस की आधारभूत कूपी, कमल के समान नेत्र वाली, मधुरस्वरा और राजा के चित्तरूपी मृग को बाँधने की रस्सी थी ॥ ५४ ॥

उसके साथ मन को प्रिय लगने वाला यथाइष्ट भोगों को भोगता हुआ वह राजा सुखपूर्वक स्थित था, जिस प्रकार लक्ष्मी के साथ पुरुषोत्तम सुखपूर्वक रहता है ॥ ५५ ॥

उसका समस्त कार्यों को जानने वाला वृषभदास श्रेष्ठी था। उत्तम सेठ से राजा का राज्य स्थिर होता है ॥ ५६ ॥

वह सेठ श्रीमज्जिनेन्द्र के चरणकमल के सेवन का एकमात्र भ्रमर था। वह सम्यग्दृष्टि, सद्गुरु का भक्त तथा श्रावकाचार में तत्पर था ॥ ५७ ॥

वह जिनेन्द्र भवन, प्रतिमा, पुस्तकादिक का उद्धार करता था और यथार्थ रूप से चार प्रकार के संघ के प्रति वात्सल्यभाव से युक्त था ॥५८॥

इस प्रकार शुद्ध बुद्धिवाला वह श्री जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे हुए सुख रूपी धान्य को देने वाले अपने चित्तरूपी अमृत की धारा से सबको सन्तुष्ट करता था ॥ ५९ ॥

जो भव्य स्वर्ग और मोक्ष के एकमात्र कारण चित्त को रंजित करने वाले जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमल की पूजा सदा करता था। ६० ॥

जो पवित्रात्मा सदा नव पुण्यों से, दाता के सात गुणों से युक्त होकर पात्रदान से पवित्रात्मा होकर मानों दूसरा ही श्रेयांस राजा था ॥ ६१ ॥

वह श्रेष्ठि याचकों के प्रति दयालु था, दान से सुशोभित था अथवा परम आनन्द का देनेवाला कल्पवृक्ष उत्पन्न हुआ था ॥ ६२ ॥

उसकी रूप और सौभाग्य से युक्त, सतीव्रत की पताका स्वरूप, कुल मन्दिर की दीपिका जिनमती नामक प्रिया थी ॥ ६३ ॥ श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्रति उसकी बुद्धि अत्यन्त निर्मला हुई, अतः इसका शुभप्रद जिनमती नाम सार्थक हुआ ॥ ६४ ॥

संसार को प्रीति उत्पन्न करने वाली जिसकी रूप सम्पदा को देखकर निश्चित रूप से देवाङ्गना निमेष की टिमकार से रहित हुई ॥ ६५ ॥ वह परम आनन्ददायिनी कल्पलता के समान थी। अथवा जिनराज की पूजा से भक्तितत्परा शची थी ॥ ६६ ॥

जिसने पृथ्वी तल को पवित्र किया है ऐसी श्रावकाचार से पवित्र आत्मा वाली वह दया, क्षमा, रूप, गुण से मुनि की बुद्धि के समान सुशोभित हुई ॥ ६७ ॥

एवं स्वपुण्यपाकेन श्रेष्ठिनी गुणशालिनी ।
एकदा सुखतः सुप्ता मन्दिरे सुन्दराकृतिः ॥ ६८ ॥
निशायाः पश्चिमे यामे स्वप्ने संपश्यति स्म सा ।
मेरुं सुदर्शनं रम्यं दिव्यं कल्पद्रुमं मुदा ॥ ६९ ॥
स्वर्विमानं सुरैः सेव्यं विस्तीर्णं च सरित्पतिम् ।
प्रज्वलन्तं शुभं वह्निं प्रध्वस्तध्वान्तसंचयम् ॥ ७० ॥
संतुष्टा प्रातरुत्थाय स्मृतपञ्चनमस्कृतिः ।
प्राभातिकक्रियां कृत्वा जिनमातेव सन्मतिः ॥ ७१ ॥
वस्त्राभरणमादाय विकसन्मुखपङ्कजा ।
सुनम्रा श्रेष्ठिनं प्राह स्वस्वप्नान् धर्मसूचकान् ॥ ७२ ॥
श्रेष्ठी वृषभदासस्तु तान्निशम्य प्रहृष्टवान् ।
शुभं श्रुत्वा सुधीः को वा भूतले न प्रमोदवान् ॥ ७३ ॥
जगौ श्रेष्ठी शुभं भद्रे तथापि जिनमन्दिरम् ।
गत्वा गुरुं प्रपृच्छावो ज्ञानिनं तत्त्ववेदिनम् ॥ ७४ ॥
ततस्तौ बन्धुभिर्युक्तौ पूजाद्रव्यसमन्वितौ ।
जिनेन्द्रभवनं गत्वा परमानन्ददायकम् ॥ ७५ ॥
पूजयित्वा जिनानुच्चैर्विशिष्टाष्टविधार्चनैः ।
संस्तुत्वा नमतः स्मोच्चैर्भव्यानामीदृशी मतिः ॥ ७६ ॥
ततः सुगुप्तनामानं मुनीन्द्रं धर्मदेशकम् ।
प्रणम्य परया प्रीत्यापृच्छत्स्वप्नफलं वणिक् ॥ ७७ ॥
तदा ज्ञानी मुनिः प्राह परोपकृतितत्परः ।
शृणु श्रेष्ठिन् गिरीन्द्रस्य दर्शनेन सुदर्शनः ॥ ७८ ॥
पुत्रो भावी पवित्रात्मा त्वत्कुलाम्भोजभास्करः ।
चरमाङ्गो महाधीरो विशुद्धः शीलसागरः ॥ ७९ ॥
दर्शनाद्देववृक्षस्य पुत्रो लक्ष्मीविराजितः ।
दाता भोक्ता दयामूर्तिर्भविष्यति न संशयः ॥ ८० ॥
सुरेन्द्रभवनस्यात्र दर्शनेन सुरैर्नतः ।
जगन्मान्यो विचारज्ञः सज्ञेयः परमोदयः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार अपने पुण्य के परिपाक से श्रेष्ठिनी, गुणशालिनी, सुन्दर आकृति वाली वह सुखपूर्वक मन्दिर में सोयी थी ॥ ६८ ॥

रात्रि के अन्तिम पहर में उसने स्वप्न में रम्य सुदर्शन मेरु और दिव्य कल्पवृक्ष प्रीतिपूर्वक देखा ॥ ६९ ॥

उसने देवताओं के द्वारा सेवन करने योग्य स्वर्गविमान, विस्तीर्ण समुद्र, जलती हुई शुभ अग्नि तथा नष्ट हुए अन्धकार के समूह को देखा ॥ ७० ॥

जिन माता के समान उत्तम बुद्धि वाली, सन्तुष्ट हो, प्रातः उठकर, पञ्च नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर प्रातःकालीन क्रियाओं को कर विकसित मुखकमल वाली होकर वस्त्र और आभूषण को लाकर सुनम्र हो उसने सुख के सूचक अपने स्वप्नों के विषय में श्रेष्ठी को कहा ॥ ७१-७२ ॥

श्रेष्ठी वृषभदास उनको सुनकर हर्षित हुए। शुभ को सुनकर पृथ्वी-तलपर कौन बुद्धिमान् प्रमोदवान् नहीं होता है ॥ ७३ ॥

सेठ ने कहा कि हे भद्रे ! यद्यपि स्वप्न शुभ हैं, फिर भी हम दोनों जिनमन्दिर जाकर ज्ञानी, तत्त्व-वेदी गुरु से पूछें ॥ ७४ ॥

अनन्तर बन्धुओं से युक्त उन दोनों ने पूजा द्रव्य से युक्त होकर परम आनन्ददायक जिनेन्द्र भवन जाकर विशिष्ट आठ प्रकार की अर्चनाओं से जिनेन्द्र देव की अत्यधिक पूजा कर, स्तुति कर नमस्कार किया। ठीक ही है, भव्यों की इसी प्रकार बुद्धि होती है ॥ ७५-७६ ॥

अनन्तर वणिक् ने सुगुप्त नामक धर्मदेशक मुनीन्द्र से अत्यधिक प्रीति से प्रणाम कर स्वप्नों का फल पूछा ॥ ७७ ॥

तब परोपकार में तत्पर ज्ञानी मुनि ने कहा—हे सेठ ! सुनो। गिरीन्द्र के देखने से सुदर्शन नामक तुम्हारे कुल कमल का सूर्य पवित्रात्मा पुत्र होगा। वह चरमशरीरी, महाधीर, विशुद्ध और शील का सागर होगा ॥ ७८-७९ ॥

कल्पवृक्ष के देखने से पुत्र लक्ष्मी से सुशोभित, दाता, भोक्ता और दयामूर्ति होगा, इसमें संशय नहीं है ॥ ८० ॥

यहाँ पर सुरेन्द्र भवन के दर्शन से देवों के द्वारा नत, जगन्मान्य, विचारज्ञ, ज्ञेय से युक्त और परम उदय वाला होगा ॥ ८१ ॥

जलधेर्वीक्षणादेव गम्भीरः सागरादपि ।
श्रावकाचारपूतात्मा जिनभक्तिपरायणः ॥ ८२ ॥
अग्नेर्दर्शनतो नूनं पुत्रस्ते गुणसागरः ।
घातिकर्मेन्धनं दग्ध्वा केवली संभविष्यति ॥ ८३ ॥
इत्यादिकं समाकर्ण्य श्रेष्ठी भार्यादिसंयुतः ।
स्वप्नानां स फलं तुष्टः प्रा[illegible]रसा हृदि ॥ ८४ ॥
नान्यथा मुनिनाथोक्तमिति ध्यायन् सुधीर्मुदा ।
विश्वासः सद्गुरूणां यः स एव सुखसाधनम् ॥ ८५ ॥

ततः श्रेष्ठी प्रियायुक्तः सज्जनैः परिवारितः ।
नत्वा गुरुं परं प्रीत्या समागत्य स्वमन्दिरम् ॥ ८६ ॥
कुर्वन् विशेषतो धर्मं पवित्रं जिनभाषितम् ।
दानपूजादिकं नित्यं तस्थौ गेहे सुखं मुदा ॥ ८७ ॥

अथ सा श्रेष्ठिनी पुण्यात् तदाप्रभृति नित्यशः ।
दधती गर्भचिह्नानि रेजे रत्नवतीव भूः ॥ ८८ ॥
पाण्डुत्वं सा मुखे दध्रे महाशोभाविधायकम् ।
भाविपुत्रयशो वोच्चैः सज्जनानां मनःप्रियम् ॥ ८९ ॥
स्वोदरे त्रिवलीभङ्गं तदा सा वहति स्म च ।
भाविपुत्रजराजन्ममृत्युनाशप्रसूचकम् ॥ ९० ॥
कार्यादौ मन्दतां भेजे सा सती कमलेक्षणा ।
तत्सुतः क्रूरकार्येषु मन्दतां वात्र भाषिणीम् ॥ ९१ ॥
सा सदा सुतरां पुण्यवती चापि तदा क्षणे ।
पात्रदाने जिनार्चायां विशेषाद्दोहदं दधौ ॥ ९२ ॥
नवमासानतिक्रम्य सुतं सासूत सुन्दरी ।
पुण्यपुञ्जमिवोत्कृष्टं शुभे नक्षत्रवासरे ॥ ९३ ॥
चतुर्थ्यां पुष्यमासस्य सिते पक्षे सुखाकरम् ।
तेजसा भास्करं किं वा कान्त्या जितसुधाकरम् ॥ ९४ ॥

समुद्र के देखने से वह सागर भी अधिक गम्भीर होगा। वह श्रावकाचार से पवित्र आत्मा वाला और जिनभक्ति परायण होगा ॥ ८२ ॥

अग्नि के दर्शन से निश्चित रूप से तुम्हारा पुत्र गुण का सागर होगा और घातिकर्म रूपी ईंधन को जलाकर केवली होगा ॥ ८३ ॥

इत्यादि कथन को सुनकर पत्नी आदि सहित सेठ प्राप्त पुत्र के समान स्वप्नों का फल सुनकर हृदय में सन्तुष्ट हुआ ॥ ८४ ॥

वह बुद्धिमान् प्रसन्न होकर मुनिराज का कहा हुआ अन्यथा नहीं होता है, यह विचारता रहता था। सद्गुरुओं का जो विश्वास है, वही सुख का साधन है ॥ ८५ ॥

अनन्तर प्रियायुक्त सेठ सज्जनों से घिरा हुआ गुरु को परम प्रीति से नमस्कार कर अपने घर में आकर विशेष रूप से पवित्र जिनोक्त धर्म तथा दान पूजादि को नित्य करता हुआ प्रसन्नता और सुखपूर्वक घर में रहा ॥ ८६-८७ ॥

अनन्तर तब से लेकर वह सेठानी गर्भ के चिह्नों को नित्य धारण करती हुई रत्नवती पृथ्वी के समान सुशोभित हुई ॥ ८८ ॥

महाशोभा को करने वाली पाण्डुता को उसने मुख में धारण किया। अथवा भाविपुत्र का यश सज्जनों के मन को प्रिय लगता है ॥ ८९ ॥

तब वह उदर में त्रिवली की रचना को धारण करती थी। वह त्रिवली भावी पुत्र के जरा, जन्म और मृत्यु के नाश का सूचक थी ॥ ९० ॥

कमलनयनी होती हुई, वह कार्य आदि में मन्दता का सेवन करने लगी। उसने क्रूर कार्यों को छोड़ दिया और मन्द-मन्द बोलने लगी ॥ ९१ ॥

वह पात्रदान और जिनार्चा में विशेष दौहृद (दोहलागर्भिणी की इच्छा) धारण करती थी। उस क्षण वह सदा अपने को पुण्यवती अनुभव करती थी ॥ ९२ ॥

नव मास बीत जाने पर शुभ नक्षत्र और दिन में उस सुन्दरी ने पुण्य के पुञ्ज के समान उत्कृष्ट पुत्र को उत्पन्न किया ॥ ९३ ॥

पुष्य मास की चतुर्थी को सुख की खान शुक्ल पक्ष में तेज में सूर्य को अथवा कान्ति में चन्द्रमा को जीतने वाले पुत्र को उत्पन्न किया ॥ ९४ ॥

श्रेष्ठीवृषभदासस्तु सज्जनैः परिमण्डितः।
पुत्रजन्मोत्सवे गाढं परमानन्द निर्भरः ॥ ९५ ॥

कारयित्वा जिनेन्द्राणां भवने भुवनोत्तमे।
गीतवादित्रमाङ्गल्यैः स्नपनं पूजनं महत् ॥ ९६ ॥
याचकाना ददौ दानं सुधीर्वाञ्छाधिकं मुदा।
सारस्वर्णादिकं भूरि मृष्टवाक्यसमन्वितम् ॥ ९७ ॥

कुलाङ्गना महागीतगानैर्मानैर्मनोहरैः।
गृहे गृहे तदा तत्र वादित्रध्वजतोरणैः ॥ ९८ ॥
चक्रे महोत्सवं रम्यं जगज्जनमनःप्रियम्।
सत्यं सत्पुत्रसंप्राप्तौ किं न कुर्वन्ति साधवः ॥ ९९ ॥

बान्धवाः सज्जनाः सर्वे परे भृत्यादयोऽपि च।
वस्त्रताम्बूलसद्दानैर्मानितास्तेन हर्षतः ॥ १०० ॥

इत्थं श्रेष्ठी प्रमोदेन नित्यं दानादिभिस्तराम्।
कतिचिद्वासरै रम्यैः पुनः श्रीमज्जिनालये ॥ १०१ ॥
विधाय स्नपनं पूजां सज्जनानन्ददायिनीम्।
भाविमुक्तिपतेस्तस्य पुत्रस्य परमादरात् ॥ १०२ ॥
शोभनं दर्शनं सर्वजनानामभवद्यतः।
ततो नाम चकारोच्चैः सुदर्शन इति स्फुटम् ॥ १०३ ॥

पूर्वपुण्येन जन्तूनां किं न जायेत भूतले।
कुलं गोत्रं शुभं नाम लक्ष्मीः कीर्तिर्यशः सुखम् ॥ १०४ ॥
तस्माद्भव्या जिनैः प्रोक्तं पुण्यं सर्वत्र शर्मदम्।
दानपूजाव्रतं शीलं नित्यं कुर्वन्तु सादराः ॥ १०५ ॥

पुण्येन दूरतरवस्तुसमागमोऽस्ति,
पुण्यं विना तदपि हस्ततलात्प्रयाति।
तस्मात्सुनिर्मलधियः कुरुत प्रमोदात्,
पुण्यं जिनेन्द्रकथितं शिवशर्मबीजम् ॥ १०६ ॥

सज्जनों से चारों ओर से घिरे हुए सेठ वृषभदास पुत्र जन्मोत्सव पर अत्यधिक रूप से परम आनन्द से भर गए ।। ९५ ।।

भुवनोत्तम जिनेन्द्र भवन में गीत,वादित्र और माङ्गलिक सामग्री से बहुत बड़ी पूजा और स्नान कराकर उस बुद्धिमान् ने प्रसन्न होकर मधुर वाक्यों के साथ सार स्वर्णादि को याचकों को उनकी इच्छा से भी अधिक दान में दिया ।। ९६-९७ ।।

कुलाङ्गनाओं ने सम्मानपूर्वक मनोहर महागीत गाकर संसार के लोगों के मन को प्रिय लगने वाला सुन्दर महोत्सव किया । वहाँ उस समय घर-घर में बाजे, ध्वजा और तोरणों से महोत्सव किया गया । सच ही है, अच्छे पुत्र की प्राप्ति होने पर सज्जन क्या नहीं करते हैं ? ।।९८-९९ ।।

सज्जन समस्त बाधव और भृत्यादिक भी उस हर्ष, वस्त्र और ताम्बूल के सद्दान मान से सम्मानित हुए ।। १०० ।।

इस प्रकार सेठ ने प्रमोद से नित्य दानादि से कुछ रम्य दिन बिताए । पुनः शोभा से युक्त जिनालय में सज्जनों को आनन्द देने वाले स्नान और पूजा को कर परम आदर से भावी मुक्ति के स्वामी उस पुत्र का । चूँकि सब लोगों को उसका दर्शन अच्छा लगा था, अतः स्पष्ट रूप से सुदर्शन यह नाम रखा ।। १०१-१०२-१०३ ।।

कुल, गोत्र, शुभनाम, लक्ष्मी, कीर्ति, यश और सुख, पूर्वजन्म के पुण्य से प्राणियों को पृथ्वी तल पर क्या नहीं होता है ? ।।१०४ ।।

अतः भव्य जीव जिन कथित पुण्य, सर्व जगह सुख देने वाले दान, पूजा, व्रत, शील को नित्य आदरपूर्वक करें ।। १०५ ।।

पुण्य से दूरतर वस्तुओं का भी समागम होता है । पुण्य के बिना वही वस्तु हथेली से चली जाती है । अतः हे निर्मल बुद्धि वालो ! प्रमोद से मोक्ष सुख के बीज जिनेन्द्र कथित पुण्य को करो ।। १०६ ।।

पुण्यं श्रीजिनराजचारुचरणाम्भोजद्वये चर्चनं,
पुण्यं सारसुपात्रदानमतुलं पुण्यं व्रतारोपणम् ।
पुण्यं निर्मलशीलरत्नधरणं पर्वोपवासादिकं,
पुण्यं नित्यपरोपकारकरणं भव्या भजन्तु श्रिये ॥ १०७ ॥

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रकाशके
मुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिविरचिते सुदर्शनजन्ममहोत्सव-
व्यावर्णनो नाम तृतीयोऽधिकारः ।

श्री जिनराज के सुन्दर चरणकमलद्वय की पूजा करना पुण्य है। संसार-स्वरूप अतुल सुपात्र का दान पुण्य है। व्रतों का आरोपण पुण्य है। निर्मल शील रूपी रत्न का धारण करना और पर्व पर उपवासादि करना पुण्य है, नित्य परोपकार करना पुण्य है। इस पुण्य का हे भव्य लोगों, तुम लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए सेवन करो ॥ १०७ ॥

इस प्रकार श्री सुदर्शनचरित में पञ्चनमस्कार माहात्म्य प्रकाशक
मुमुक्षु श्री विद्यानन्द विरचित सुदर्शनजन्म महोत्सव
व्यावर्णन नामक तृतीय अधिकार पूर्ण हुआ।

चतुर्थोऽधिकारः

अथासौ बालको नित्यं पितुर्गेहे मनोहरे।
वृद्धिं गच्छन् यथासौख्यं लालितो वनिताकरैः ॥ १ ॥
द्वितीयेन्दुरिवारेजे जनयन् प्रीतिमुत्तमाम्।
सत्यं सुपुण्यसंयुक्तः पुत्रः कस्य न शर्मदः ॥ २ ॥

दिव्याभरणसद्वस्त्रैर्भूषितोऽभात्स बालकः।
सतामानन्दकृन्नित्यं कोमलो वा सुरद्रुमः ॥ ३ ॥

नित्यं महोत्सवैर्दिव्यैः स बालः पुण्यसंबलः।
प्रौढार्भको विशेषेण शोभितो भुवनोत्तमः ॥ ४ ॥

पुत्रः सामान्यतश्चापि सज्जनानां सुखायते।
मुक्तिगामी च यो भव्यस्तस्य किं वर्ण्यते भुवि ॥ ५ ॥

मस्तके कृष्णकेशौघैः स रेजे पुण्यपावनः।
अलिभिः संश्रितो वात्र विकसच्चम्पकद्रुमः ॥ ६ ॥

विस्तीर्णं निर्मलं तस्य ललाटस्थानमुन्नतम्।
पूर्वपुण्यनरेन्द्रस्य वासस्थानमिवाबभौ ॥ ७ ॥

नासिका शुकतुण्डाभा गन्धामोदविलासिनी।
उन्नता संबभौ तस्य सुयशःस्थिरशंसिनी ॥ ८ ॥

चक्षुषी तस्य रेजाते सारपद्मदलोपमे।
तस्य तद्वर्णनेनालं यो भावी केवलेक्षणः ॥ ९ ॥

संलग्नौ तस्य द्वौ कर्णौ रत्नकुण्डलशोभितौ।
सरस्वतीयशोदेव्योः क्रीडान्दोलनकोपमौ ॥ १० ॥
चन्द्रो दोषाकरो नित्यं सकलङ्कः परिक्षयी।
पद्मं जडाश्रितं तस्मात्तदास्यं जयति स्म ते ॥ ११ ॥
तत्कण्ठः संबभौ नित्यं रेखात्रयविराजितः।
लक्ष्मीविद्यागुणप्राप्तिसूचको विमलध्वनिः ॥ १२ ॥

चतुर्थोऽधिकारः

अनन्तर वह बालक नित्य पिता के मनोहर घर में यथा सुख वृद्धि को प्राप्त करता हुआ स्त्रियों के हाथों लालित होता हुआ, उत्तम प्रीति को उत्पन्न करता हुआ द्वितीया के चन्द्रमा के समान सुशोभित हुआ। सच ही है, सुपुण्य से संयुक्त किसके लिए सुखदायक नहीं होता है ॥ १-२ ॥

वह बालक दिव्य आभरण और उत्तम वस्त्रों से भूषित होकर सुशोभित हुआ। कोमल कल्पवृक्ष नित्य सज्जनों को आनन्दित करने वाला होता है ॥ ३ ॥

वह बालक नित्य दिव्य महोत्सवों व पवित्र पुण्य संबल से युक्त हुआ। संसार में उत्तम प्रौढ़ बालक विशेष रूप से शोभित होता है ॥ ४ ॥

पुत्र सज्जनों का सामान्य रूप से भी सुख रूप होता है (फिर) । जो भव्य मुक्तिगामी होता है, उसका संसार में क्या वर्णन किया जाय ? ॥ ५ ॥

अत्यधिक पवित्र वह मस्तक पर काले केशों के समूह से सुशोभित हुआ। अथवा यहाँ विकास को प्राप्त होता हुआ चम्पा का वृक्ष भौरों से आश्रित हुआ ॥ ६ ॥

उसका ललाट स्थान उन्नत, विस्तीर्ण और निर्मल था। वह राजा के पूर्व पुण्य का निवास स्थान हो, इस प्रकार सुशोभित हुआ ॥ ७ ॥

सुयश की स्थिति को कहने वाली उसकी सुगन्ध के विलास को प्रकट करने वाली तोते की चोंच के समान उन्नत नासिका सुशोभित थी ॥ ८ ॥

सारूप कमल पत्र के समान उसके दोनों नेत्र सुशोभित होते थे। उसका वर्णन करने में वही समर्थ है, जो आगामी केवलज्ञान रूपी नेत्र वाला है ॥ ९ ॥

रत्नकुण्डल से शोभित उसके दो कान संलग्न थे। वे सरस्वती और यशोदेवी की क्रीडा के झूले के समान थे ॥ १० ॥

चन्द्रमा नित्य दोषाकर (दोषों की खान, रात्रि की खान, रात्रि को करने वाला) सकलङ्क और नष्ट हो जाने वाला होता है। कमल जल का आश्रय लेता है जड़ के आश्रित होता है। अतः उसका मुख उनको जीत लेता था ॥ ११ ॥

निर्मल ध्वनि वाला उसका कण्ठ नित्य तीन रेखाओं से विराजित होकर सुशोभित होता था। वह लक्ष्मी, विद्या और आयु की प्राप्ति का सूचक था ॥ १२ ॥

कण्ठे मुक्ताफलैर्दिव्यै रेजेऽसौ बालकोत्तमः ।
तारागणैर्यथा युक्तस्तारेशो राजतेतराम् ॥ १३ ॥
भुजांसौ प्रोन्नतौ तस्य शोभितौ शर्मकारिणौ ।
लोकद्वयमहालक्ष्मीसत्क्रीडापर्वताविव ॥ १४ ॥
हृदयं सदयं तस्य विस्तीर्णं परमोदयम् ।
व्यजेष्ट सागरं क्षारं सारगम्भीरतास्पदम् ॥ १५ ॥
तारेण दिव्यहारेण मुक्ताफलचयेन च ।
हृत्पङ्कजं बभौ तस्य तद्गुणग्रामशंसिना[1] ॥ १६ ॥
आजानुलम्बिनौ बाहू रेजाते भूषणान्वितौ ।
दृढौ वा विटपौ तस्य सदानौ फलशालिनः ॥ १७ ॥
पाणिपद्मद्वये तस्य कटकद्वयमुद्बभौ ।
कनत्कनकनिर्माणमुपयोगद्वयं यथा ॥ १८ ॥
तस्योदरं विभाति स्म सुमानं नाभिसंयुतम् ।
निधानस्थानकं वोच्चैः सर्वदोषविवर्जितम् ॥ १९ ॥
कटीतटं कटीसूत्रवेष्टितं सुदृढं बभौ ।
जम्बूद्वीपस्थलं वात्र स्वर्णवेदिकयान्वितम् ॥ २० ॥
ऊरुद्वयं शुभाकारं सुदृढं तस्य संबभौ ।
सारं कुलगृहस्योच्चैःस्तम्भद्वयमिवोत्तमम् ॥ २१ ॥
जानुद्वयं शुभं रेजे तस्य सारतरं तराम् ।
वज्रगोलकयुग्मं वा कर्मारातिविजित्वरम् ॥ २२ ॥
जंघाद्वयं परं तस्य सर्वभारभरक्षमम् ।
भव्यानां सुकुलं किं वा तस्य रेजे सुखप्रदम् ॥ २३ ॥
द्वौ पादौ तस्य रेजाते स्वङ्गुलीभिः समन्वितौ ।
सपत्रं कमलं जित्वा लक्षणश्रीविराजितौ ॥ २४ ॥
इत्यादिकं जगत्सारं तस्य रूपं मनःप्रियम् ।
किं वर्ण्यते मया योऽत्र भावीत्रैलोक्यपूजितः ॥ २५ ॥

---

१. राशिना इति पाठः ।

वह उत्तम बालक कण्ठ में दिव्य मोतियों से सुशोभित हुआ। जिस प्रकार चन्द्रमा तारागणों से सुशोभित होता है ।। १३ ।।

सुखकारी उसके प्रोन्नत भुज स्कन्ध दोनों लोकों की महालक्ष्मी के उत्तम क्रीडा पर्वत के समान शोभित थे ।। १४ ।।

सार रूप गम्भीरता का स्थान उसका दया से युक्त परम उदय वाला विस्तीर्ण हृदय सार रूप गम्भीरता के स्थान लवण सागर को जीतता था ।। १५ ।।

उसके गुणों के समूह का कथन करने वाले चमकीले दिव्य हार से और मोतियों के समूह ने उसका हृदयकमल सुशोभित हुआ ।। १६ ।।

घुटनों तक लटकने वाली उसकी दोनों भुजाएँ सुशोभित हो रही थीं। अथवा वे दान से युक्त कल्पवृक्ष की दो दृढ़ डालें थीं ।। १७ ।।

उसके दो हस्तकमल में दो कड़े चमकीले स्वर्ण निर्मित दो उपयोगों के समान सुशोभित हुए ।। १८ ।।

सुप्रमाण नाभि से संयुक्त उसका हृदय समस्त दोषों से रहित निधान स्थान के समान अत्यधिक रूप से सुशोभित होता था ।। १९ ।।

कटीसूत्र से वेष्टित कटीतट स्वर्णमयी वेदी से युक्त जम्बूद्वीप के स्थल के समान सुदृढ़ रूप में सुशोभित हुआ ।। २० ।।

शुभ आकार वाला सुदृढ़ उसका जङ्घायुगल कुलगृह के सार रूप उच्च एवं उत्तम स्तम्भद्वय के समान सुशोभित हो रहा था ।। २१ ।।

सार को समूह रूप उसकी दोनों जंघायें कर्मरूपी शत्रुओं को जीतने वाले दो वज्र के गोलों के समान शुभ रूप में सुशोभित हुईं ।। २२ ।।

उसका समस्त भार के समूह को धारण करने वाला जङ्घायुगल था। अथवा अधिक क्या ? उसकी शोभा भव्यों के समूह को सुखप्रद थी ।। २३ ।।

अच्छी अँगुलियों से युक्त उसके दो पैर सुशोभित हुए। मानों पत्र सहित कमल को जीत कर लक्षण और श्री विराजित थे ।। २४ ।।

इत्यादिक जगत् के सार स्वरूप, मन को प्रिय लगने वाले उसके रूप का मैं क्या वर्णन करूँ ? जो कि यहाँ आगे तीनों लोकों द्वारा पूजित होगा ।। २५ ।।

वाणी तस्य मुखे जाता सज्जनानन्ददायिनी।
तस्याः किं कथ्यते याग्रे सर्वतत्त्वार्थभाषिणी ॥ २६ ॥
ततो महोत्सवैः पित्रा जैनोपाध्यायसंनिधौ।
पाठनार्थं स पूतात्मा स्थापितो धीमता सुतः ॥ २७ ॥

पुरोहितसुतेनामा स कुर्वन् पठनक्रियाम्।
कपिलाख्येन मित्रेण विनयै रञ्जिताखिलः ॥ २८ ॥
पूर्वपुण्येन भव्योऽसौ सर्वविद्याविदांवरः।
संजातः सुतरां रेजे मणिर्वा संस्कृतो बुधैः ॥ २९ ॥

अक्षराणि विचित्राणि गणितं शास्त्रमुत्तमम्।
तर्कव्याकरणान्युच्चैः काव्यच्छन्दांसि निस्तुषम् ॥ ३० ॥
ज्योतिष्कं वैद्यशास्त्राणि जैनागमशतानि च।
श्रावकाचारकादीनि पठति स्म यथाक्रमम् ॥ ३१ ॥

विद्या लोकद्वये माता विद्या शर्मयशस्करी।
विद्या लक्ष्मीकरा नित्यं विद्या चिन्तामणिर्हितः ॥ ३२ ॥
विद्या कल्पद्रुमो रम्यो विद्या कामदुहा च गौः।
विद्या सारधनं लोके विद्या स्वर्मोक्षसाधिनी ॥ ३३ ॥
तस्माद्भव्यैः सदा कार्यो विद्याभ्यासो जगद्धितः।
त्यक्त्वा प्रमादकं कष्टं सद्गुरोः पादसेवया ॥ ३४ ॥
एवं विद्यागुणैर्दानैर्मानैर्भव्यानुरञ्जनैः ।
स रेजे यौवनं प्राप्य सुतरां सज्जनप्रियः ॥ ३५ ॥
अथ तत्र परः श्रेष्ठी सुधीः सागरदत्तवाक्।
पत्नी सागरसेनाख्या तस्यासीत्प्राणवल्लभा ॥ ३६ ॥

श्रेष्ठी सागरदत्ताख्यः स कदाचित्प्रमोदतः।
जगौ वृषभदासाख्यं प्रीतितो यदि मे सुता ॥ ३७ ॥
भविष्यति तदा तेऽस्मै दास्ये पुत्राय तां सुताम्।
नाम्ना सुदर्शनायाहं यतः प्रीतिः सदावयोः ॥ ३८ ॥

युक्तं सतां गुणिप्रीतिर्वल्लभा भवति ध्रुवम्।
विदुषां भारतीवात्र लोकद्वयसुखावहा ॥ ३९ ॥

उसके मुख में सज्जनों को आनन्द देने वाली वाणी उत्पन्न हुई। उस वाणी के विषय में आगे क्या कहा जाय, जो कि समस्त तत्त्वार्थ का कथन करने वाली थी ॥ २६ ॥

अनन्तर बुद्धिमान् पिता ने पुत्र को महोत्सवों के साथ जैन उपाध्याय के समीप पढ़ने के लिए रखा ॥ २७ ॥

विनय से हाथ जोड़ें कपिल नामक पुरोहित सुत मित्र के साथ वह पठन क्रिया करते हुए पूर्व पुण्य से समस्त विद्याओं को जानने वाला हो गया। वह भव्य विद्वानों के द्वारा संस्कृत मणि के समान सुशोभित हुआ ॥ २८-२९ ॥

वह निर्मल विचित्र अक्षर, उत्तम गणित शास्त्र, तर्क, व्याकरण, अत्यधिक काव्य, छन्द, ज्योतिष, वैद्य शास्त्र, सैकड़ों जैन शास्त्र, श्रावकाचार आदि यथाक्रम पढ़ता था ॥ ३०-३१ ॥

विद्या दोनों लोकों में माता है, विद्या सुख और यश को करने वाली, विद्या नित्य लक्ष्मी को उत्पन्न करने वाली तथा विद्या हितकारी चिन्तामणि है ॥ ३२ ॥

विद्या रमणीय कल्पवृक्ष है, विद्या काम दुहा गौ है, विद्या लोक में सार रूप धन है, विद्या स्वर्ग और मोक्ष का साधन करने वाली है ॥ ३३ ॥

अत: भव्य जनों को सदा संसार का हितकारी विद्याभ्यास कष्ट रूप प्रमाद छोड़कर सद्गुरु की चरण सेवा के साथ करना चाहिए ॥ ३४ ॥

इस प्रकार विद्या रूप, गुण, दान, मान और भव्य जनों को अनुरञ्जित करता हुआ, सज्जनों को प्रिय वह यौवन पाकर अत्यधिक सुशोभित हुआ ॥ ३५ ॥

वहाँ पर एक दूसरा बुद्धिमान् सागरदत्त नामक सेठ था। उसकी प्राणवल्लभा सागरसेना पत्नी थी ॥ ३६ ॥

सेठ सागर दत्त ने कभी प्रमोद में वृषभदास नामक सेठ से प्रीतिपूर्वक कहा कि यदि मेरे पुत्री होगी, तो मैं उस पुत्री को तुम्हारे इस सुदर्शन नामक पुत्र को प्रदान करूँगा, जिससे हम दोनों में सदा प्रीति रहे ॥ ३७-३८ ॥

ठीक ही है, सज्जनों को निश्चित रूप से गुणों के प्रति प्रेम प्रिय होता है। अथवा विद्वानों की वाणी इस लोक और परलोक दोनों जगह सुख को लाने वाली होती है ॥ ३९ ॥

ततः समीपकाले च तस्य पत्नी स्वमन्दिरे।
सती सागरसेनाख्या समसूत सुतां शुभाम्॥ ४०॥
साभून्मनोरमा नाम्ना नवयौवनमण्डिता।
रूपसौभाग्यसंपन्ना कामदेवस्य वा रतिः॥ ४१॥
वस्त्राभरणसंयुक्ता सा रेजे सुमनोरमा।
कोमला कल्पवल्लीव जनानां मोहनौषधिः॥ ४२॥
तस्या द्वौ कोमलौ पादौ सारनूपुरसंयुतौ।
साङ्गुल्यौ लक्षणोपेतौ जयतः स्म कुशेशयम्॥ ४३॥
तस्या जङ्घे च रेजाते सारलक्षणलक्षिते।
पादपङ्कजयोर्नित्यं दधत्यौ नालयोः श्रियम्॥ ४४॥
सदर्पचारुकन्दर्पभूपतेर्गृहतोरणे ।
रम्भास्तम्भायितं तस्याश्चोरुभ्यां यौवनोत्सवे॥ ४५॥
नितम्बस्थलमेतस्या जैत्रभूमिर्मनोभुवः।
यत्सदैवात्र वास्तव्यं पाति लोकत्रयं रतम्॥ ४६॥
मध्यभागो बलिष्ठोऽस्याः कृशोदर्याः कृशोऽपि सन्।
यो बलित्रितयाक्रान्तोऽप्यधिकां विदधौ श्रियम्॥ ४७॥
तस्याश्च हृदयं रेजे कुचद्वयसमन्वितम्।
सहारं तोरणद्वारं सकुम्भं वा स्मरप्रभोः॥ ४८॥
एतस्याः सरला काला रोमराजी तरां बभौ।
कन्दर्पदन्तिनो बिभ्रत्यालानस्तम्भविभ्रमम्॥ ४९॥
तद्बाहू कोमलौ रम्यौ करपल्लवसंयुतौ।
सद्रत्नकङ्कणोपेतौ जयतो मालतीलताम्॥ ५०॥
कण्ठः ससुस्वरस्तस्यास्त्रिरेखो हारमण्डितः।
कम्बुशोभां बभारोच्चैः सज्जनानन्ददायिनीम्॥ ५१॥
मुखाम्बुजं बभौ तस्या नासिकाकर्णिकायुतम्।
सुगन्धं रदनज्योत्स्नाकेसरं कोमलं शुभम्॥ ५२॥
चक्षुषी कर्णविश्रान्ते रेजाते भ्रूसमन्विते।
कामिनां चित्तवेध्येषु पुष्पेषोः शरशोभिते॥ ५३॥

अनन्तर निकटवर्ती समय में उसकी पत्नी सती सागरसेना ने अपने घर शुभ पुत्री को उत्पन्न किया ॥ ४० ॥

उसका नाम मनोरमा था। नव यौवन से मण्डित होकर वह रूप और सौभाग्य से कामदेव की रति के समान सम्पन्न थी ॥ ४१ ॥

वस्त्र और आभरण से संयुक्त वह सुमनोरमा कोमल कल्पलता के समान तथा लोगों को मोहित करने के लिए औषधि के समान सुशोभित हुई ॥ ४२ ॥

उसके सार नूपुर से युक्त अङ्गुलियों सहित दो कोमल पैर थे। जो कि कमल को जीतते थे ॥ ४३ ॥

सार लक्षण से लक्षित उसकी दोनों जंघायें सुशोभित होती थीं। वे नित्य चरणकमल के नाल की शोभा को धारण कर रही थीं ॥ ४४ ॥

यौवन के उत्सव पर दर्प से युक्त सुन्दर कामदेव रूपी राजा के गृह तोरण पर उसकी दोनों जंघायें केले के स्तम्भ जैसा आचरण करती थीं ॥ ४५ ॥

इसका नितम्ब स्थल कामदेव की मनोभूमि थी। क्योंकि सदैव यहाँ पर निवास करना तीनों लोकों के प्रति आसक्ति की रक्षा करता है ॥ ४६ ॥

इस दुर्बल उदर वाली का मध्यभाग कृश होने पर भी बलिष्ठ था जो कि त्रिवली से आक्रान्त होने पर भी अत्यधिक शोभा को धारण करता था ॥ ४७ ॥

उसका हृदय स्तनद्वय से युक्त हुआ सुशोभित था। वह कामदेव रूपी प्रभु का हार सहित अथवा कुम्भ सहित तोरणद्वार था ॥ ४८ ॥

इसकी सरल, काली रोमराजि अत्यधिक सुशोभित होती थी। वह कामदेव रूपी हाथी के बन्धस्तम्भ के विभ्रम को धारण करती थी ॥ ४९ ॥

उसकी दोनों भुजायें कोमल, रम्य करपल्लव से युक्त थीं। उत्तम रत्न-कंगन से युक्त वे भुजायें मालतीलता को जीतती थीं ॥ ५० ॥

उसका सुन्दर स्वर से युक्त कण्ठ तीन रेखाओं वाला तथा हार से मण्डित था। वह सज्जनों को आनन्द प्रदान करने वाली शंख की शोभा को अत्यधिक रूप से धारण करता था ॥ ५१ ॥

उसका मुखकमल नाक की कर्णिका से युक्त सुशोभित होता था। सुगन्धित दाँतों के किरण रूप धागे कोमल और शुभ थे ॥ ५२ ॥

कान की समाप्ति तक भौंहों से युक्त दोनों नेत्र कामदेव के बाण से शोभित कामियों के देखने योग्य चित्तों में सुशोभित होते थे ॥ ५३ ॥

कर्णौ लक्षणसंपूर्णौ कुण्डलद्वयसुन्दरौ ।
तस्या रूपश्रियो नित्यमान्दोलश्रियमाश्रितौ ॥ ५४ ॥
कपोलौ निर्मलौ तस्या वर्तुलाकारधारिणौ ।
जगच्चेतोहरौ नित्यं सोमवत्संबभूवतुः ॥ ५५ ॥
ललाटपट्टकं तस्या निर्मलं तिलकान्वितम् ।
चन्द्रबिम्बं कलङ्कत्वाज्जयति स्म सदाशुभम् ॥ ५६ ॥
तस्याः सुकेश्याः कबरीबन्धः केनोपमीयते ।
यस्तूच्चैः कामराजस्य कामिनां पाशवद् बभौ ॥ ५७ ॥
इत्यादिरूपसंपत्त्या वस्त्राभरणशोभिता ।
गुणैः सुराङ्गनाः सापि जयति स्म मनोरमा ॥ ५८ ॥
अथैकदा पुरीमध्ये विनोदेन सुदर्शनः ।
कन्दर्पकामिनीरूपसर्पदर्पस्य जाङ्गुली ॥ ५९ ॥
मित्रेण कपिलेनामा दिव्याभरणवस्त्रभाक् ।
पर्यटन् कल्पवृक्षो वा याचकप्रीणनक्षमः ॥ ६० ॥
सर्वलक्षणसंपूर्णः कलागुणविशारदः ।
सर्वस्त्रीजनसंदोहनेत्रनीलोत्पलश्रियः ॥ ६१ ॥
पूर्णेन्दुः पुण्यसंपूर्णः स्वकान्तिज्योत्स्नयान्वितः ।
क्वचिद् गच्छन् स्वसौभाग्यान्मोहयन् सकलान् जनान् ॥ ६२ ॥
तस्य सागरदत्तस्य पुत्रिकां कुलदीपिकाम् ।
वस्त्राभरणसंदोहैर्मण्डितां तां मनोरमाम् ॥ ६३ ॥
सखीभिः संयुतां पूतां पूजार्थं निजलीलया ।
जिनालयं प्रगच्छन्तीं समालोक्य सुविस्मितः ॥ ६४ ॥
स प्राह कपिलं मित्र किमेषा सुरकन्यका ।
किमेषा किन्नरी रम्भा किं वा चैषा तिलोत्तमा ॥ ६५ ॥
किं वा विद्याधरी रम्या किं वा नागेन्द्रकन्यका ।
आगता भूतले सत्यं ब्रूहि त्वं मे विचक्षण ॥ ६६ ॥
तं निशम्य सुधीः सोऽपि जगाद कपिलो द्विजः ।
शृणु त्वं मित्र ते वच्मि वचः संदेहनाशनम् ॥ ६७ ॥

उसके दोनों कान लक्षणों से सम्पूर्ण दो कुण्डलों से सुन्दर थे। वे उसकी रूप लक्ष्मी को नित्य झुलाने वाली लक्ष्मी के आश्रित थे ॥ ५४ ॥

उसके निर्मल कपोल गोलाकार को धारण कर रहे थे। वे नित्य संसार के चित्त को हरने वाले चन्द्रमा के समान हो रहे थे ॥ ५५ ॥

उसका ललाटपट्ट निर्मल तिलक से युक्त था। वह कलङ्क से युक्त रहित शुभ चन्द्रमा के बिम्ब को जीतता था ॥ ५६ ॥

उस सुकेशी के कबरीबन्ध की किससे उपमा दी जा सकती है? वह अत्यधिक रूप से कामराज के कामियों के पाश के समान सुशोभित हो रही थी ॥ ५७ ॥

इत्यादि रूप सम्पत्ति और वस्त्राभरण से शोभित वह मनोरमा गुणों में देवाङ्गनाओं को भी जीतती थी ॥ ५८ ॥

एक बार नगर के मध्य में कामदेव की स्त्री रति के रूप रूपी सर्प के दर्प का सपेरा सुदर्शन, कपिल नामक मित्र के साथ दिव्य आभरण और वस्त्र को धारण कर भ्रमण कर रहा था। वह याचकों को प्रसन्न करने में समर्थ कल्पवृक्ष था ॥ ५९-६० ॥

वह समस्त लक्षणों से सम्पूर्ण था, कलागुण विशारद था, समस्त स्त्री समूह के नेत्र रूपी नीलकमल की लक्ष्मी का पूर्ण चन्द्र था, पुण्य से सम्पूर्ण था, अपनी कान्ति रूपी चाँदनी से युक्त था। अपने सौभाग्य से समस्त लोगों को मोहित करते हुए, कहीं जाते हुए, उस सागरदत्त की पुत्री कुल-दीपिका मनोरमा को देखकर अत्यन्त विस्मित हुआ। वह वस्त्र और आभूषणों के समूह से मण्डित थी, पवित्र थी, सखियों के साथ पूजा के लिए अपनी लीला से जिनालय को जा रही थी ॥ ६१-६४ ॥

उसने कपिल से कहा—मित्र ! क्या यह सुरकन्या है ? क्या यह किन्नरी है, रम्भा है या तिलोत्तमा है ॥ ६५ ॥

क्या रम्य विद्याधरी है अथवा नागेन्द्र कन्या पृथ्वीतल पर आयी है ? हे विचक्षण ! तुम मुझसे सत्य कहो ॥ ६६ ॥

उसे सुनकर बुद्धिमान् वह कपिल ब्राह्मण बोला—हे मित्र ! तुम सुनो। तुमसे सन्देहनाशक वचन बोलता हूँ ॥ ६७ ॥

अत्रैव पत्तने रम्ये श्रेष्ठी सागरदत्तवाक् ।
श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजसेवनैकमधुव्रतः ॥ ६८ ॥

श्रावकाचारपूतात्मा दानपूजाविराजितः ।
सती सागरसेनाख्या तत्प्रिया सुमनःप्रिया ॥ ६९ ॥

सत्यं स एव लोकेऽस्मिन् गृहवासः प्रशस्यते ।
यत्र धर्मे गुणे दाने द्वयोर्मेधा सदा शुभा ॥ ७० ॥

तयोरेषा सुता सारकन्यागुणविभूषिता ।
पुण्येन यौवनोपेता कुलोद्योतनदीपिका ॥ ७१ ॥

तदाकर्ण्य कुमारोऽपि मानसे मोहितस्तराम् ।
लक्ष्मीं वात्र हरिर्वीक्ष्य संजातः कामपीडितः ॥ ७२ ॥

स्वमन्दिरं समागत्य शय्यायां संपपात च ।
तां चित्ते देवतां नोच्चैः स्मरति स्म स्मरातुरः ॥ ७३ ॥

तच्चिन्तया तदा तस्य सर्वकार्यसमन्वितम् ।
अन्नं पानं च ताम्बूलं विस्मृतं धिक् स्मराग्निकम् ॥ ७४ ॥

चन्दनागुरुकर्पूरपुष्पशीतोपचारकः ।
तस्य कामाग्निकुण्डे च संप्रजाता घृताहुतिः ॥ ७५ ॥

एहि त्वमेहि संजल्पन्तिष्ठ कामिनि सांप्रतम् ।
उत्सङ्गे मृगशावाक्षि मम तापं व्यपोहय ॥ ७६॥

इत्यादिकं वृथालापं जल्पन् पित्रादिभिस्तदा ।
पृष्टस्ते पुत्र किं जातं ब्रूहि सर्वं यथार्थतः ॥ ७७ ॥

स पृष्टोऽपि यदा नैव ब्रूते पित्रा तदा द्रुतम् ।
संपृष्टः कपिलः प्राह सर्वं वृत्तान्तमादितः ॥ ७८ ॥

युक्तं प्रच्छन्नकं कार्यं किंचिद् वा शुभाशुभम् ।
मित्रं सर्वं विजानाति सत्सखा शर्मदायकः ॥ ७९ ॥

पुत्रस्यार्तिमथाकर्ण्य तद्व्यथापरिहानये ।
गृहं सागरदत्तस्य चचाल वणिजांपतिः । ८० ॥

भवन्त्यपत्यवर्गस्य पितरस्तु सदा हिताः ।
यथा पद्माकरस्यात्र भानुर्नित्यं विकासकृत् ॥ ८१॥

यहीं रम्य पत्तन में सेठ सागरदत्त है। वह श्री जिनेन्द्र चरणकमल के सेवन का एक मात्र भ्रमर है ॥ ६८ ॥

श्रावक के आचार से उसकी आत्मा पवित्र है, दान और पूजा से वह सुशोभित है। उसकी सागरसेना नामक मनःप्रिय प्रिया है ॥ ६९ ॥

सच में, इस लोक में वह गृहवास प्रशंसनीय माना जाता है, जहाँ धर्म, गुण और दान में (पति और पत्नी) दोनों की मेधा सदा शुभ होती है ॥ ७० ॥

मार रूप कन्या के गुण से विभूषित उन दोनों की यह पुत्री है। कुल का उद्योतन करने में दीपिका के तुल्य यह पुण्य से यौवन युक्त है ॥ ७१ ॥

उसे सुनकर कुमार भी मन में अत्यधिक मोहित हुआ। अथवा लक्ष्मी को देखकर हरि ही यहाँ कामपीड़ित हो गए ॥ ७२ ॥

अपने महल में आकर शय्या पर पड़ गए। काम से पीड़ित होकर चित्त में देव के समान अत्यधिक स्मरण करने लगे ॥ ७३ ॥

तब उसकी चिन्ता से समस्त कार्यों के साथ अन्न, पान और ताम्बूल को भी भूल गए। कामाग्नि को धिक्कार हो ॥ ७४ ॥

चन्दन, अगुरु, कपूर, पुष्प रूप शीतोपचार उसकी कामाग्नि रूपी कुण्ड घी को आहुति हो गए ॥ ७५ ॥

हे कामिनि ! तुम आओ, इस समय बात करती हुई ठहरो। मृग शिशु के समान नेत्र वाली ! गोद में तुम मेरे सन्ताप को दूर करो ॥ ७६ ॥

इत्यादि वृथा बकवाद करते हुए उससे, पिता आदि ने तब पूछा— पुत्र ! क्या हुआ, सब यथार्थतः कहो ॥ ७७ ॥

पूछे जाने पर भी जब वह नहीं बोला तो पिता के द्वारा पूछे जाने पर कपिल ने समस्त वृत्तान्त आदि से कहा ॥ ७८ ॥

यह ठीक है कि कोई गुप्त कार्य हो या शुभाशुभ कार्य हो, जो मित्र सब कुछ जानता है। वह मित्र सुखदायक होता है ॥ ७९ ॥

अनन्तर पुत्र की पीड़ा को सुनकर उस व्यथा का अभाव करने के लिए वणिक्पति सागरदत्त के घर चला ॥ ८० ॥

सन्तान के समूह के लिए पितर लोग सदा हितकारी होते हैं। जैसे यहाँ पर सूर्य कमलों के समूह का नित्य विकास करने वाला होता है ॥ ८१ ॥

यावत्तस्य गृहं याति श्रेष्ठी वृषभदासवाक् ।
तावत्तस्य गृहे सापि पुत्री नाम्ना मनोरमा ॥ ८२ ॥
सुदर्शनं समालोक्य विद्धा मदनसायकैः ।
गत्वा गृहं गृहीता वा पिशाचेन सुविह्वला ॥ ८३ ॥
क्वासि क्वासि मनोऽभीष्ट मदीयप्राणवल्लभ ।
त्वद्विना मे घटी चापि याति कल्पशतोपमा ॥ ८४ ॥
मासायते निमेषोऽपि गृहं कारागृहायते ।
देहि मे वचनं नाथ मदीयप्राणधारणम् ॥ ८५ ॥
स एव नरशार्दूलो भुवने परमोदयः ।
यो मां दर्शनमात्रेण पीडयत्यत्र मन्मथः ॥ ८६ ॥
इत्यादिकं प्रलापं च करोति स्म निरन्तरम् ।
भोजनादिकमुत्सृज्य तदा संसक्तमानसा ॥ ८७ ॥
युक्तं दुष्टेन कामेन महान्तोऽपि महीतले ।
रुद्रादयोऽपि संदग्धा मुग्धेष्वन्येषु का कथा ॥ ८८ ॥
तावत्तत्र समायातः स श्रेष्ठी तं विलोक्य च ।
सुधीः सागरदत्तोऽपि समुत्थाय कृतादरः ॥ ८९ ॥
स्थानासनशुभैर्वाक्यैश्चक्रे संमानमुत्तमम् ।
स स्वभावः सतां नित्यं विनयो यः सज्जनेष्वलम् ॥ ९० ॥
ततः कुशलवार्तां च कृत्वा साधर्मिकोचिताम् ।
जगौ कन्यापिता प्रीतो भो श्रेष्ठिन् सज्जनोत्तम ॥ ९१ ॥
पवित्रं मन्दिरं मेऽद्य संजातं सुविशेषतः ।
यद्भवन्तः समायाताः पवित्रगुणसागराः ॥ ९२ ॥
कृत्वा कृपां तथा प्रीत्या कार्यं किमपि कथ्यताम् ।
ततो वृषभदासोऽपि प्रोवाच स्वमनीषितम् ॥ ९३ ॥
मनोरमा शुभा पुत्री त्वदीया पुण्यपावना ।
त्वया सुदर्शनायाशु दीयतां[1] परमादरात् ॥ ९४ ॥
तं निशम्य सुधीः सोऽपि तुष्टः सागरदत्तवाक् ।
जगौ श्रेष्ठिन् सुधीः सारसुवर्णमणिसंभवः ॥ ९५ ॥
संयोगः शर्मदो नित्यं कस्य वा न सुखायते ।
अतः कन्या मया तस्मै दीयते त्वत्सुजे मुदा ॥ ९६ ॥

---

१. 'दीयते' इति पाठः ।

जब वृषभदास नामक सेठ उसके घर गया, तब तक उसके घर भी मनोरमा नामक पुत्री सुदर्शन को देखकर काम के बाणों से बिद्ध हो गई। घर जाकर वह पिशाच के द्वारा ग्रहण की गई हो, इस प्रकार विह्वल हो गई ॥ ८२-८३ ॥

हे मन को अभीष्ट मेरे प्राणवल्लभ! तुम्हारे बिना मेरी घड़ी भी सैकड़ों कल्पों के समान बीतती है ॥ ८४ ॥

निमेष भी मास के समान लगता है, घर कारागृह जैसा लगता है। हे नाथ! मेरे प्राण धारण का वचन दो ॥ ८५ ॥

संसार में वही नरशार्दूल परम उदय वाला है, जो मेरे को दर्शन मात्र से यहाँ कामदेव पीड़ित कर रहा है ॥ ८६ ॥

इत्यादिक प्रलाप को उसके प्रति संसक्त मन वाली वह भोजनादिक छोड़कर निरन्तर करती थी ॥ ८७ ॥

ठीक ही है, दुष्ट काम के द्वारा पृथ्वी तल पर बड़े-बड़े रुद्रादि भी जल गए, अन्य भोलेभालों की तो कथा ही क्या है? ॥ ८८ ॥

तभी वहाँ पर वह सेठ आया। उसे देखकर सागरदत्त ने भी उठकर आदर कर स्थान, आसन और शुभ वाक्यों से उत्तम सम्मान किया। सज्जनों का यह नित्य स्वभाव होता है कि वे सज्जनों के प्रति अत्यधिक विनययुक्त होते हैं ॥ ८९-९० ॥

अनन्तर साधर्मियों के योग्य कुशल वार्ता कर कन्या के पिता ने प्रसन्न होकर कहा। हे सज्जनोत्तम सेठ! ॥ ९१ ॥

आज मेरा मन्दिर विशेष रूप से पवित्र हो गया, जो कि पवित्र गुणों के सागर आप आ गए ॥ ९२ ॥

कृपाकर प्रीतिपूर्वक कुछ कार्य के विषय में कहिए। अनन्तर वृषभदास ने भी अपने मन की बात कही ॥ ९३ ॥

आपकी मनोरमा नाम की पुण्य से पवित्र पुत्री है। आप परम आदर-पूर्वक सुदर्शन के लिए दीजिए ॥ ९४ ॥

सागरदत्त नामक बुद्धिमान सेठ उसे सुनकर सन्तुष्ट हुआ। वह बोला— हे बुद्धिमान सेठ! साररूप स्वर्ण और मणि का सम्भव हुआ सुखदायक संयोग किसके लिए सुखदायी नहीं होता है? अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे पुत्र के लिए कन्या दे रहा हूँ ॥ ९५-९६ ॥

श्रृणु चान्यद्वचो भद्र गदतो मम साम्प्रतम् ।
ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं कुलम् ।। ९७ ।।

तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टाविपुष्टयोः ।
श्लोकोऽयं सत्यमापन्नः संबन्धादावयोरपि ।। ९८ ।।

गदित्वेति समाहूय श्रीधराख्यं विचक्षणम् ।
ज्योतिष्कशास्त्रसंपन्नं दत्वा मानं वणिग्जगौ । ९९ ।।

ब्रूहि भो त्वं शुभं लग्नं विवाहोचितमुत्तमम् ।
व्यवहारः सतां मान्यो यः शुभो भव्यदेहिनाम् ।। १०० ।।

सोऽवोचन्निकटश्चास्ति लग्नो मासे वसन्तके ।
सर्वदोषविनिर्मुक्तः पञ्चम्यां शुक्लपक्षके ।।१०१।।
संपूर्णायां तिथौ धीमान् यः करोति विवाहकम् ।
गृहं पूर्णं भवेत्तस्य पुत्ररत्नसमृद्धिभिः ।।१०२।।

तदा तौ परमानन्दनिर्भरौ वणिजां पती ।
पूर्वं कृत्वा जिनेन्द्राणां मन्दिरे शर्ममन्दिरे ।।१०३।।
पञ्चामृतैर्जगत्पूज्यजिनेन्द्रस्नपनं महत् ।
चक्रतुश्च महापूजां जलाद्यैः शर्मकारिणीम् ।।१०४।।

ततस्तौ स्वजनैर्युक्तौ विशिष्टैश्चित्तरञ्जनैः ।
विधाय मण्डपं दिव्यं महास्तम्भैः समुन्नतम् ।।१०५।।
सारवस्त्रादिभिर्युक्तं पुष्पमालाविराजितम् ।
सतां चेतोहरं पूतं लक्ष्म्या वासमिवायतम् ।।१०६।।
सद्वेदीपूर्णकुम्भाद्यैः संयुक्तं विलसद्ध्वजम् ।
कामिनीजनसंगीतध्वनिवादित्रराजितम् ।।१०७।।
महादानप्रवाहेण जनानां वा सुरद्रुमम् ।
रम्भास्तम्भैर्युतं चारुतोरणैः प्रविराजितम् ।।१०८।।
मङ्गलस्नानकं दत्वा कुलस्त्रीभिर्मनोहरम् ।
वस्त्राभरणसंदोहैः सत्ताम्बूलादिभिर्युतम् ।।१०९।।
महोत्सवैः समानीय तत्र पूतं वधूवरम् ।
शचीशक्रमिवात्यन्तसुन्दरं पुण्यमन्दिरम् ।।११०।।
वेद्यां संस्थाप्य पुष्पार्द्रतन्दुलाद्यैः सुमानितम् ।
जैनपण्डितसंप्रोक्तमहाहोमजपादिभिः ।।१११।।

हे भद्र ! मेरे द्वारा कहे हुए अन्य वचनों को अब सुनो ! जिन दोनों का समान धर्म और (जिन दोनों का) समान कुल होता है ।। ९७ ।।

उन दोनों में मैत्री और विवाह होता है । सम्पन्न और असम्पन्न में मैत्री और विवाह नहीं होता है । हम दोनों के सम्बन्ध से भी यह श्लोक सत्य हो गया है ।। ९८ ।।

ऐसा कहकर श्रीधर नामक ज्योतिष शास्त्र सम्पन्न विद्वान् को बुलाकर, सम्मान देकर वणिक् बोला ।। ९९ ।।

तुम विवाह के योग्य शुभ लग्न बतलाओ । वह व्यवहार सज्जनों को मान्य होता है जो भव्य जीवों को शुभ होता ।। १०० ।।

वह बोला—समस्त दोषों से रहित बसन्त मास की शुक्ल पक्ष की पंचमी तिथि निकट है ।।१०१।।

तिथि की पूर्णता पर जो बुद्धिमान् विवाह करता है, उसका घर पुत्ररत्न और समृद्धियों से पूर्ण होता है ।।१०२।।

अनन्तर परम आनन्द से भरे हुए उन दोनों वणिक् पतियों ने सुख के घर जिनमन्दिर में पहले पञ्चामृत से जगत्पूज्य जिनेन्द्र का महान् अभिषेक किया और जलादि से सुखकारी महापूजा की ।।१०३-१०४।।

अनन्तर उन दोनों ने चित्त को विशेष अनुरंजित करने वाले खंजनों (खंजन = एक विशेष प्रकार की चिड़िया) से युक्त बड़े-बड़े स्तम्भों से ऊँचा सार वस्त्रादि से युक्त, पुष्पमाला से सुशोभित, सज्जनों के चित्त को हरने वाला, पवित्र, लक्ष्मी के विस्तृत निवास के समान पूर्ण कुम्भादि से युक्त उत्तम वेदी, सुशोभित ध्वजा से युक्त, स्त्रियों के संगीत की ध्वनि और बाजे से सुशोभित लोगों के महादान के प्रवाह से कल्पवृक्ष के समान, केले के स्तम्भों से युक्त, सुन्दर तोरणों से सुशोभित दिव्य मण्डप बनाकर कुल स्त्रियों से मनोहर मङ्गल स्नान कराकर, वस्त्र और आभूषण के समूह तथा माला, ताम्बूल आदि से युक्त शची और इन्द्र के समान पवित्र वधू और वर को महोत्सवों के साथ सुन्दर, पवित्र मन्दिर में लाकर वेदी में बैठाकर, फूल और गीले चावल आदि से सुमानित, जैन पण्डित के द्वारा कहे हुए होम जप आदि से ।।१०५–१११।।

शुभे लग्ने दिने रम्ये कुलाचारविधानतः ।
भोजनादिकसद्दानैर्मानैश्चेतोऽभिरञ्जनैः ॥११२॥

तदा सागरदत्ताख्यः श्रेष्ठी भार्यादिभिर्युतः ।
पूर्णं श्रृङ्गारमादाय सुदर्शनकरे शुभे ॥११३॥

चिरं जीवेति संप्रोक्त्वा पुण्यधारामिवोज्ज्वलाम् ।
एषा तुभ्यं मया दत्ता जलधारां ददौ मुदा ॥११४॥

सोऽपि तत्पाणिपङ्केजपीडनं प्रमदप्रदम् ।
चक्रे सुदर्शनो धीमान् सर्वसज्जनरञ्जिकम् ॥११५॥

एवं तदा तयोस्तत्र सज्जनानन्दकारणम् ।
विवाहमङ्गलं दिव्यं समभूत्पुण्ययोगतः ॥११६॥

इत्थं सारविभूतिमङ्गलशतैर्दानैः सुमानैः शुभैः,
नित्यं पूर्णमनोरथैश्च नितरां जातो विवाहोत्सवः ।
सर्वेषां प्रचुरप्रमोदजनकः संतानसंवृद्धिकः,
सत्पुण्याच्छुभदेहिनां त्रिभुवने संपद्यते मङ्गलम् ॥११७॥

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिविरचिते सुदर्शनमनोरमाविवाहमङ्गलव्यावर्णनो नाम चतुर्थोऽधिकारः ।

शुभ लग्न, रम्य दिन में कुलाचार के विधानानुसार भोजनादिक सद्दान और चित्त को अनुरंजित करने वाले दान मान से सागरदत्त नामक सेठ ने आशीर्वादि से युक्त पूर्ण शृङ्गार कर सुदर्शनके शुभ हाथ में चिरकाल तक जियो ऐसा कहकर पुण्यधारा के समान उज्ज्वल यह मैंने तुम्हें दी, यह कहकर प्रसन्नता पूर्वक जलधारा दी ॥ ११२-११३-११४ ॥

उस बुद्धिमान् सुदर्शन ने भी समस्त सज्जनों की साक्षी में प्रकृष्ट मद को प्रदान करने वाले उसके हस्तकमल को ग्रहण किया ॥११५॥

इस प्रकार वहाँ पर उन दोनों का पुण्य योग से सज्जनों के आनन्द का कारण दिव्य विवाह मंगल हुआ ॥११६॥

इस प्रकार सार विभूति रूप सैकड़ों मंगलों से शुभ सुमान-दान से नित्य पूर्ण मनोरथों के साथ सम्पूर्ण विवाहोत्सव हुआ। तीनों भुवनों में सभी लोगों के प्रचुर प्रमोद का जनक, सन्तान की वृद्धि करने वाला, मंगल शुभ देह वालों के सत्पुण्य से होता है ॥११७॥

इस प्रकार पञ्चनमस्कार माहात्म्य प्रदर्शक सुदर्शनचरित में
मुमुक्षु विद्यानन्दविरचित सुदर्शनमनोरमा विवाह
मंगल व्यावर्णननामक चतुर्थ अधिकार समाप्त हुआ।

पञ्चमोऽधिकारः

अथातो दम्पती गाढं पूर्वपुण्यप्रभावतः ।
महास्नेहेन संयुक्तौ शचीदेवेन्द्रसंनिभौ ॥ १ ॥

भुञ्जानौ विविधान् भोगान् स्वपञ्चेन्द्रियगोचरान् ।
सुस्थितौ मन्दिरे नित्यं परमानन्दनिर्भरौ ॥ २ ॥

तदा कालक्रमेणोच्चैः संजाते सुरतोत्सवे ।
मनोरमा स्वपुण्येन शुभं गर्भं बभार च ॥ ३ ॥

अभ्रच्छाया यथा मेघं प्रजानां जीवनोपमम् ।
मासान्नव व्यतिक्रम्य सासूत सुतमुत्तमम् ॥ ४ ॥

सर्वलक्षणसंपूर्णं सुकान्ताख्यं जनप्रियम् ।
रत्नभूमिर्यथा रत्नसंचयं संपदाकरम् ॥ ५ ॥

एवं वृषभदासाख्यः स श्रेष्ठी पुण्यपाकतः ।
तारागणैर्यथा चन्द्रः पुत्रपौत्रादिभिर्युतः ॥ ६ ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तधर्मकर्मणि तत्परः ।
श्रावकाचारपूतात्मा दानपूजापरायणः ॥ ७ ॥
यावत्संतिष्ठते तावन्मुनीन्द्रो ज्ञानलोचनः ।
समाधिगुप्तनामोच्चैराजगाम वनान्तरम् ॥ ८ ॥

संघेन महता सार्द्धं रत्नत्रयविराजितः ।
श्रीजिनेन्द्रमताम्भोधिवर्धनैकविधुः सुधीः ॥ ९ ॥

तपोरत्नाकरो नित्यं भव्याम्भोरुहभास्करः ।
जीवादिसप्ततत्त्वार्थसमर्थनविशारदः ॥ १० ॥

धर्मोपदेशपीयूषवृष्टिभिः परमोदयः ।
सदा संतर्पयन् भव्यचातकौघान् दयानिधिः ॥ ११ ॥

तदागमनमात्रेण तद्वनं नन्दनोपमम् ।
सर्वर्तुफलपुष्पौघैः संजातं सुमनोहरम् ॥ १२ ॥

पञ्चमोऽधिकारः

अनन्तर पति-पत्नी पूर्व पुण्य के प्रभाव से इन्द्राणी और इन्द्र के तुल्य महान् स्नेह से युक्त हो गए ॥ १ ॥

अपने पञ्चेन्द्रिय के विषय रूप विविध भोगों को भोगते हुए घर में परम आनन्द से युक्त हो भली भाँति स्थित रहे ॥ २ ॥

अनन्तर कालक्रम से अत्यधिक सुरतोत्सव होने पर मनोरमा ने अपने पुण्य से शुभ गर्भ धारण किया ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाश की कान्ति प्रजाओं के जीवन हेतु मेघ को जन्म देती है, उसी प्रकार नव मास बीत जाने पर उसने उत्तम पुत्र उत्पन्न किया ॥ ४ ॥

समस्त लक्षणों से सम्पूर्ण, जनप्रिय सुकान्ता नामक रत्नमयी भूमि सम्पत्ति की खान रत्नों के समूह से जिस प्रकार युक्त होती है ॥ ५ ॥

इसी प्रकार वृषभदास नामक सेठ पुण्य के परिपाक से तारागण से युक्त चन्द्र के समान पुत्र, पौत्रादि से युक्त श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्र के द्वारा कहे हुए धर्म-कर्म में तत्पर, श्रावकाचार से पवित्रात्मा तथा दान पूजा परायण होकर जब रह रहा था, तभी ज्ञानलोचन समाधिगुप्त नामक मुनीन्द्र वन के मध्य आए ॥ ६-७-८ ॥

वे बहुत बड़े संघ के साथ थे, रत्नत्रय से सुशोभित थे, श्री जिनेन्द्र मत रूपी सागर की वृद्धि के लिए एकमात्र वृद्धिमान् चन्द्र थे ॥ ९ ॥

वे तप में रत्नाकर थे, नित्य भव्य कमलों (के विकास के लिए) सूर्य थे तथा जीवादि सप्त तत्त्व के अर्थ का समर्थन करने में विशारद थे ॥ १० ॥

धर्मोपदेश रूपी अमृत की वृष्टि से उनका परमोदय हुआ था। दया-निधि वे भव्य चातकों के समूह को सदा संतृप्त करते थे ॥ ११ ॥

उनके आगमन मात्र से नन्दन वन के समान वह वन समस्त ऋतुओं के फल और पुष्पों के समूह से सुमनोहर हो गया ॥ १२ ॥

जलाशयास्तरां स्वच्छाः संपूर्णा रेजिरे तदा।
जनतापच्छिदो नित्यं ते सतां मानसोपमाः ।। १३ ।।

क्रूराः सिंहादयश्चापि अभूवंस्ते दयापराः।
साधूनां सत्प्रभावेण किं शुभं यन्न जायते ।। १४ ।।

तत्प्रभावं समालोक्य वनपालः प्रहर्षतः।
फलादिकं समानीय धृत्वाग्रे भूपतिं जगौ ।। १५ ।।

भो राजन् भुवनानन्दी समायातो वने मुनिः।
संघेन महता सार्धं पवित्रीकृतभूतलः ।। १६ ।।

तन्निशम्य प्रभुस्तस्मै दत्वा दानं प्रवेगतः।
दापयित्वा शुभां भेरीं भव्यानां शर्मदायिनीम् ।। १७ ।।

सर्वैर्नृपमहासाद्यैः पौरलोकैः समन्वितः।
गत्वा वनं मुनिं वीक्ष्य त्रिःपरीत्य प्रमोदतः ।। १८ ।।

मुनेः पादाम्बुजद्वन्द्वं समभ्यर्च्य सुखप्रदम्।
कृताञ्जलिर्नमश्चक्रे भव्यानामित्यनुक्रमः ।। १९ ।।

मुनिः समाधिगुप्ताख्यो दयारससरित्पतिः।
धर्मवृद्धिं ददौ स्वामी हृष्टास्ते भूमिपादयः ।। २० ।।

ततस्तैर्विनयेनोच्चैः संपृष्टो मुनिसत्तमः।
धर्मं जगाद भो भव्याः श्रूयतां जिनभाषितम् ।। २१ ।।

धर्मं शर्माकरं नित्यं कुरुध्वं परमोदयम्।
प्राप्यन्ते संपदो येन पुत्रमित्रादिभिर्युताः ।। २२ ।।

सुराज्यं मान्यता नित्यं शौर्यौदार्यादयो गुणाः।
विद्या यशः प्रमोदश्च धनधान्यादिकं तथा ।। २३ ।।

स्वर्गो मोक्षः क्रमेणापि प्राप्यंते भव्यदेहिभिः।
स धर्मो द्विविधो ज्ञेयो मुनिश्रावकभेदभाक् ।। २४ ।।

मुनीनां स महाधर्मो भवेत्स्वर्गापवर्गदः।
सर्वथा पञ्चपापानां त्यागो रत्नत्रयात्मकः ।। २५ ।।

श्रावकाणां लघुः ख्यातस्तत्रादौ दोषवर्जितः।
देवोऽर्हन् केवलज्ञानी गुरुर्निर्ग्रन्थतामितः ।। २६ ।।

भरे हुए स्वच्छ जलाशय तब सुशोभित होने लगे। लोगों के ताप को नष्ट करने वाले वे सज्जनों के मन के समान थे ॥ १३ ॥

क्रूर सिंहादिक भी दयापरायण हो गए। साधुओं के अच्छे प्रभाव से कौन सा शुभ नहीं होता है ॥ १४ ॥

उनके प्रभाव को देखकर वनपाल अत्यधिक हर्षित हो गया। वह फलादिक लाकर, आगे रखकर राजा से बोला ॥ १५ ॥

हे राजन् ! संसार को आनन्दित करने वाले, भूतल को पवित्र करने वाले मुनि बहुत बड़े संघ के साथ वन में आये हैं ॥ १६ ॥

उस बात को सुनकर प्रभु ने उसे दान देकर वेगपूर्वक भव्यों को सुख देने वाली भेरी बजवाकर, वृषभदास आदि समस्त नगरवासियों के साथ वन जाकर, मुनि के दर्शन कर, प्रमोदपूर्वक तीन प्रदक्षिणा देकर, सुखप्रद मुनि के चरणकमलों की पूजा कर हाथ जोड़कर नमस्कार किया ॥ १७-१८-१९ ॥

दयारस के समुद्र स्वामी समाधिगुप्त नामक मुनि ने भव्यों को अनुक्रम से धर्मवृद्धि दी। वे राजा आदि हर्षित हुए ॥ २० ॥

अनन्तर उनके द्वारा अत्यधिक विनयपूर्वक पूछे जाने पर मुनिश्रेष्ठ ने धर्म कहा। हे भव्यों ! जिनवाणी को सुनो ॥ २१ ॥

परम उदय वाले सुखकर धर्म को नित्य करो। जिससे पुत्र मित्रादि से युक्त सम्पदायें प्राप्त होती हैं ॥ २२ ॥

धर्म से भव्य जीव को क्रम से सुराज्य, नित्य मान्यता, शौर्य, औदार्य आदि गुण, विद्या, यश, प्रमोद और धन-धान्यादिक की प्राप्ति होती है। मुनि और श्रावक के भेद से वह धर्म दो प्रकार का होता है ॥ २३-२४॥

मुनियों के वह महाधर्म स्वर्ग और अपवर्ग को देने वाला, समस्त पञ्च पापों के त्याग रूप तथा रत्नत्रयात्मक होता है ॥ २५ ॥

उनमें से आदि में दोष रहित श्रावकों का धर्म अणुव्रत रूप माना गया है। केवलज्ञानी अर्हन्तदेव तथा गुरु निर्ग्रन्थ स्मरण किए गए हैं ॥ २६ ॥

दशलाक्षणिको धर्मः श्रद्धा चेति सुखप्रदा ।
पालनीया सदा भव्यैर्दुर्गतिच्छेदकारिणी ॥ २७ ॥

जिनोक्तसप्ततत्त्वानां श्रद्धानं यच्च निर्मलम् ।
सम्यग्दर्शनमाम्नातं भवभ्रमणनाशनम् ॥ २८ ॥

तदौपशमिकं मिश्रं क्षायिकं च तदुच्यते ।
सप्तानां प्रकृतीनां हि शममिश्रक्षयोक्तिभिः ॥ २९ ॥

तेन युक्तो भवेद्धर्मो भव्यानां स्वर्गमोक्षदः ।
यथाधिष्ठानसंयुक्तः प्रासादः प्रविराजते ॥ ३० ॥

मद्यमांसमधुत्यागः सहोदुम्बरपञ्चकैः ।
अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणां श्रमणोत्तमः ॥ ३१ ॥

तथा सत्पुरुषैर्नित्यं द्यूतादिव्यसनानि च ।
संत्याज्यानि यकैः कष्टं महान्तोऽपि समाश्रिताः ॥ ३२ ॥

सप्तव्यसनमध्ये च प्रधानं द्यूतमुच्यते ।
कुलगोत्रयशोलक्ष्मीनाशकं तत्त्यजेद् बुधः ॥ ३३ ॥

कितवेषु सदा रागद्वेषासत्यप्रवञ्चनाः ।
दोषाः सर्वेऽपि तिष्ठन्ति यथा सर्पेषु दुर्विषम् ॥ ३४ ॥

अत्रोदाहरणं राजा श्रावस्त्यां सुमहानपि ।
सुकेतुस्तेन राज्यं च हारितं द्यूतदोषतः ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिरोऽपि भूपालो द्यूतेनात्र प्रवञ्चितः ।
कष्टां दशां ततां प्राप्तस्तस्माद्भव्यास्त्यजन्तु तत् ॥ ३६ ॥

श्रूयते च पुरा कुम्भनामा भूपः पलाशनात् ।
काम्पिल्याधिपतिर्नष्टः सूपकारेण संयुतः ॥ ३७ ॥

तथा पापी बको राजा पलासक्तः प्रणष्टधीः ।
लोकानां बालकानां च भक्षको निन्दितो जनैः ॥ ३८ ॥

भक्षित्वा विप्रपुत्रं च त्यक्तः पौरैर्विचक्षणैः ।
स मृत्वा दुर्गतिं प्राप पापिनामीदृशी गतिः ॥ ३९ ॥

मद्यपस्य भवेन्नित्यं नष्टबुद्धिः स्वपापतः ।
तत्पानमात्रतः शीघ्रं दृष्टान्तश्च निगद्यते ॥ ४० ॥

दशलाक्षणिक धर्म है। उसके प्रति श्रद्धा सुखप्रद है। दुर्गति को नष्ट करने वाली उस श्रद्धा का भव्यजनों को सदा रक्षा करना चाहिए ॥ २७ ॥

जिनोक्त सप्त तत्त्वों का जो निर्मल श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन कहा गया है। वह भव भ्रमण का नाश करने वाला है ॥ २८ ॥

सात प्रकृतियों के शम, मिश्रण और क्षय से जो सम्यग्दर्शन होता है, वह क्रमशः औपशमिक, क्षायिक और मिश्र कहा जाता है ॥ २९ ॥

सम्यग्दर्शन से युक्त धर्म होता है, जो कि भव्यों को स्वर्ग और मोक्ष देने वाला होता है, जिस प्रकार कि अधिष्ठान से युक्त प्रासाद सुशोभित होता है ॥ ३० ॥

श्रेष्ठ मुनियों ने पांच उदुम्बर फलों से युक्त मद्य, मांस तथा मधु के त्याग को गृहस्थों के अष्टमूलगुण कहा है ॥ ३१ ॥

तथा सत्पुरुषों को नित्य द्यूतादि व्यसनों का त्याग करना चाहिए। इन व्यसनों के आश्रय से महान् पुरुषों को भी कष्ट हुआ ॥ ३२ ॥

सप्त व्यसनों में प्रधान द्यूत कहा जाता है। इस द्यूत से कुल, गोत्र, यश और लक्ष्मी का विनाश होता है, अतः बुद्धिमान् व्यक्ति को इसका त्याग करना चाहिए ॥ ३३ ॥

जुवारियों में सदैव राग, द्वेष, असत्य, प्रवञ्चना आदि समस्त दोष रहते हैं, जिस प्रकार सर्पों में दुर्विष रहता है ॥ ३४ ॥

इस विषय में श्रावस्ती के राजा सुकेतु का उदाहरण है, जिसने जुए के दोष से अपना राज्य भी गँवा दिया ॥ ३५ ॥

राजा युधिष्ठिर भी द्यूत के द्वारा छले गए और कष्टकर अवस्था को प्राप्त हुए, अतः भव्यजनों को इसका त्याग करना चाहिए ॥ ३६ ॥

सुना जाता है कि पहले कुम्भ नामक काम्पिल्य का अधिपति राजा अपने रसोइए के साथ विनाश को प्राप्त हुआ ॥ ३७ ॥

मांस में आसक्त, नष्ट बुद्धि वाला, लोगों का और बालकों का भक्षक बक राजा लोगों के द्वारा निन्दित हुआ ॥ ३८ ॥

उसने ब्राह्मण के पुत्र को खा लिया, अतः बुद्धिमान् नगरवासियों ने उसका परित्याग कर दिया। वह मरकर दुर्गति को प्राप्त हुआ। पापियों की ऐसी ही गति होती है ॥ ३९ ॥

मद्यपायी की शीघ्र मद्य के पीने मात्र से अपने पाप से सदा बुद्धि नष्ट हो जाती है। (इस विषय में) दृष्टान्त कहा जाता है ॥ ४० ॥

एकपात्रामभागेको विप्रपुत्रोऽपि चैकदा।
परनाभकवेषेण गङ्गास्नानार्थनिर्गतः ॥ ४१ ॥

अटव्यां मत्तमातङ्गैर्मद्यमांसप्रभक्षकैः।
चाण्डालीसंगतैर्धृत्वा स प्रोक्तो रे द्विजात्मज ॥ ४२ ॥

मद्यमांसप्रियाणां च मध्ये यद्रोचतेतराम्।
तदेकं स्वेच्छया भुक्त्वा याहि त्वं स्नानहेतवे ॥ ४३ ॥

अन्यथा जाह्नवी माता दुर्लभा मरणावधि।
तन्निशम्य द्विजः सोऽपि चिन्तयामास चेतसि ॥ ४४ ॥

पापलेपकरं मांसं श्वभ्रदुःखनिबन्धनम्।
कथं वा भक्ष्यते विप्रैः कुलगोत्रक्षयंकरम् ॥ ४५ ॥

उक्तं च—

तिलसर्षपमात्रं च मांसं खादन्ति ये द्विजाः।
तिष्ठन्ति नरके तावद्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥ ४६ ॥

चाण्डालीसंगमे जाते क्वचिद्भ्रान्त्यापि पापतः।
प्रायश्चित्तं जगुर्विप्राः काष्ठलक्षणसंज्ञकम् ॥ ४७ ॥

धातकीगुडतोयोत्थं मद्यं सूत्रामणौ द्विजैः।
गृहीतं चेति मूढात्मा वेदमूढः स विप्रकः ॥ ४८ ॥

पीत्वा मद्यं प्रमत्तोऽसौ त्यक्तकौपीनकः कुधीः।
विधाय नर्त्तनं कष्टं क्षुधासंपीडितस्ततः ॥ ४९ ॥

भक्षित्वा च पलं तस्मात् प्रज्वलन्कामवह्निना।
चाण्डालीसंगमं कृत्वा दुर्गतिं सोऽपि संययौ ॥ ५० ॥

तस्मात्त्यज्यते सद्भिर्मद्यं दुःखशतप्रदम्।
संगतिश्चापि संत्याज्या मद्यपानविधायिनाम् ॥ ५१ ॥

गणिकासंगमेनापि पापराशिः प्रकीर्त्तितः।
मद्यमांसरतत्वाच्च परस्त्रीदोषतस्तथा ॥ ५२ ॥

पापर्द्धौ ब्रह्मदत्ताद्याः क्षितीशाश्च क्षयं गताः।
चौर्येण शिवभूत्याद्या रावणाद्याः परस्त्रिया ॥ ५३ ॥

तस्मादाखेटकं चौर्यं परस्त्री श्वभ्रकारणम्।
दौर्जन्यं च सदा त्याज्यं सद्भिः पापप्रदायकम् ॥ ५४ ॥

एकपाद नामक एक ब्राह्मण पुत्र एक बार परिव्राजक के वेष में गङ्गा स्नान के लिए निकला। वन में चाण्डाली से युक्त मद्य मांस को खाने वालेमतवाले चाण्डालों ने उसे पकड़ कर कहा। हे द्विजात्मज! ॥ ४१-४२॥

मद्य, मांस और स्त्री के मध्य जो तुम्हें अच्छी लगे, उसमें एक का अपनी इच्छा के अनुसार भोग कर तुम स्नान के लिए जाओ ॥ ४३ ॥

अन्यथा मरणकाल तक जाह्नवी माता दुर्लभ हो जायगी। उस बात को सुनकर वह ब्राह्मण भी मन में विचार करने लगा ॥ ४४ ॥

जो पाप से लिप्त करने वाले, नरक दुःख का कारण है, ऐसे कुल और गोत्र का क्षय करने वाले मांस को ब्राह्मण कैसे खायेंगे ? ४५ ॥

कहा भी है—

जो ब्राह्मण तिल और सरसों के बराबर भी मांस खाते हैं वे जब तक सूर्य और चन्द्रमा हैं, तब तक नरक में रहते हैं ॥ ४६ ॥

किसी भ्रान्ति से भी काष्ठ की बनी हुई चाण्डाली का संगम होने पर पाप के कारण ब्राह्मणों ने प्रायश्चित्त कहा है ॥ ४७ ॥

सूत्रामणि नामक यज्ञ में ब्राह्मणों ने बहेड़ा, गुड़ और जल से बनी हुई मद्य को ग्रहण किया। इस प्रकार वेदमूढ़ वह ब्राह्मण, मद्य पीकर प्रमत्त हो गया। दुर्बुद्धि वह कौपीन छोड़ कर नृत्य कर कष्टपूर्ण क्षुधा से पीड़ित हो गया ॥ ४८-४९ ॥

और मांस खाकर कामाग्नि के प्रज्वलित होने से चाण्डाली का संसर्ग कर वह भी दुर्गति को गया ॥ ५० ॥

अतः सज्जनों के द्वारा सैकड़ों दुःखों को प्रदान करने वाली मद्य का त्याग किया जाता है। मद्यपान करने वालों की संगति भी त्यागने योग्य है ॥ ५१ ॥

गणिका के संसर्ग से भी पापराशि कही गई है। मद्य, मांस में रत होने, परस्त्री दोष, तथा शिकार खेलने से ब्रह्मदत्तादि राजा नष्ट हो गये। चोरी से शिवभूति आदि तथा परस्त्री से रावण आदि नाश को प्राप्त हो गए ॥ ५२-५३ ॥

अतः शिकार खेलना, चोरी करना तथा परस्त्री गमन नरक के कारण हैं। सज्जनों को पाप प्रदान करने वाली दुष्टता का सदा त्याग करना चाहिए ॥ ५४ ॥

अणुव्रतानि पञ्चोच्चैस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि पालनीयानि धीधनैः ॥ ५५ ॥

सारधर्मविदा नित्यं संत्याज्यं रात्रिभोजनम् ।
अगालितं जलं हेयं धर्मतत्त्वविदांवरैः ॥ ५६ ॥

मांसव्रतविशुद्ध्यर्थं चर्मवारिघृतादिकम् ।
संधानकं सदा त्याज्यं दयाधर्मपरायणैः ॥ ५७ ॥

भोजनं परिहर्तव्यं मद्यमांसादिदर्शने ।
श्रावकाणां तथा हेयं कन्दमूलादिकं सदा ॥ ५८ ॥

पात्रदानं सदा कार्यं स्वशक्त्या शर्मसाधनम् ।
आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानविकल्पभाक् ॥ ५९ ॥

पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां सदा सद्गतिदायिनी ।
संस्तुतिः सन्मतिर्जापे सर्वपापप्रणाशिनी ॥ ६० ॥

शास्त्रस्य श्रवणं नित्यं कार्यं सन्मतिरक्षणम् ।
लक्ष्मी क्षेमयशःकारि कर्मास्रवनिवारणम् ॥ ६१ ॥

अन्ते सल्लेखना कार्या जैनतत्त्वविदांवरैः ।
परिग्रहं परित्यज्य सर्वशर्मशतप्रदा ॥ ६२ ॥

इत्यादि धर्मसद्भावं श्रुत्वा ते भूमिपादयः ।
सर्वे तं सुगुरुं नत्वा परमानन्दनिर्भराः ॥ ६३ ॥

केचिद्गृह्य व्रतं शीलं सोपवासं जिनोदितम् ।
सम्यक्त्वपूर्वकं लात्वा विशेषेण वृषं श्रिताः ॥ ६४ ॥

तदा वृषभदासस्तु श्रेष्ठी वैराग्यमानसः ।
चित्ते संचिन्तयामास संसारासारतादिकम् ॥ ६५ ॥

यौवनं जरसाक्रान्तं सुखं दुःखावसानकम् ।
शारदाभ्रसमा लक्ष्मीर्लोकिन स्थिरतां व्रजेत् ॥ ६६ ॥

अहो मोहमहाशत्रुवशीभूतेन नित्यशः ।
वृथा कालो मया नीतो रामाकनकतृष्णया ॥ ६७ ॥

पुत्रमित्रकलत्रादि सर्वं बुद्बुदसंनिभम् ।
भोगा भोगीन्द्रभोगाभाः सद्यः प्राणप्रहारिणः ॥ ६८ ॥

अत्यधिक रूप से पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बुद्धि रूपी धन वालों को पालना चाहिए ॥ ५५ ॥

सार रूप धर्म को जानने वालों को नित्य रात्रिभोजन त्यागना चाहिए। धर्म तत्त्व को जानने वाले लोगों में श्रेष्ठ जनों को बिना छना जल छोड़ना चाहिए ॥ ५६ ॥

मांस त्याग रूप व्रत की विशुद्धि के लिए दया धर्म परायणों को चमड़े में जल, घी आदि का रखना सदा त्यागना चाहिए ॥ ५७ ॥

मद्य, मांसादिक के दिखाई देने पर भोजन का परित्याग कर देना चाहिए। श्रावकों को सदा कन्दमूलादिक छोड़ना चाहिए ॥ ५८ ॥

सुख के साधन पात्र दान सदा अपनी शक्ति से करना चाहिए। उसके भेद होते हैं—आहार दान, अभय दान, औषधि दान और शास्त्र दान ॥ ५९ ॥

श्रीमज्जिनेन्द्रों की पूजा सदा सद्गति प्रदान करने वाली होती है। जिनेन्द्र स्तुति, जाप में उत्तम मन लगाना ये सब पाप को नष्ट करने वाले हैं ॥ ६० ॥

शास्त्र का श्रवण नित्य करना चाहिए। उत्तम बुद्धि का रक्षण लक्ष्मी, कल्याण और यश को करने वाला एवं कर्म रूपी आस्रव का निवारण करने वाला है ॥ ६१ ॥

जैन तत्त्व को जानने वाले लोगों को अन्त में सल्लेखना धारण करना चाहिए। सैकड़ों सुखों को प्रदान करने वाला परिग्रह त्याग करना चाहिए ॥ ६२ ॥

इत्यादि धर्म सद्भाव को सुनकर वे समस्त राजादिक सुगुरु को नमस्कार कर अत्यधिक आनन्द से भर गए ॥ ६३ ॥

कुछ भव्यों ने जिनकथित उपवास सहित व्रत, शील, सम्यक्त्वपूर्वक ग्रहण कर विशेष रूप से धर्म का आश्रय लिया ॥ ६४ ॥

अनन्तर सेठ वृषभदास ने वैराग्ययुक्त मन से संसार की असारता आदि के विषय में सोचा ॥ ६५ ॥

यौवन वृद्धावस्था से व्याप्त है, सुख का अवसान दुःख रूप है, लोक में लक्ष्मी शरत्कालीन मेघ के समान स्थिर है ॥ ६६ ॥

आश्चर्य की बात है, मोह रूपी महाशत्रु के वश नित्य स्त्री और स्वर्ण की तृष्णा से मैंने व्यर्थ ही समय बिता दिया ॥ ६७ ॥

पुत्र, मित्र, स्त्री आदि सब बुलबुले के समान हैं। भोग सर्प के शरीर के समान आभा वाले, तत्क्षण प्राण पर प्रहार करने वाले हैं ॥ ६८ ॥

यमः पापी खलः क्रूरः प्राणिनां प्राणनाशकृत् ।
समीपस्थोऽपि न ज्ञातो मया मुग्धेन तत्त्वतः ॥ ६९ ॥

कांश्चिद्गृह्णाति गर्भस्थान् बालकान् यौवनोचितान् ।
सस्वान् निःस्वान् गृहे वासान् वनस्थांस्तापसानपि ॥ ७० ॥

हन्ति दण्डी दुराचारः सर्वान् दावानलोपमः ।
मन्यमानस्तृणं चित्ते ये जगद्बलिनो भुवि ॥ ७१ ॥

रूपलक्ष्मीमदोपेताः परिवारैः परिष्कृताः ।
तानपि क्षणतः पापी क्षयं नयति सर्वथा ॥ ७२ ॥

तस्माद्यावदसौ कायः स्वस्थः पटुभिरिन्द्रियैः ।
यावदन्तं न यात्यायुः करिष्ये हितमात्मनः ॥ ७३ ॥

चिन्तयित्वेति पूतात्मा श्रेष्ठी निर्वेदतत्परः ।
समाधिगुप्तनामानं तं प्रणम्य कृताञ्जलिः ॥७४॥
प्रोवाच भो मुने स्वामिन् भव्याम्भोरुहभास्करः ।
त्वं सदा श्रीजिनेन्द्रोक्तस्याद्वादाम्बुधिचन्द्रमाः ॥ ७५ ॥

शारदेन्दुतिरस्कारिकीर्तिव्याप्तजगत्त्रयः ।
सारासारविचारज्ञः पञ्चाचारधुरंधरः ॥ ७६ ॥

षडावश्यकसत्कर्मशिथिलीकृतबन्धनः ।
परोपकारसंभारपवित्रीकृतभूतलः ॥ ७७ ॥

देहि दीक्षां कृपां कृत्वा जैनीं पापप्रणाशिनीम् ।
सोऽपि भट्टारकः स्वामी मत्वा तन्निश्चयं ध्रुवम् ॥ ७८ ॥
यथाभीष्टमहो भव्य कुरु त्वं स्वात्मनो हितम् ।
इत्युवाच शुभां वाणीं ज्ञानिनो युक्तिवेदिनः ॥ ७९ ॥

गुरोराज्ञां समादाय श्रेष्ठी वृषभदासवाक् ।
पुनर्नत्वा जिनान् सिद्धान् गुरोः पादाम्बुजद्वयम् ॥ ८० ॥
सुदर्शनं नरेन्द्रस्य समर्प्य विनयोक्तिभिः ।
एतस्य पालनं राजन् भवद्भिः क्रियते सदा ॥ ८१ ॥

श्रीमतां सारपुण्येन करोमि हितमात्मनः ।
इत्याग्रहेण तेनापि सोऽनुज्ञातः प्रशस्य च ॥ ८२ ॥

यमराज पापी, दुष्ट, क्रूर और प्राणियों के प्राण का नाश करने वाला है। समीप में स्थित होने पर भी मुझ भोले भाले ने यथार्थ रूप नहीं जाना ॥ ६९ ॥

यह किसी गर्भस्थ, बालक, युवक, धनी, निर्धन, गृहस्थ तथा वनस्थ तापसों को भी पकड़ लेता है ॥ ७० ॥

दावानल के समान यह दण्डी संसार में जो बली हैं, उन समस्त दुरात्माओं को चित्त में तृण के समान मानता हुआ नष्ट कर देता है ॥ ७१ ॥

परिवार से परिष्कृत जो रूप और लक्ष्मी के मद से युक्त हैं, उन्हें भी यह पापी सर्वथा नष्ट कर देता है ॥ ७२ ॥

अतः जब तक यह शरीर चतुर इन्द्रियों से युक्त है, जब तक आयु का अन्त नहीं आता है, तब तक अपना हित करूँगा ॥ ७३ ॥

यह सोचकर वैराग्य में तत्पर, पवित्र आत्मा वाले सेठ ने उन समाधि-गुप्त नामक मुनि को हाथ जोड़ नमस्कार कर कहा—हे स्वामी, मुनि भव्य कमलों के लिए सूर्य तुम सदा श्रीजिनेन्द्र कथित स्याद्वाद रूपी समुद्र के लिए चन्द्रमा हो ॥ ७४-७५ ॥

आपकी शरत्कालीन चन्द्रमा का तिरस्कार करने वाली कीर्ति तीनों लोकों में व्याप्त है। आप सार और असार के विचार को जानते हैं, पाँच प्रकार के आचार की धुरी को धारण करने वाले हैं ॥ ७६ ॥

छह प्रकार के अच्छे कर्मों से आपने बन्धन शिथिल कर दिए हैं। परोपकार के समूह से आपने भूतल को पवित्र किया है ॥ ७७ ॥

कृपा कर पाप को नष्ट करने वाली जैनी दीक्षा दीजिए। वह स्वामी भट्टारक भी उनके निश्चय को स्थिर मानकर, हे भव्य जैसा तुम्हें अभीष्ट हो, तुम अपने हित को करो। इस प्रकार युक्ति को जानने वाले ज्ञानी ने शुभ वाणी कही ॥ ७८-७९ ॥

सेठ वृषभदास गुरु की आज्ञा सिद्ध जिनों को तथा गुरु के दो चरण-कमलों को नमस्कार कर, विनय वचनों से सुदर्शन को राजा को सौंपकर कहा—राजन् ! आप इसका सदा पालन करें ॥ ८०-८१ ॥

श्रीमानों के सार रूप पुण्य से मैं अपना हित करता हूँ, इस प्रकार आग्रह करने पर उसने भी अनुमति दी और प्रशंसा की ॥ ८२ ॥

श्रेष्ठिन् संसारकान्तारे धन्यास्तेऽत्र भवादृशाः ।
ये कुर्वन्ति निजात्मानं पवित्रं जिनदीक्षया ॥ ८३ ॥

ततः श्रेष्ठी प्रहृष्टात्मा जिनस्नपनपूजनम् ।
कृत्वा बन्धून् समापृच्छ्य विनयैर्मधुरोक्तिभिः ॥ ८४ ॥
बाह्याभ्यन्तरसंभूतं परित्यज्य परिग्रहम् ।
दत्वा सुदर्शनायाशु धनं धान्यादिकं परम् ॥ ८५ ॥
निजं श्रेष्ठिपदं चापि क्षमां कृत्वा समन्ततः ।
दीक्षामादाय निःशल्यो मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ ८६ ॥

श्रेष्ठिनी जिनमत्याख्या तदा तद्गुरुपादयोः ।
युग्मं प्रणम्य मोहादिपरिग्रहपराङ्मुखा ॥ ८७ ॥
वस्त्रमात्रं समादाय लात्वा दीक्षां यथोचिताम् ।
संश्रिता भक्तितः कांचिदार्यिकां शुभमानसाम् ॥ ८८ ॥

एवं तौ द्वौ जिनेन्द्रोक्तं तपः कृत्वा सुनिर्मलम् ।
समाधिना ततः काले स्वर्गसौख्यं समाश्रितौ ॥ ८९ ॥
स्थितौ तत्र स्वपुण्येन परमानन्दनिर्भरौ ।
जिनेन्द्रतपसा लोके किमसाध्यं सुखोत्तमम् ॥ ९० ॥

इतः सुदर्शनो धीमान् प्राप्य श्रेष्ठिपदं शुभम् ।
राजमान्यो गुणैर्युक्तः सत्यशौचक्षमादिभिः ॥ ९१ ॥
पितुः सत्संपदां प्राप्य स्वार्जितां च विशेषतः ।
भुञ्जन् भोगान् मनोऽभीष्टान् विपुण्यजनदुर्लभान् ॥ ९२ ॥
मनोरमाप्रियोपेतः सज्जनैः परिवारितः ।
इन्द्रो वात्र प्रतीन्द्रेण स्वपुत्रेण विराजितः ॥ ९३ ॥

श्रीजिनेन्द्रपदाम्भोजपूजनैकपवित्रधीः ।
सम्यग्दृष्टिर्जिनेन्द्रोक्तश्रावकाचारतत्परः ॥ ९४ ॥

पात्रदानप्रवाहेण श्रेयो राजाथवापरः ।
दयालुः परमोदारो गम्भीरः सागरादपि ॥ ९५ ॥

मनोरमालतोपेतः पुत्रपल्लवसंचयः ।
कुर्वन् परोपकारं स कल्पशाखीव संबभौ ॥ ९६ ॥

हे सेठ ! यहाँ संसार रूप वन में वे आप जैसे धन्य हैं जो जिनदीक्षा से निजात्मा को पवित्र करते हैं ॥ ८३ ॥

अनन्तर अत्यन्त हर्षित आत्मावाला सेठ जिनाभिषेक और पूजन कर बन्धुओं से विनय युक्त मधुर उक्तियों से पूछकर, बाह्य और आभ्यन्तर जन्य परिग्रह का त्याग कर सुदर्शन को शीघ्र धन-धान्यादिक देकर तथा अपना श्रेष्ठी पद भी देकर, सबसे क्षमा कर दीक्षा लेकर शल्यरहित विचक्षण मुनि हो गया ॥ ८४-८५-८६ ॥

जिनमती नामक सेठानी ने भी तब उन गुरु के चरणयुगल में प्रणाम कर मोहादि परिग्रह से पराङ्मुख होकर, वस्त्र मात्र ग्रहण कर यथायोग्य दीक्षा लेकर भक्तिपूर्वक शुभ मन वाली किसी आर्यिका का आश्रय लिया ॥ ८७-८८ ॥

इस प्रकार समय पाकर दोनों ने जिनेन्द्रोक्त सुनिर्मल तप कर समाधि-पूर्वक स्वर्ग के सुख का आश्रय लिया ॥ ८९ ॥

वहाँ पर दोनों अपने पुण्य से परम आनन्द से भरे हुए ठहरे। जिनेन्द्र के तप से लोक में कौन-सा उत्तम सुख असाध्य है ? कोई नहीं है ॥९०॥

इधर बुद्धिमान् सुदर्शन शुभ श्रेष्ठि के पद को पाकर राजमान्य होकर सत्य शौचादि गुणों से युक्त होकर, पिता की सत्सम्पदा पाकर तथा विशेष रूप से अपने द्वारा उपार्जित सम्पदा पाकर पुण्य रहित लोगों के लिए दुर्लभ, मन को अभीष्ट भोगों को भोगते हुए, मनोरमा प्रिया से युक्त सज्जनों से घिरा हुआ वह ऐसा लगता था मानों अपने पुत्र से सुशोभित इन्द्र प्रतीन्द्र से घिरा हुआ हो ॥ ९१-९२-९३ ॥

वह श्रीमज्जिनेन्द्र के पद कमल के पूजन में एक मात्र पवित्र बुद्धि वाला सम्यग्दृष्टि था तथा जिनेन्द्रोक्त श्रावकाचार का पालन करने में तत्पर था ॥ ९४ ॥

पात्रदान के प्रभाव से वह दूसरा कल्याण रूप राजा था। वह दयालु, परम उदार और सागर से भी अधिक गम्भीर था ॥ ९५ ॥

मनोरमा रूपी लता से युक्त, पुत्र रूपी पल्लवों के समूह से युक्त परोपकार करता हुआ, वह कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हुआ ॥ ९६ ॥

जिनेन्द्रभवनोद्धारं प्रतिमाः पापनाशनाः ।
तत्प्रतिष्ठां जगत्प्राणितर्पिणीं वा घनावलीम् ॥ ९७ ॥

कुर्वन् जिनोदितं धर्मं राज्यकार्येषु धीरधीः ।
त्रिसन्ध्यं जिनराजस्य वन्दनाभक्तितत्परः ॥ ९८ ॥

तस्थौ सुखेन पूतात्मा सज्जनानन्ददायकः ।
शृण्वन् वाणीं जिनेन्द्राणां नित्यं सद्गुरुसेवनात् ॥ ९९ ॥

तस्य किं वर्ण्यते धर्मप्रवृत्तिर्भुवनोत्तमा ।
यां विलोक्य परे चापि बहवो धर्मिणोऽभवन् ॥ १०० ॥

इत्थं सारजिनेन्द्रधर्मरसिकः सद्दानपूजादिभि-
र्नित्यं चारुपरोपकारचतुरो राजादिभिर्मानितः ।
नानारत्नसुवर्णवस्तुनिकरैः श्रीसज्जनैर्मण्डितः,
श्रेष्ठी सारसुदर्शनो गुणनिधिस्तस्थौ सुखं मन्दिरे ॥ १०१ ॥

इति सुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षु-
श्रीविद्यानन्दिविरचिते सुदर्शनश्रेष्ठिपदप्राप्ति-
व्यावर्णनो नाम पञ्चमोऽधिकारः ॥

उसने जिनेन्द्र भवनों का उद्धार कराया और संसार के प्राणियों को तृप्त करने वाली मेघमाला के समान पापनाशक प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराई ॥ ९७ ॥

राज्य कार्यों के मध्य में धीर बुद्धि वाला वह जिन कथित धर्म करता हुआ तीनों सन्ध्याओं में जिनराज की वन्दना और भक्ति में तत्पर रहता था ॥ ९८ ॥

सज्जनों को आनन्द देने वाला वह पवित्रात्मा नित्य जिनेन्द्र भगवान् की वाणी सुनता था व सद्गुरुओं की सेवा करता था ॥ ९९ ॥

भुवनों में उत्तम उसकी धर्म प्रवृत्ति का क्या वर्णन क्या किया जाय ? जिसे देखकर दूसरे बहुत से लोग धार्मिक हो गए ॥ १०० ॥

इस प्रकार सार रूप जिनेन्द्र भगवान् के धर्म का रसिक सुदर्शन सद्दान-मानादि से नित्य सुन्दर परोपकार में तत्पर रहकर राजादि से सम्मान प्राप्त कर, नाना प्रकार के रत्न और सुवर्ण की वस्तुओं के समूह से, लक्ष्मी और सज्जनों से मण्डित होकर सार रूप गुणों की निधिस्वरूप सुखपूर्वक घर में रहा ॥ १०१ ॥

इस प्रकार सुदर्शनचरित में पञ्चनमस्कार माहात्म्य प्रदर्शक मुमुक्षु-श्री विद्यानन्दि विरचित सुदर्शनश्रेष्ठिपदप्राप्तिव्यावर्णन नामक पञ्चम अधिकार समाप्त हुआ ॥

षष्ठोऽधिकारः

अथैकदा स्वपुण्येन रूपसौभाग्यसुन्दरः ।
श्रेष्ठी सुदर्शनो धीमान् स्वकार्यार्थं पुरे क्वचित् ॥ १ ॥
संव्रजन् शीलसंपन्नः परस्त्रीषु पराङ्मुखः ।
श्रावकाचारपूतात्मा जिनभक्तिपरायणः ॥ २ ॥

कपिलस्य गृहासन्ने यदा यातो नताननः ।
दृष्टः कपिलया तत्र रूपरञ्जितसज्जनः ॥ ३ ॥

तदा सा लम्पटा चित्ते कामबाणकरालिता ।
चिन्तयामास तद्रूपं भुवनप्रीतिकारकम् ॥ ४ ॥
यदानेन समं कामक्रीडां कुर्वे निजेच्छया ।
तदा मे जीवितं जन्म यौवनं सफलं भुवि ॥ ५ ॥

अन्यथा निष्फलं सर्वं निर्जने कुसुमं यथा ।
चिन्तयित्वेति विप्रस्त्री कपिला स्मरविह्वला ॥ ६ ॥
कार्यार्थं कपिले क्वापि गते तस्मिन्निजेच्छया ।
स्वसखीं प्राह भो मातः सुदर्शनमिमं शुभम् ॥ ७ ॥
त्वं समानीय मे देहि कामदाहप्रशान्तये ।
नो चेन्मां विद्धि भो भद्रे संप्राप्तां यममन्दिरम् ॥ ८ ॥

अयं मे सर्वथा सत्यमुपकारो विधीयते ।
त्वदन्या मे सखी नास्ति प्राणसंधारणे ध्रुवम् ॥ ९ ॥
यथा तारातती व्योम्नि चन्द्रज्योत्स्ना तमःप्रहा ।
सत्यं कामातुरा नारी चञ्चला किं करोति न ॥ १० ॥
तदाकर्ण्य सखी सापि प्रेरिता पापिनी तया ।
गत्वा द्राग्वचने चञ्चुस्तत्समीपं प्रपञ्चिनी ॥ ११ ॥
कृत्वा हस्तपुटं प्राह शृणु त्वं शुभगोत्तम ।
सखा ते कपिलो विप्रो महाज्वरकदर्थितः ॥ १२ ॥
बालमित्रं भवानुच्चैर्नागतोऽसि कथं किल ।
तन्निशम्य सुधीः सोऽपि सुदर्शनवणिग्वरः ॥ १३ ॥
तां जगौ शृणु भो भद्रे न जानेऽहं च सर्वथा ।
इदानीमेव जानामि तवाख्या शपथेन च ॥ १४ ॥

षष्ठोऽधिकारः

एक बार अपने पुण्य से रूप सौभाग्य से सुन्दर बुद्धिमान् सेठ सुदर्शन अपने कार्य के लिए किसी नगर में जा रहा था। वह शील सम्पन्न, परस्त्रियों से पराङ्मुख, श्रावकाचार से पवित्र आत्मा वाला तथा जिन-भक्तिपरायण था ॥ १-२ ॥

नतमस्तक होकर जब वह कपिल के घर के समीप गया। तो वहाँ रूप से रञ्जित उस सज्जन को कपिला ने देखा ॥ ३ ॥

तब काम के बाणों में भयंकर चित्त में उसने भुवन में प्रीतिकारक उस रूप के विषय में सोचा, जब मैं इसके साथ अपनी इच्छा से कामक्रीड़ा करूँगी, तभी मेरा जीवन, जन्म और यौवन भूमि पर सफल है ॥ ४-५ ॥

अन्यथा जनरहित स्थान में फूल के समान सब निष्फल है। काम-विह्वला ब्राह्मणस्त्री कपिला ऐसा विचारकर, जब कपिल अपनी इच्छा से किसी कार्य से कहीं गया तो उसने अपनी सखी से कहा। हे माता ! इस शुभ सुदर्शन को तुम लाकर मेरे कामदाह की शान्ति के लिए दो, नहीं तो हे भद्रे ! तुम मुझे यम मन्दिर को प्राप्त हुई ही समझो ॥ ६-७-८ ॥

सत्य रूप में मेरे ऊपर तुम्हारा यह उपकार होगा। मेरे प्राण धारण करने में निश्चित रूप से तुम जैसी अन्य सखी नहीं है ॥ ९ ॥

जिस प्रकार ताराओं के समूह के होने पर चन्द्रमा की चाँदनी अन्धकार को नष्ट कर देती है। सचमुच कामातुरा चञ्चला नारी क्या नहीं करती है ? उस बात को सुनकर पापिनी उसके द्वारा प्रेरित बोलने में चतुर वह प्रपञ्चिनी सखी भी शीघ्र जाकर हाथ जोड़कर बोली। हे सुन्दर व्यक्तियों में उत्तम तुम सुनो। तुम्हारा मित्र कपिल ब्राह्मण महाज्वर से पीड़ित है ॥ १०-११-१२ ॥

आप उसके बालमित्र होकर भी कैसे नहीं आए। उस बात को सुनकर बुद्धिमान् वह वणिक् श्रेष्ठि सुदर्शन भी उससे बोला। हे भद्रे, मैं यह बात सर्वथा नहीं जानता हूँ। तुम्हारी उक्ति और शपथ से इसी समय जान रहा हूँ ॥ १३-१४ ॥

गदित्वेति तया सार्द्धं चलितो मित्रवत्सलः ।
हा मया जानता कैश्चिद्वासरैः सुहृदुत्तमः ॥ १५ ॥
प्रमादान्नेक्षितो नैव चिन्तयन्निति मानसे ।
यावत्तद्गृहमायाति तावत्सा कपिला खला ॥ १६ ॥
कामासक्ता स्वशृङ्गारं कृत्वा सच्चन्दनादिभिः ।
भूमावुपरि पल्यङ्के कोमलास्तरणान्विते ॥ १७ ॥
कञ्चुकीव सुवस्त्रेण स्वमाच्छाद्य सुखं स्थिता ।
लम्पटा स्त्री दुराचारप्रकारचतुरा किल ॥ १८ ॥

यथा देवरते रक्ता यशोधरनितम्बिनी ।
अन्या वीरवती चापि दुष्टा गोपवती यथा ॥ १९ ॥

दुष्टाः किं किं न कुर्वन्ति योषितः कामपीडिताः ।
या धर्मवर्जिता लोके कुबुद्धिविषदूषिताः ॥ २० ॥

तदा प्राप्तः सुधीः श्रेष्ठी जगौ भद्रे क्व मे सखा ।
तयोक्तं चोपरिस्थाने मित्रं ते तिष्ठति द्रुतम् ॥ २१ ॥

एकाकिना त्वया श्रेष्ठिन् गम्यतें हितचेतसा ।
तन्निशम्य सुधीः सोऽपि मित्रं द्रष्टुं समुत्सुकः ॥ २२ ॥

श्रेष्ठी सहागतान् सर्वान् परित्यज्य विचक्षणः ।
गत्वा तत्र च पल्यङ्के स्थित्वा प्राह पवित्रधीः ॥ २३ ॥

क्व तेऽनिष्टं शरीरेऽभूद् ब्रूहि भो मित्रपुङ्गव ।
कियन्तो दिवसा जाताः कथं नाकारिता वयम् ॥ २४ ॥

औषधं क्रियते किं वा वचो मे देहि शर्मदम् ।
को वा वैद्यः समायाति कराब्जं मित्र दर्शय ॥ २५ ॥

एवं यावत्सुधीर्मित्रस्नेहेन वदति द्रुतम् ।
तावत्सापि करं तस्य गृहीत्वा हृदये ददौ ॥ २६ ॥

तां विलोक्य तदा सोऽपि कम्पितो हृदये तराम् ।
सुधीः शीघ्रं समुत्तिष्ठन् पुनर्धृत्वा तयोदितम् ॥ २७ ॥

शृणु त्वं प्राणनाथात्र वचो मे जितमन्मथ ।
सुभोगामृतपानेन कामरोगं व्यपोहय ॥ २८ ॥

ऐसा कहकर मित्र से प्रेम करने वाला उसके साथ चला। हाय ! मैंने जान बूझकर कुछ दिन उत्तम मित्र को प्रमाद से नहीं देखा, इस प्रकार मन में विचार करते हुए जब तक उसके घर आता है। तब तक वह दुष्टा कपिला कामासक्त होकर माला, चन्दनादि से अपना शृंगार कर भूमि पर कोमल बिछौने से युक्त पलंग पर कछवी के समान सुन्दर वस्त्र से मुख को आच्छादित कर स्थित हुई। जो लम्पट स्त्री होती है, वह निश्चित रूप से दुराचार के प्रकार में चतुर होती है ॥ १५-१६-१७-१८ ॥

जिस प्रकार यशोधर की स्त्री देवरत में रक्त थी अथवा जैसे वीरवती तथा दुष्टा गोपवती अन्य पुरुष में रक्त थीं ॥ १९ ॥

जो लोक में धर्म रहित और कुबुद्धि रूपी विष से दूषित होती हैं, ऐसी कामपीड़ित दुष्टा स्त्रियाँ क्या-क्या नहीं करती हैं ॥ २० ॥

तब बुद्धिमान् सेठ आया और बोला--भद्रे ! मेरा मित्र कहाँ है ? उसने शीघ्र कहा कि तुम्हारा मित्र ऊपर है ॥ २१ ॥

हितकारी चित्त से हे सेठ ! तुम अकेले ही जाओ। इस बात को सुनकर वह भी मित्र को देखने के लिए उत्सुक हो गया ॥ २२ ॥

वह बुद्धिमान् सेठ साथ में आए हुए समस्त लोगों को छोड़कर पवित्र बुद्धि से वहाँ जाकर पलंग पर बैठकर बोला ॥ २३ ॥

तुम्हारे शरीर में क्या अनिष्ट हुआ, हे मित्रश्रेष्ठ, कहिए। कितने दिन बीत गए। हम लोगों को क्यों नहीं बुलाया ? ॥ २४ ॥

तुम्हारी क्या दवा की जाय, मुझे सुखदायक वचन दो। अथवा कौन वैद्य आता है। हे मित्र ! हस्तकमल को दिखलाओ ॥ २५ ॥

इस प्रकार वह बुद्धिमान् जब तक मित्र के स्नेह से बोला, तब तक उसने भी उसका हाथ पकड़कर वक्षःस्थल पर रख लिया ॥ २६ ॥

तब उसे देखकर वह भी हृदय में कम्पित हुआ। बुद्धिमान् जब वह शीघ्र ही उठ रहा था तो उसे पुनः पकड़कर उसने कहा ॥ २७ ॥

हे कामदेव को जीतने वाले ! तुम यहाँ मेरे वचन सुनो। सुभोग रूपी अमृत के पान से कामरोग दूर करो ॥ २८ ॥

त्वदन्यो नास्ति मे वैद्यश्चिकित्साकर्मकोविदः ।
तवाधरसुधाधारां देहि मे साम्प्रतं द्रुतम् ॥ २९ ॥

यतः कामाग्निशान्तिर्मे संभवेत्प्राणवल्लभ ।
स्मरबाणव्रणे देहे पट्टं वालिङ्गनं कुरु ॥ ३० ॥

इदं चूर्णं तवैवास्ति यद्देहि मुखचुम्बनम् ।
प्राणान् मे नश्वरान् स्वामिन् रक्ष त्वं सुभगोत्तम् ॥ ३१ ॥

यन्मयालपितं नाथ कामबाणप्रपीडया ।
तत्त्वं सर्वप्रकारेण मदाशां पूरय प्रभो ॥ ३२ ॥

इत्यादिकं समाकर्ण्य तद्वाक्यं पापकारणम् ।
तदा सुदर्शन ! श्रेष्ठी स्वचित्ते चकितस्तराम् ॥ ३३ ॥

चिन्तयामास पूतात्मा गृहीतस्तु तया दृढम् ।
मनोरमां परित्यज्य परनारी स्वसा मम ॥ ३४ ॥

धर्मदृग्ज्ञानसद्वृत्तरत्नचोरणतस्करी ।
अस्मात् कथं मया शीघ्रं गम्यते शीलसागरः ॥ ३५ ॥

अधोमुखः क्षणं ध्यात्वा मानसे चतुरोत्तमः ।
तदोवाच वचः शीघ्रं कामाग्निज्वलितां प्रति ॥ ३६ ॥
भो भद्रे त्वं न जानासि वचस्ते निःफलं गतम् ।
किं करोमि विशालाक्षि षण्ढत्वं मयि वर्तते ॥ ३७ ॥

कर्मणामुदयेनात्र बहीरम्यं वपुश्च मे ।
इन्द्रवारुणिकं वात्र फलं मेऽस्ति शरीरकम् ॥ ३८ ॥

अस्माकं च कदाप्यत्र वार्ता मित्रेण नोदिता ।
तवाग्रे सर्वविप्राणां कुलाम्भोरुहभानुना ॥ ३९ ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य मानसोद्वेगकारकम् ।
हताशा स्वमुखं कृत्वा कृष्णवर्णं सुदुःखिता ॥ ४० ॥

मानभङ्गं तदा प्राप्य कपिला कुलनाशिनी ।
स्वकरात्तं विमुच्याशु स्थिता सा चाप्यधोमुखी ॥ ४१ ॥

अस्थाने येऽत्र कुर्वन्ति भोगाशां पापवञ्चिताः ।
ते सदा कातरा लोके मानभङ्गं प्रयान्ति च ॥ ४२ ॥

तुम्हारे अतिरिक्त कोई दूसरा चिकित्सा कर्म को जानने वाला मेरा वैद्य नहीं है। अपने अधर रूपी अमृत की धारा मुझे शीघ्र दो ॥ २९ ॥

जिससे हे प्राणवल्लभ! मेरी कामाग्नि की शान्ति हो। कामदेव के बाण से हुए घाव पर तुम पट्टी बाँधने के समान आलिंगन करो ॥ ३० ॥

यह चूर्ण तुम्हारा ही है, जो कि मुख का चुम्बन दो। हे सुन्दरों में उत्तम स्वामी! मेरे जाते हुए प्राणों की रक्षा करो ॥ ३१ ॥

हे नाथ! काम बाण की प्रकृष्ट पीड़ा से जो मैंने कहा, हे प्रभो! तुम सब प्रकार उस मेरी आशा को पूर्ण करो ॥ ३२ ॥

इत्यादि पाप का कारण उसका वाक्य सुनकर सेठ सुदर्शन अपने चित्त में अत्यन्त भयभीत हुए ॥ ३३ ॥

पवित्रात्मा वे उसके द्वारा दृढ़ता से पकड़ लिए जाने पर सोचने लगे कि मनोरमा को छोड़कर परस्त्री मेरी बहिन है ॥ ३४ ॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप धर्म रत्न की चोरिणी इससे मेरे द्वारा कैसे शीलरूपी सागर छिन रहा है ॥ ३५ ॥

चतुरों में उत्तम अधोमुख होकर वह मन में सोचकर शीघ्र ही उस कामाग्नि से जली हुई के प्रति बोला—हे भद्रे! तुम नहीं जानती हो। तुम्हारे वचन निष्फल गए। हे विशाल नयनों वाली! मैं क्या करूँ? मुझमें नपुंसकत्व है ॥ ३६-३७ ॥

कर्मों के उदय से मेरा शरीर बाहर सुन्दर है। इन्द्र और वरुण के समान मुझे शरीर सम्बन्धी फल प्राप्त है ॥ ३८ ॥

समस्त ब्राह्मण समूह रूपी कमलों के लिए सूर्य स्वरूप मित्र से हमने कभी भी यह बात नहीं कही ॥ ३९ ॥

इस प्रकार मन में घबड़ाहट उत्पन्न करने वाले उसके वचन सुनकर नष्ट आशा वाली वह अपने मुख को काला कर दुःखित हुई ॥ ४० ॥

अत्यधिक मानभङ्ग प्राप्त कर कुलनाशिनी वह कपिला अपने हाथ से उन्हें शीघ्र छोड़कर अधोमुखी स्थित रही ॥ ४१ ॥

पाप से ठगाए गए जो अस्थान में ही भोग की आशा करते हैं, वे लोक में सदा दुःखी होकर मानभङ्ग को प्राप्त करते हैं ॥ ४२ ॥

सोऽप्यगात्स्वगृहं शीघ्रं व्याघ्रात्त्रस्तो मृगो यथा ।
मत्वेति दुष्टयोषित्सु विश्वासो न विधीयते ॥ ४३ ॥

ये सन्तो भुवने भव्या जिनेन्द्रवचने रताः ।
येन केन प्रकारेण शीलं रक्षन्ति शर्मदम् ॥ ४४ ॥

ये परस्त्रीरता मूढा निकृष्टास्ते महीतले ।
दुःखदारिद्रयदुर्भाग्यमानभङ्गं प्रयान्ति ते ॥ ४५ ॥

ज्ञात्वेति मानसे सत्यं जिनोक्तं शर्मदं वचः ।
शीलरत्नं प्रयत्नेन पालनीयं सुखार्थिभिः ॥ ४६ ॥

ततः श्रेष्ठी विशुद्धात्मा स भव्यः श्रीसुदर्शनः ।
स्वशीलरक्षणे दक्षो यावत्संतिष्ठते सुखम् ॥ ४७ ॥

कुर्वन् धर्मं जिनप्रोक्तं सर्वप्राणिसुखावहम् ।
तावन्मधुः समायातो मासो जनमनोहरः ॥ ४८ ॥

वनस्पतिनितम्बिन्याः प्रियो वा प्रमदप्रदः ।
कामिनां सुतरां रम्यो महोत्सवविधायकः ॥ ४९ ॥

जलाशयानपि व्यक्तं सुविरजीकुर्वंस्तराम् ।
विरेजे स मधुर्नित्यं संगमो वा सतां हितः ॥ ५० ॥

वस्त्राभरणसंयुक्तान् प्रमोदभरनिर्भरान् ।
जनान् कुर्वन् सुखोपेतान् स सुराजेव संबभौ ॥ ५१ ॥

चम्पकाम्रवसन्तादीन् पादपान् पल्लवान्वितान् ।
फलपुष्पादिसंपन्नान् वितन्वन् सज्जनो यथा ॥ ५२ ॥

मधोरागमने तत्र प्रमोदभरिताशयः ।
धात्रीवाहनभूपालः परिच्छदपरिष्कृतः ॥ ५३ ॥

छत्रचामरवादित्रैः सर्वस्वान्तःपुरादिभिः ।
सर्वैः पौरजनैर्युक्तः क्रीडनार्थं वनं ययौ ॥ ५४ ॥

तत्राभयमती राज्ञी गच्छन्ती संविलोक्य सा ।
रूपं सुदर्शनस्योच्चैर्महाप्रीतिविधायकम् ॥ ५५ ॥
अहो रूपमहो रूपं भुवनक्षोभकारणम् ।
मोहिता मानसे गाढं चक्रे तस्य प्रशंसनम् ॥ ५६ ॥

व्याघ्रों से डरे हुए मृग के समान वह भी अपने घर चला गया। ऐसा मानकर दुष्ट स्त्रियों के प्रति विश्वास नहीं किया जाता है॥ ४३॥

जो भव्य संसार में जिनेन्द्र वचनों में रत हैं। वे सुख देने वाले शील की जिस किसी प्रकार रक्षा करते हैं॥ ४४॥

जो मूढ परस्त्रीरत हैं, निकृष्ट वे पृथ्वी तल पर दुःख, दरिद्रता, दुर्भाग्य और मानभङ्ग को प्राप्त करते हैं॥ ४५॥

इस प्रकार मन में जिनोक्त, सुख देने वाले सत्य वचन जानकर सुख को चाहने वालों को शील रूपी रत्न का पालन करना चाहिए॥ ४६॥

अनन्तर विशुद्धात्मा वह चतुर भव्य सेठ सुदर्शन अपने शील के रक्षण में जब तक जिन कथित समस्त प्राणियों को सुख लाने वाले धर्म का आचरण करता हुआ रहा तब तक लोगों का मनोहर वसन्त मास आ गया॥ ४७-४८॥

वनस्पति और स्त्री का वह प्रिय अथवा प्रकृष्ट मद प्रदान करने वाला। वह कामियों के लिए अत्यधिक रम्य और महोत्सव करने वाला था॥ ४९॥

वह जलाशयों को भी भली-भाँति निर्मल कर रहा था। इस प्रकार वह वसन्त नित्य सुशोभित हो रहा था। अथवा सज्जनों का संगम हितकारी होता है॥ ५०॥

वस्त्र और आभूषण से संयुक्त, प्रमोद के समूह से भरे हुए लोगों को वह सुख से युक्त कर रहा था। इस प्रकार वह उत्तम राजा के समान सुशोभित हो रहा था॥ ५१॥

पल्लवों से युक्त चम्पा, आम और वसन्तादि वृक्षों को वह सज्जनों के समान फल, पुष्पादि से सम्पन्न कर रहा था॥ ५२॥

वहाँ पर वसन्त का आगमन होने पर प्रमोद से भरे हुए हृदय वाला धात्रीवाहन राजा वस्त्रों से परिष्कृत होकर, छत्र, चामर तथा बाजों से युक्त होकर समस्त अन्तःपुरादि एवं समस्त नगरनिवासियों से युक्त हुआ क्रीडा के लिए वन में गया॥ ५३-५४॥

वहाँ पर गई हुई रानी अभयमती ने सुदर्शन के अत्यधिक महाप्रीति को उत्पन्न करने वाले रूप को देखकर भुवन के क्षोभ का कारण यह रूप आश्चर्यकारक है, आश्चर्यकारक है। इस प्रकार मन में मोहित होकर उसकी अत्यधिक प्रशंसा की॥ ५५-५६॥

तन्निशम्य तदा प्राह कपिला ब्राह्मणी वचः ।
अहो देवि प्रषण्ढोऽयं मानवो रूपवानपि ॥ ५७ ॥

किमस्य रूपसंपत्त्या पुरुषत्वेन हीनया ।
यल्या निष्फलया वात्र महाकोमलया भुवि ॥ ५८ ॥

अमार्गेऽथ रथारूढां राज्ञी वीक्ष्य मनोरमाम् ।
सुपुत्रां रूपलावण्यमण्डितां परमोदयाम् ॥ ५९ ॥
प्राहेयं वनिता कस्य सपुत्रा गुणभूषणा ।
सफला कल्पवल्लीव कोमला शर्मदायिनी ॥ ६० ॥

तदाकर्ण्य सुधीः काचित्तद्दासी तां च संजगौ ।
अहो देवि सुपुण्यात्मा राजश्रेष्ठी सुदर्शनः ॥ ६१ ॥

गुणरत्नाकरो भव्यः सज्जनानन्ददायकः ।
तस्येयं कामिनी दिव्या सपुत्रा कुलदीपिका ॥ ६२ ॥

अभया तत्समाकर्ण्य दासीवाक्यं मनोहरम् ।
विश्वासकारणं तत्र हसित्वा कपिलां जगौ ॥ ६३ ॥

मन्येऽहं वञ्चिता त्वं च विप्रे तेन महाधिया ।
पुण्यवांल्लक्षणोपेतः स किं तादृग्विधो भवेत् ॥ ६४ ॥

यस्य पुत्रो मया दृष्टः सर्वलक्षणमण्डितः ।
अतस्त्वं ब्राह्मणी लोके सत्यं पश्चिमबुद्धिभाक् ॥ ६५ ॥

हसित्वा कपिला प्रोक्त्वा स्ववृत्तं यत्पुराकृतम् ।
राजपत्नीं पुनः प्राह शृणु त्वं देवि मद्वचः ॥ ६६ ॥
सौभाग्यं च सुरूपत्वं चातुर्यं च तथापि ते ।
अस्यानुभवनान्मन्ये साफल्यं नान्यथा भुवि ॥ ६७ ॥

ऊचे सा भूपतेर्भार्याभयाख्या पापनिर्भया ।
यद्येनं नैव सेवामि म्रियेऽहं सर्वथा तदा ॥ ६८ ॥

कुस्त्रियः साहसं किं वा नैव कुर्वन्ति भूतले ।
कामाग्निपीडिताः कष्टं नदी वा कूलयुक्षया ॥ ६९ ॥
प्रतिज्ञायेति सा राज्ञी कृत्वा क्रीडां वने ततः ।
आगत्य मन्दिरं तल्पे पपातानङ्गपीडिता ॥ ७० ॥

उसे सुनकर कपिला ब्राह्मणी ने वचन कहे कि हे देवि ! यह मनुष्य रूपवान् होने पर भी अत्यधिक नपुंसक है ।। ५७ ।।

पुरुषत्व से हीन इसकी रूप सम्पत्ति से क्या लाभ है ? पृथ्वी पर निष्फल महाकोमल लता से क्या लाभ है ? ।।५८ ।।

अनन्तर मार्ग से भिन्न स्थान पर रथारूढ़ रानी ने सुपुत्र तथा रूप, लावण्य से मण्डित परम उदय वाली मनोरमा को देखकर, कहा यह सुपुत्रवती गुणभूषणा स्त्री किसकी है ? यह कल्पलता के समान सफल, कोमल और सुख देने वाली है ।। ५९-६० ।।

उसे सुनकर किसी बुद्धिमती दासी ने उससे कहा । अहो देवि, सुपुण्यात्मा राजसेठ सुदर्शन है ।। ६१ ।।

यह भव्य गुणों का समुद्र और सज्जनों को आनन्द देने वाला है । उसकी यह कुलदीपिका दिव्य स्त्री है ।। ६२ ।।

अभया विश्वास के कारण दासी के उस मनोहर वाक्य को सुनकर वहाँ हँसकर कपिला से बोली ।। ६३ ।।

मैं तो यह मानती हूँ कि उस महा बुद्धिमान् के द्वारा हे ब्राह्मणी ! तुम ठगी गई । पुण्यवान् के लक्षणों से युक्त वह क्या उस प्रकार का हो सकता है ? ।। ६४ ।।

जिसका पुत्र मैंने समस्त लक्षणों से मण्डित देखा है । अतः हे ब्राह्मणी ! तुम लोक में सचमुच विपरीत बुद्धि वाली हो ।। ६५ ।।

हँसकर कपिला ने अपने पुराने किए हुए आचरण के विषय में राज-पत्नी से पुनः कहा । हे देवि ! तुम मेरे वचनों को सुनो ।। ६६ ।।

यद्यपि तुम सौभाग्य से युक्त, सुरूपा और चातुर्य से युक्त हो तथापि मैं मानती हूँ कि इसका अनुभव किए बिना पृथ्वी पर यह सफल नहीं है ।। ६७ ।।

अभयमती नामक पाप निर्भय वह राजपत्नी बोली । यदि इसका सेवन नहीं करती हूँ तो सर्वथा मैं मर जाऊँगी ।। ६८ ।।

कष्ट है, दोनों किनारे जिसके टूट गए हैं, ऐसी नदी के समान कामाग्नि से पीड़ित स्त्रियाँ पृथ्वी पर क्या साहस नहीं करती हैं ? ।। ६९ ।।

वह रानी इस प्रकार प्रतिज्ञा कर अनन्तर वन में क्रीड़ा कर अपने घर आकर काम से पीड़ित होकर पलङ्ग पर पड़ गई ।। ७० ।।

स्मराग्निज्वलिता गाढं प्रलपन्ती यथा तथा ।
निद्रासनादिभिर्मुक्ता कामिनां क्वास्ति चेतना ॥ ७१ ॥

तादृशीं तां समालोक्य कामबाणैः समाकुलाम् ।
प्रोवाच पण्डिता धात्री किं ते जातं सुते वद ॥ ७२ ॥

महिषी धात्रिकां प्राह स्ववार्तां चित्तसंस्थिताम् ।
रतिः सुदर्शनेनामा यदि स्यान्मे च जीवितम् ॥ ७३ ॥

लज्जादिकं परित्यज्य राज्ञी कामातुरा जगौ ।
सर्वं पापप्रदं वाक्यं कामिनां क्व विवेकिता ॥ ७४ ॥

तं निशम्य पुनः प्राह पण्डिता पापभीरुता ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां स्वशिरो धूनती मुहुः ॥ ७५ ॥

शृणु त्वं देवि वक्ष्येऽहं तावद्धर्मो यशः सुखम् ।
यावच्चित्ते भवेन्नित्यं शीलरत्नं जगद्धितम् ॥ ७६ ॥

स्त्रियश्चापि विशेषेण शोभन्ते शीलमण्डिताः ।
अन्यथा विषवल्लयों रूपाद्यैः संयुता अपि ॥ ७७ ॥

कामाकुलाः स्त्रियः पापा नैव पश्यन्ति किंचन ।
कार्याकार्ये यथान्धोऽपि पापतो विकलाशयः ॥ ७८ ॥

स्वेच्छया कार्यमाधातुं विरुद्धं योषितां भवेत् ।
यथामृतमहादेवी कुब्जकासक्तमानसा ॥ ७९ ॥

पतिं समातृकं हत्वा संप्राप्ता नरकक्षितिम् ।
तथा ते कथमुत्पन्ना कुबुद्धिः पापपाकतः ॥ ८० ॥

सुखी दुःखी कुरूपी च निर्धनो धनवानपि ।
पित्रा दत्तो वरो योऽसौ स सेव्यः कुलयोषिताम् ॥ ८१ ॥

भर्ता ते भूपतिर्मान्यो रूपादिगुणसंचयैः ।
तस्य किं क्रियते देवि वञ्चनं पापकारणम् ॥ ८२ ॥

भद्रं न चिन्तितं भद्रे त्वयेदं कर्म निन्दितम् ।
तस्मात्स्वकुलरक्षार्थं स्वचित्तं त्वं वशीकुरु ॥ ८३ ॥

तथा त्वं स्मर भो पुत्रि सुशीलाः सारयोषितः ।
तीर्थेशां जननी सीताचन्दनाद्रौपदीमुखाः ॥ ८४ ॥

कामाग्नि से प्रज्वलित होकर जिस किसी प्रकार गाढ़ प्रलाप करने लगी। नींद और भोजन को जिन्होंने छोड़ दिया है, ऐसे कामियों को चेतना कहाँ है ? ॥ ७१ ॥

कामबाणों से व्याप्त उसे उस प्रकार देखकर पण्डिता नामक धाय ने कहा कि हे पुत्री ! तुम्हें क्या हुआ ? कहो ॥ ७२ ॥

रानी ने चित्त में स्थित अपनी बात को धाय से कहा। यदि मैं सुदर्शन के साथ रमण करती हूँ तो मेरा जीवन शेष बचेगा ॥ ७३ ॥

लज्जादिक का परित्याग कर कामातुरा रानी ने समस्त पापप्रद वाक्य कहे। कामियों को विवेक कहाँ ? ॥ ७४ ॥

उसे सुनकर पापभीरु पण्डिता धाय अपने दोनों कान बन्द कर दोनों हाथों से अपना सिर धुनती हुई बोली ॥ ७५ ॥

हे देवि सुनो, मैं कहती हूँ कि धर्म, यश और सुख तब तक हैं, जब तक संसार का हितकारी शील रूपी रत्न नित्य है ॥ ७६ ॥

शील से मण्डित स्त्रियाँ विशेष रूप से शोभित होती हैं। अन्यथा रूप आदि से युक्त होने पर भी वे विष की लतायें हैं ॥ ७७ ॥

कामाकुल पापी स्त्रियाँ कार्याकार्य कुछ भी नहीं देखती हैं, जिस प्रकार पाप से दुःखी अभिप्राय वाला अन्धा कार्याकार्य को नहीं देखता है ॥ ७८ ॥

कार्य को अपनी इच्छा से करने के लिए स्त्रियाँ विरुद्ध हो जाती हैं, जिस प्रकार कुबड़े पर आसक्त मन वाली अमृत महादेवी विरुद्ध हो गई थी ॥ ७९ ॥

माता सहित पति को मारकर वह नरक गई। वे पाप के परिणाम कैसे उत्पन्न हुए ? नीति है—पाप के फल से कुबुद्धि होती है ॥ ८० ॥

सुखी, दुःखी, कुरूपी, निर्धन और धनवान्, जिस वर को पिता ने दिया है, कुलस्त्रियों को उसी का सेवन करना चाहिए ॥ ८१ ॥

तुम्हारा पति राजा है रूपादि गुण के समूह से मान्य है, पाप की कारण स्वरूप उसकी वञ्चना क्यों करती हो ? ८२ ॥

हे भद्रे ! तुमने यह निन्दित कर्म ठीक से नहीं सोचा। अतः अपने कुल की रक्षा के लिए तुम अपने चित्त को वश में करो ॥ ८३ ॥

इसी प्रकार हे पुत्री ! तुम सुशीला, मार रूप सीता, चन्दना तथा द्रौपदी प्रमुख स्त्रियों का स्मरण करो ॥ ८४ ॥

नीली प्रभावती कन्या दिव्यानन्तमतीमुखाः ।
याः स्वशीलप्रभावेन पूजिता नृसुरादिभिः ॥ ८५ ॥
परस्त्रीः परभर्तृंश्च परद्रव्यं नराधमाः ।
ये वाञ्छन्ति स्वपापेन दुर्गतिं यान्ति ते खलाः ॥ ८६ ॥
सुदर्शनोऽपि पूतात्मा परस्त्रीषु पराङ्मुखः ।
श्रावकाचारसंपन्नो जिनेन्द्रवचने रतः ॥ ८७ ॥
स्वयोषित्यपि निर्मोहः सेवनं कुरुतेऽल्पकम् ।
कथं स कुरुते भव्यः परस्त्रीस्पर्शनं सुधीः ॥ ८८ ॥
तथा कुलस्त्रिया चापि परित्यज्य निजं पतिम् ।
सर्वथा नैव कर्तव्या परपुंसि मतिर्ध्रुवम् ॥ ८९ ॥
इत्यादिकं शुभं वाक्यं पण्डितायाः सुखप्रदम् ।
तस्याश्चित्तेऽभवत्कष्टं सज्वरे वा घृतादिकम् ॥ ९० ॥

कोपं कृत्वा जगौ राज्ञी सर्वं जानामि साम्प्रतम् ।
किं तु तेन विना शीघ्रं प्राणा मे यान्ति निश्चितम् ॥ ९१ ॥
परोपदेशदाने नित्यं सर्वोऽपि कुशलो जनः ।
अहमेवंविधोपायान् बहून् वक्तुं क्षमा भुवि ॥ ९२ ॥
येनाकर्णितमात्रेण चित्तं मे भिद्यतेतराम् ।
तेन स्याद्यदि संबन्धः सौख्यं मे सर्वथा भवेत् ॥ ९३ ॥
कामतुल्योऽस्ति मे भर्ता गुणवानपि भूतले ।
तथापि मे मनोवृत्तिस्तस्मिन्नेव प्रवर्तते ॥ ९४ ॥

व्रजन्त्या च मयोद्याने सख्या कपिलया समम् ।
प्रतिज्ञा विहिता मातः सुदर्शनविदा सह ॥ ९५ ॥
चेदहं न रतिक्रीडां करोम्यत्र तदा म्रिये ।
अतो भ्रान्तिं परित्यज्य मानसे प्राणवल्लभे ॥ ९६ ॥
त्वया च सर्वथा शीघ्रं यथा मे वाञ्छितं भवेत् ।
निर्विकल्पेन कर्तव्यं तथा किं बहुजल्पनैः ॥ ९७ ॥

इत्याग्रहं समाकर्ण्य तथोक्तं पण्डिता तदा ।
स्वचित्ते चिन्तयामास हा कष्टं स्त्रीदुराग्रहः ॥ ९८ ॥
यथा प्रेतवने रक्षः कश्मले मक्षिकाकुलम् ।
निम्बे काको बको मत्स्ये शूकरो मलभक्षणे ॥ ९९ ॥
खलो दुष्टस्वभावे च परद्रव्येषु तस्करः ।
प्रीतिं नैव जहात्यत्र तथा कुस्त्री दुराग्रहम् ॥ १०० ॥

नीली, प्रभावती तथा अनन्तमती प्रमुख कन्याओं का स्मरण करो, जो अपने शील के प्रभाव से मनुष्य और देवों आदि के द्वारा पूजित हुईं ॥ ८५ ॥

परस्त्री, परपुरुष तथा द्रव्य जो नराधम चाहते हैं, वे अपने पाप से दुर्गति में जाते हैं ॥ ८६ ॥

परस्त्री से विमुख सुदर्शन भी पवित्र आत्मा है, श्रावकाचार से सम्पन्न है और जिनेन्द्रवचनों में रत है ॥ ८७ ॥

जो निर्मोही स्वस्त्री का भी अल्प सेवन करता है। वह बुद्धिमान् भव्य परस्त्री स्पर्श कैसे करेगा ? ८८ ॥

कुलस्त्रियों को भी अपने पति को छोड़कर निश्चित रूप से परपुरुष में बुद्धि नहीं लगानी चाहिए ॥ ८९ ॥

इत्यादिक पण्डिता के सुखप्रद शुभ वाक्य उस रानी के मन में कष्ट रूप हुए, जिस प्रकार कि ज्वर युक्त व्यक्ति को घी का सेवन कष्ट रूप होता है ॥ ९० ॥

कोप कर रानी बोली कि मैं इस समय सब कुछ जानती हूँ, किन्तु उसके बिना शीघ्र ही मेरे प्राण चले जायँगे ॥ ९१ ॥

परोपदेश में समस्त व्यक्ति सदैव कुशल होते हैं। पृथ्वी पर मैं इस प्रकार के बहुत से उपायों को कहने में समर्थ हूँ ॥ ९२ ॥

जिसके सुनने मात्र से मेरा चित्त भिद जाय। अतः उसके साथ यदि सम्बन्ध हो जाय तो मुझे सर्वथा सुख हो ॥ ९३ ॥

मेरा पति पृथ्वी पर कामदेव के तुल्य है, गुणवान् भी है, फिर भी मेरी मनोवृत्ति उसी में ही प्रवृत्त होती है ॥ ९४ ॥

सखी कपिला के साथ उद्यान में जाते हुए हे माता ! मैंने प्रतिज्ञा की है कि ज्ञानी सुदर्शन के साथ, यदि मैं यहाँ रति क्रीड़ा नहीं करती हूँ तो मर जाऊँगी। अतः हे प्राण-वल्लभे ! मन में भ्रान्ति तजकर, तुम बिना किसी प्रकार विकल्प किए हुए ऐसा कार्य करो जिससे मेरा इष्ट कार्य हो जाय। अधिक कहने से क्या ? ॥ ९५-९६-९७ ॥

इस प्रकार के आग्रह को सुनकर पण्डिता ने तब उसके कहे हुए के विषय में मन में सोचा, हाय स्त्री का दुराग्रह कष्टकारी है ॥ ९८ ॥

जिस प्रकार श्मसान में मक्खियों से व्याप्त गन्दगी पर राक्षस, नीम पर कौआ, मत्स्य पर बगुला, मलभक्षण पर शूकर, दुष्ट स्वभाव पर दुष्ट, परद्रव्य पर तस्कर प्रीति को नहीं छोड़ता है, उसी प्रकार बुरी स्त्री दुराग्रह को नहीं छोड़ती है ॥ ९९-१०० ॥

अथवा यद्यथा यत्रावश्यंभावि शुभाशुभम् ।
तत्तथा तत्र लोकेऽस्मिन् भवत्येव सुनिश्चितम् ॥ १०१ ॥

अहं चापि पराधीना सर्वथा किं करोम्यलम् ।
इत्याख्याय जगौ देवी भो सुते शृणु मद्वचः ॥ १०२ ॥

एकपत्नीव्रतोपेतो दुःसाध्यः श्रीसुदर्शनः ।
अगम्यं भवनं पुंसां सप्तप्राकारवेष्टितम् ॥ १०३ ॥

यद्यप्येतत्तव प्राणरक्षार्थं हृदि वर्तते ।
दुराग्रहो ऽहो चात्र तदुपायो विधीयते ॥ १०४ ॥

यावत्तावत्त्वया चापि मुग्धे प्राणविसर्जनम् ।
कर्तव्यं नैव तद् बाले कुर्वेऽहं वाञ्छितं तव ॥ १०५ ॥

इत्यादिकं गदित्वाशु पण्डिता तां नृपप्रियाम् ।
समुद्धीर्य तदा तस्यास्तत्कार्यं कर्तुमुद्यता ॥ १०६ ॥

युक्तं लोके पराधीनः किं वा कार्यं शुभाशुभम् ।
कर्मणा कुरुते नैव वशीभूतो निरन्तरम् ॥ १०७ ॥

स जयतु जिनदेवो योऽत्र कर्मारिजेता,
सुरपतिवातपूज्यः केवलज्ञानदीपः ।
सकलगुणसमग्रो भव्यपद्मौघभानुः,
परमशिवसुखश्रीवल्लभश्चिन्मयात्मा ॥ १०८ ॥

इति सुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षु-
श्रीविद्यानन्दिविरचिते कपिलानिराकरणाभयमती-
व्यामोहविजृम्भणव्यावर्णनो नाम
षष्ठोऽधिकारः ।

अथवा जो, जिस प्रकार का जहाँ अवश्यंभावी शुभाशुभ होता है, वहाँ उसी प्रकार उस लोक में अवश्य होता है, यह सुनिश्चित है ॥ १०१ ॥

मैं सर्वथा पराधीन हूँ, अधिक क्या कर सकती हूँ। ऐसा सोचकर महारानी से बोली—हे पुत्री ! मेरे वचन सुनो ॥ १०२ ॥

एकपत्नीव्रत से युक्त श्री सुदर्शन दुःसाध्य है। सात प्राकारों से वेष्टित भवन पुरुषों से अगम्य है ॥ १०३ ॥

यद्यपि ऐसा है, तथापि तुम्हारे प्राणों की रक्षा के लिए हृदय में इच्छा है। अथवा यहाँ पर दुराग्रह रूपी भूत है, उसका उपाय किया जाता है ॥ १०४ ॥

हे बाले ! मुग्धे ! जब तक मैं तुम्हारा वाञ्छित कार्य करती हूँ, तब तक तुम्हें प्राण विसर्जन नहीं करना चाहिए ॥ १०५ ॥

उस रानी से पण्डिता इस प्रकार कहकर धीरज बँधाकर उसके उस कार्य को करने के लिए उद्यत हो गई ॥ १०६ ॥

ठीक ही है, लोक में कर्म के वशीभूत हुआ पराधीन पुरुष क्या शुभाशुभ कार्य नहीं करता है ? १०७ ॥

जो यहाँ कर्म का विजेता हैं, सैकड़ों इन्द्रों के द्वारा पूज्य हैं, केवलज्ञानरूपी दीपक हैं, समस्त गुणों से पूर्ण हैं, भव्य कमलों के समूह के लिए सूर्य हैं, परम मोक्ष सुखरूपी लक्ष्मी के स्वामी हैं, चिन्मय आत्मा स्वरूप वे जिनदेव जयशील हों ॥ १०८ ॥

इस प्रकार सुदर्शनचरित में पञ्चनमस्कार माहात्म्य प्रदर्शक मुमुक्षु श्री विद्यानन्दि विरचित कपिला निराकरण अभयमती व्यामोह विजृम्भण व्यावर्णन नामक षष्ठ अधिकार समाप्त हुआ।

सप्तमोऽधिकारः

अथ श्रीजिननाथोक्तश्रावकाचारकोविदः ।
श्रेष्ठी सुदर्शनो नित्यं दानपूजादितत्परः ॥ १ ॥
अष्टम्यादिचतुःपर्वदिनेषु बुधसत्तमः ।
उपवासं विधायोच्चैः कर्मणां निर्जराकरम् ॥ २ ॥
रात्रौ प्रेतवनं गत्वा योगं गृह्णाति तत्त्ववित् ।
धौतवस्त्रान्वितश्चापि मुनिर्वा देहनिस्पृहः ॥ ३ ॥

तन्मत्वा पण्डिता सापि तमानेतुं कृतोद्यमा ।
कुम्भकारगृहं गत्वा कारयित्वा च मृण्मयान् ॥ ४ ॥
सप्त पुत्तलकान् शीघ्रं नराकारान् मनोहरान् ।
ततः सा प्रतिपद्यस्ते संध्यायां हृष्टमानसा ॥ ५ ॥
एकं स्कन्धे समारोप्य वस्त्रेणाच्छाद्य वेगतः ।
भूपतेर्भवनं यावत्समायाति मदोद्धता ॥ ६ ॥
तावत्प्रतोलिकां प्राप्तां प्रतीहारस्तु तां जगौ ।
किं रे स्कन्धे समारोप्य नरं वा यासि सत्वरम् ॥ ७ ॥

सा चोवाच महाधूर्ता किं ते रे दुष्ट साम्प्रतम् ।
अहं देवीसमीपस्था कार्ये निश्शङ्कमानसा ॥ ८ ॥
स्वेच्छया सर्वकार्याणि करोम्यत्र न संशयः ।
कस्त्वं वराकमात्रस्तु यो मां प्रति निषेधकः ॥ ९ ॥

तदा तेन धृता हस्ते प्रतीहारेण पण्डिता ।
क्षिप्त्वा तं पुत्तलं शीघ्रं शतखण्डं विधाय च ॥ १० ॥
पश्चात्कोपेन तं प्राह रे रे दुष्ट प्रणष्टधीः ।
पूर्वं केनापि राज्येऽस्मिन् प्रतिषिद्धा न सर्वथा ॥ ११ ॥

त्वयायं नाशितः कष्टं राज्ञीपुत्तलको वृथा ।
न ज्ञायते त्वया मूढ राज्ञी कामव्रतोद्यता ॥ १२ ॥
करिष्यति दिनान्यष्टौ पूजां मृण्मयपूरुषे ।
रात्रौ जागरणं चापि तदर्थं प्रेषितास्म्यहम् ॥ १३ ॥

सेयं मूर्तिस्त्वया भग्ना नाशो जातः कुलस्य ते ।
नित्यं मायामया नारी किं पुनः कार्यमाश्रिता ॥ १४ ॥

सप्तमोऽधिकारः

अनन्तर श्री जिननाथ द्वारा कहे हुए श्रावकाचार को जानने वाले नित्य दान, पूजादि में तत्पर, विद्वानों में श्रेष्ठ, तत्त्व के ज्ञाता सेठ सुदर्शन अष्टमी आदि चार पर्व के दिनों में कर्मों की निर्जरा करने वाले उपवास को अत्यधिक कर रात्रि में श्मसान जाकर धोए हुए वस्त्रों से युक्त होने पर भी मुनि की तरह देह से निस्पृह होकर ध्यान लगाया करते थे ।। १-३ ।।

इस बात को जानकर वह पण्डिता भी उन्हें लाने का उद्यम करने लगी। कुम्हार के घर जाकर और मिट्टी के नराकार सात पुतले शीघ्र बनवाकर उन्हें लेकर वह धृष्ट मन वाली संध्या में, एक को कन्धे पर रखकर वेगपूर्वक वस्त्र से आच्छादित कर जब राजा के भवन में आई, तब मुख्य मार्ग पर आने पर द्वारपाल ने उससे कहा—कन्धे पर यह क्या मनुष्य के समान उठाकर शीघ्र जा रही हो ।। ४-५-६-७ ।।

वह महाधूर्ता बोली—अरे दुष्ट, इस समय तुम्हें क्या मैं निःशङ्क मन से देवी के समीप में स्थित होकर स्वेच्छा से समस्त कार्य करती हूँ, इसमें कोई संशय नहीं है। तुम मुझे मना करने वाले बेचारे कौन होते हो ? ।।८-९ ।।

अनन्तर उस द्वारपाल ने पण्डिता को अपने हाथ से पकड़ा। उस पुतले को शीघ्र पकड़कर और उसके सौ टुकड़े कर, अनन्तर कोप से उससे बोली—हे हे दुष्ट, नष्ट बुद्धि वाले, पहले किसी ने भी इस राज्य में सर्वथा मना नहीं किया ।। १०-११ ।।

कष्ट की बात है, तुमने यह रानी का पुतला व्यर्थ ही नष्ट कर दिया। हे मूढ़ ! तुम नहीं जानते हो कि कामव्रत में उद्यत रानी, आठ दिन तक मिट्टी के पुरुष की पूजा करेगी और रात्रि जागरण भी करेगी, उसके लिए उसने मुझे भेजा है ।। १२-१३ ।।

वह यह मूर्ति तुमने तोड़ दी, तुम्हारे कुल का नाश हो गया। नारी नित्य मायामय होती है, कार्य का आश्रय करने वाली की तो बात ही क्या है ? १४ ।।

तदाकर्ण्य प्रतीहारः स भीत्वा निजचेतसि ।
भो मातस्त्वं क्षमां कृत्वा सेवकस्य ममोपरि ॥ १५ ॥

मूढोऽहं नैव जानामि व्रतपूजादिकं हृदि ।
अद्य प्रभृति यत्किञ्चित्त्वया चानीयते शुभे ॥ १६ ॥
तदानीय विधातव्यं यत्तुभ्यं रोचते हितम् ।
न मया कथ्यते किञ्चिन्निःशङ्का होहि सर्वदा ॥ १७ ॥

गदित्वेति स तत्पादद्वये लग्नो मुहुर्मुहुः ।
कृते दोषे महत्यत्र साधवो दीनवत्सलाः ॥ १८ ॥
भवन्त्येव तथा मातस्त्वया संक्षम्यतां ध्रुवम् ।
तेनेति प्रार्थिता धात्री क्षान्त्वा स्वगृहमागता ॥ १९ ॥
दिने दिने तथा सर्वे द्वारपाला वशीकृताः ।
स्त्रीणां प्रपञ्चवाराशेः को वा पारं प्रयात्यहो ॥ २० ॥

अथाष्टमीदिने श्रेष्ठी सोपवासो जितेन्द्रियः ।
मुनीभूत्वा तथारम्भं परित्यज्य च मौनभाक् ॥ २१ ॥
प्रतस्थे पश्चिमे यामे श्मशानं प्रति शुद्धधीः ।
उत्तिष्ठतस्तदा तस्य विलग्नं वसनं क्वचित् ॥ २२ ॥

प्रबद्धा तस्य तद्व्याजान्न गन्तव्यं त्वयाद्य भो ।
सुदर्शनोपसर्गस्य न त्वं योग्यो भवस्यहो ॥ २३ ॥
पुनर्गच्छति पन्थानं तस्मिन्मार्गे बभूव च ।
दुर्निमित्तगणो निन्द्यो दक्षिणो रासभो रटन् ॥ २४ ॥
कुष्ठी कृष्णभुजङ्गोऽपि सम्मुखः पवनोऽभवत् ।
नानाविधोपशब्दश्च बभूवातिदुरन्तकः ॥ २५ ॥

शृगाल्यो दुःस्वरं चक्रुरुपसर्गस्य सूचकम् ।
तथापि स्वव्रते सोऽपि दृढचित्तः सुदर्शनः ॥ २६ ॥
गत्वा प्रेतवनं घोरं कातराणां सुदुस्तरम् ।
प्रज्वलच्चितिकारौद्रपावकेन भयानकम् ॥ २७ ॥
रटत्पशुभिराकीर्णं दण्डिनो मन्दिरोपमम् ।
प्रोच्छलद्भस्मसंघातं समलं दुष्टचित्तवत् ॥ २८ ॥
तत्र सोऽपि सुधीः कायोत्सर्गेणास्थात्सुराद्रिवत् ।
निर्जिताक्षो जिताशङ्को जितमोहो जितस्पृहः ॥ २९ ॥

यह सुनकर वह द्वारपाल अपने मन में डरकर—हे माता ! तुम मुझ सेवक को क्षमा करो ॥ १५ ॥

मूढ़, मैं हृदय में व्रत, पूजादिक नहीं जानता हूँ। हे शुभे ! आज से लेकर जो भी तुम लाओगी, उसे लाकर जो तुम्हें हितकर लगे, वह करना। मैं कुछ भी नहीं कहूँगा। निःशङ्क होकर सदा आओ ॥१६-१७॥

ऐसा कहकर वह उसके चरण युगल में बार-बार लग गया। दोष करने पर यहाँ साधु लोग दीनवत्सल हो जाते हैं ॥ १८ ॥

अतः हे माता, तुम निश्चित रूप से क्षमा करो। उसके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना किए जाने पर धाय अपने घर आ गई ॥ १९ ॥

उसने प्रतिदिन समस्त द्वारपाल वश में कर लिए। आश्चर्य है, स्त्रियों के प्रपञ्च समूह का कौन पार पा सकता है ॥ २० ॥

अनन्तर अष्टमी के दिन सोपवास, जितेन्द्रिय सेठ मुनियों को नमस्कार कर तथा आरम्भ का परित्याग कर, शुद्ध बुद्धि से युक्त हो पश्चिम प्रहर में श्मसान में प्रस्थान करने हेतु उठा तब उसका वस्त्र कहीं फँस गया ॥ २१-२२ ॥

अथवा वह इस बहाने कह रहा था कि तुम्हें आज नहीं जाना चाहिए। हे सुदर्शन ! तुम उपसर्ग के योग्य नहीं हो ॥ २३ ॥

पुनः जब वह मार्ग पर जा रहा था तब निन्द्य गधा दायीं ओर रेंकने लगा, इस प्रकार दुर्निमित्त हुआ ॥ २४ ॥

कुष्ठी काला नाग भी पवन के सम्मुख हुआ। बड़ी कठिनाई से वन्त होने वाले नाना प्रकार के अपशब्द हुए ॥ २५ ॥

शृगालियों ने उपसर्ग का सूचक दुःस्वर किया। फिर भी अपने व्रत में दृढ़चित्त सुदर्शन भी, भयभीत लोगों के लिए जिसका पार पाना कठिन है, जलती हुई चिताओं की भयङ्कर अग्नि से भयानक, शब्द करते हुए पशुओं से जो व्याप्त था, जो यम के मन्दिर जैसा था, जिसमें राख का समूह उछल रहा था, दुष्ट के चित्त के समान समल था, ऐसे घोर श्मसान में जाकर, वहाँ पर वह बुद्धिमान् मेरु के समान कायोत्सर्ग में स्थित हुआ। उसने इन्द्रियों को जीत लिया था, आशङ्का को जीत लिया था, मोह को जीत लिया था और इच्छाओं को जीत लिया था ॥ २६–२९ ॥

श्रीजिनोक्तमहासप्ततत्त्वचिन्तनतत्परः ।
अहं शुद्धनयेनोच्चैः सिद्धो बुद्धो निरामलः ॥ ३० ॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः सर्वक्लेशविवर्जितः ।
चिन्मयो देहमात्रोऽपि लोकमानो विशुद्धिभाक् ॥ ३१ ॥

मुक्त्वा कर्माणि संसारे नास्ति मे कोऽपि शत्रुकः ।
धर्मो जिनोदितो मित्रं पवित्रो भुवनत्रये ॥ ३२ ॥

दशलाक्षणिको नित्यं देवेन्द्रादिप्रपूजितः ।
येन भव्या भजन्त्युच्चैः शाश्वतस्थानमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

शरीरं सुदुराचारं पूतिबीभत्सु निर्घृणम् ।
पोषितं च क्षयं याति क्षणार्द्धेनैव दुःखदम् ॥ ३४ ॥

अस्थिमांसवसाचर्ममलमूत्रादिभिर्भृतम् ।
चाण्डालगृहसंकाशं संत्याज्यं ज्ञानिनां सदा ॥ ३५ ॥

तत्राहं मिलितश्चापि क्षीरनीरवदुत्तमः ।
शुद्धनिश्चयतः सिद्धस्वभावः सद्गुणाष्टकः ॥ ३६ ॥

इत्यादिकं सुधीश्चित्ते वैराग्यं चिन्तयंस्तराम् ।
यावदास्ते वणिग्वर्यस्तावत्तत्र समागमत् ॥ ३७ ॥

पापिनी पण्डिता प्राह तं विलोक्य कुधीर्वचः ।
त्वं धन्योऽसि वणिग्वर्य त्वं सुपुण्योऽसि भूतले ॥ ३८ ॥

यदत्र भूपतेर्भार्याभयादिमतिरुत्तमा ।
त्वय्यासक्ता बभूवात्र रूपसौभाग्यशालिनी ॥ ३९ ॥

कन्दर्पहस्तभल्लिर्वा जगच्चेतोविदारणी ।
अतस्त्वं शीघ्रमागत्य तदाशां सफलां कुरु ॥ ४० ॥

यद् भुज्यते सुखं स्वर्गे ध्यानमौनादिकश्रमैः ।
तत्सुखं भुङ्क्ष्व भो भद्र तया सार्द्धं त्वमत्र च ॥ ४१ ॥

किमेतैस्ते तपःकष्टैः कार्यं कष्टशतप्रदैः ।
इदं सर्वं त्वयारब्धं परित्यज्यैहि वेगतः ॥ ४२ ॥

इत्यादिकैस्तदालापैः स श्रेष्ठी ध्यानतस्तदा ।
न चचाल पवित्रात्मा किं वातैश्चाल्यतेऽद्रिराट् ॥ ४३ ॥

वह श्री जिनेन्द्र के द्वारा कहे गए महान् सप्त तत्वों के चिन्तन करने में तत्पर था। मैं शुद्धनय से अत्यन्त सिद्ध, बुद्ध, मल रहित, समस्त द्वन्द्वों से रहित तथा समस्त क्लेशों से रहित हूँ। देहमात्र दिखाई पड़ने पर भी विशुद्ध चिन्मय हूँ ॥ ३०-३१ ॥

संसार में कर्मों को छोड़कर मेरा कोई शत्रु नहीं है। पवित्र जिनकथित धर्म तीनों लोकों में उत्तम है ॥ ३२ ॥

नित्य देवेन्द्रादि के द्वारा प्रपूजित दशलाक्षणिक धर्म मित्र है, जिससे भव्य लोग अत्यधिक शाश्वत स्थान का सेवन करते हैं ॥ ३३ ॥

शरीर दुश्चरित्र करने वाला, बीभत्स गन्ध वाला और निर्दय है। दुःख देने वाला यह पोषित किए जाने पर भी आधे क्षण में नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

हड्डी, मांस, चर्बी, चमड़ा, मल और मूत्र से भरे हुए चाण्डाल के घर के समान ज्ञानियों को इसका सदा त्याग कर देना चाहिए ॥ ३५ ॥

उस देह में उत्तम नीर क्षीर की भाँति मिल गया हूँ। मैं शुद्ध निश्चय-नय की अपेक्षा सिद्ध स्वभाव और उत्तम अष्ट गुणों से युक्त हूँ ॥ ३६ ॥

इत्यादिक वह बुद्धिमान् वणिक् श्रेष्ठ चित्त में वैराग्य का चिन्तन कर रहा था। तभी वहाँ आई हुई दुर्बुद्धिनी पापी पण्डिता ने उसे देखकर कहा। हे वणिक् श्रेष्ठ भूतल पर तुम धन्य हो, तुम सुपुण्य हो। जो कि यहाँ राजा की श्रेष्ठ पत्नी रूप सौभाग्यशालिनी अभयमती तुम पर आसक्त है ॥ ३७–३९ ॥

संसार के चित्त का विदारण करने वाली वह कामदेव के हाथ की भाला है। अतः तुम शीघ्र आकर उसकी आशा सफल करो ॥ ४० ॥

ध्यान, मौनादिक श्रम से स्वर्ग में जो सुख भोगा जाता है, उस सुख को हे भद्र, उसके साथ तुम यहाँ भोगो ॥ ४१ ॥

सैकड़ों कष्टों को देने वाले इन कष्टकर तपों से क्या करना ? यह सब जो तुमने आरम्भ किया है, इसका परित्याग कर वेगपूर्वक आओ ॥ ४२ ॥

इत्यादिक उसके आलापों से तब वह पवित्रात्मा सेठ ध्यान से चलायमान नहीं हुआ। क्या हिमालय वायु से चलाया जा सकता है ? नहीं ॥ ४३ ॥

तदास्तं भास्करः प्राप्तो वान्यायं द्रष्टुमक्षमः ।
सत्यं येऽत्र महान्तोऽपि ते दुर्न्यायपराङ्मुखाः ॥ ४४ ॥

तदा संकोचयामासुः पद्मनेत्राणि सर्वतः ।
पद्मिन्यो निजबन्धोश्च वियोगो दुस्सहो भुवि ॥ ४५ ॥

भानौ चास्तं गते तत्र चाम्बरे तिमिरोत्करः ।
जजृम्भे सर्वतः सत्यं स्वभावो मलिनामसौ ॥ ४६ ॥

रेजे तारागणो व्योम्नि तदा सर्वत्र वर्तुलः ।
नभोलक्ष्म्याः प्रियश्चारुमुक्ताहारोपमो महान् ॥ ४७ ॥

गृहे गृहे प्रदीपाश्च रेजिरे सुमनोहराः ।
सस्नेहाः सद्दशोपेताः सुपुत्रा वा तमश्छिदः ॥ ४८ ॥

ततः स्ववेश्मसु प्रीता भोगिनो वनितान्विताः ।
नानाविलासभोगेषु रताः संसृतिवर्द्धिनः ॥ ४९ ॥

योगिनो मुनयस्तत्र बभूवुर्ध्यानतत्पराः ।
स्वात्मतत्त्वप्रवीणास्ते संसृतिच्छेदकारिणः ॥ ५० ॥

ततोऽम्बरे सुविस्तीर्णे चन्द्रमाः समभूत् स्फुटः ।
स्वकान्त्या तिमिरध्वंसी संस्फुरन् परमोदयः ॥ ५१ ॥

जनानां परमाह्लादी जैनवादीव निर्मलः ।
मिथ्यामार्गतमःस्तोमविनाशनपटुर्महान् ॥ ५२ ॥

एवं तदा जनैः स्वस्वकर्मसु प्रविजृम्भिते ।
अर्द्धरात्रौ तदा चन्द्रमण्डले मन्दतामिते ॥ ५३ ॥
कालरात्रिरिवोन्मत्ता पण्डिता पुनरागता ।
यत्रास्ते स महाधीरो ध्यायन् श्रीपरमेष्ठिनः ॥ ५४ ॥

तं प्रणम्य पुनः प्राह त्यक्तकायं सुनिश्चलम् ।
जीवानां ते दयाधर्मो विख्यातो भुवनत्रये ॥ ५५ ॥

ततः कामग्रहग्रस्तां महीपतिनितम्बिनीम् ।
त्वदागमनसद्वाञ्छां चातकीं वा घनागमे ॥ ५६ ॥
कुर्वतीं शीघ्रमागत्य तत्र तां सुखिनीं कुरु ।
अद्यैव सफलं जातं ध्यानं ते वणिजांपते ॥ ५७ ॥

तब सूर्य अस्ताचल को प्राप्त हुआ। मानों वह अन्याय को देखने में समर्थ नहीं हो। सच में जो यहाँ महान् होते हैं, वे बुरी नीति से पराङ्मुख होते हैं ॥ ४४ ॥

तब कमलिनियों ने अपने कमल रूपी नेत्रों को संकुचित कर लिया। भूमि पर अपने बन्धु का वियोग दुस्सह है ॥ ४५ ॥

सूर्य के अस्त हो जाने पर वहाँ आकाश में चारों ओर अन्धकार का समूह विस्तार को प्राप्त हुआ। सचमुच, यह मलिनों का स्वभाव है ॥ ४६ ॥

तब सर्वत्र गोलाकार ताराओं का समूह आकाश से सुशोभित हुआ। वह ताराओं का समूह आकाश रूपी लक्ष्मी के प्रिय, महान्, सुन्दर मुक्ता-हार के समान था ॥ ४७ ॥

तेल युक्त तथा उत्तम बाती से युक्त अन्धकार को नष्ट करने वाले घर-घर में सुमनोहर दीपक सुशोभित हुए, अथवा घर घर में सुमनोहर, स्नेह युक्त, अच्छी दशा सहित, अन्धकार को नष्ट करने वाले सुपुत्र सुशोभित हुए ॥ ४८ ॥

अनन्तर संसार को बढ़ाने वाले भोगी लोग प्रसन्न होकर अपने-अपने घरों में स्त्रियों सहित नाना भोग विलासों में रत हो गए ॥ ४९ ॥

वहाँ पर योगी मुनि ध्यान में तत्पर हुए। स्वात्म तत्त्व में प्रवीण वे संसार को नष्ट करने वाले थे ॥ ५० ॥

अनन्तर सुविस्तीर्ण आकाश में अपनी कान्ति से अन्धकार को नष्ट करने वाला, परम उदय वाला चन्द्रमा स्पष्ट हुआ ॥ ५१ ॥

वह लोगों को परम आह्लादित करने वाले निर्मल जैनवादी की तरह मिथ्यामार्ग रूपी अन्धकार के समूह का विनाश करने में अत्यधिक समर्थ था ॥ ५२ ॥

इस प्रकार तब लोगों के अपने-अपने कार्य में लगने पर अर्द्धरात्रि में चन्द्रमण्डल के मन्दता को प्राप्त होने पर, जहाँ पर वह महाधीर श्री परमेष्ठी का ध्यान करते हुए स्थित थे, वहाँ पर कालरात्रि के समान उन्मत्ता पण्डिता पुनः आ गई ॥ ५३-५४ ॥

कायोत्सर्ग में लीन, सुनिश्चल उन्हें प्रणाम कर पुनः बोली—जीवों के प्रति तुम्हारा दयाधर्म तीनों भुवनों में विख्यात है ॥ ५५ ॥

अतः कामरूपी भूत से ग्रस्त, चातकी जिस प्रकार मेघ के आगमन की उत्तम इच्छा करती है, उसी प्रकार तुम्हारे आगमन की उत्तम इच्छा को करती हुई उसे शीघ्र आकर सुखी करो। हे वणिक्पति ! आज ही तुम्हारा ध्यान सफल हुआ ॥ ५६-५७ ॥

तया सार्द्धं महाभोगान् स्वर्गलोकेऽपि दुर्लभान् ।
कुरु त्वं परमानन्दात् किं परैश्चिन्तनादिभिः ॥ ५८ ॥
गदित्वेति पुनर्ध्यानाच्चालनाय पुनश्च सा ।
नानासरागगीतानि सरागवचनैः सह ॥ ५९ ॥

चक्रे तथापि धीरोऽसौ यावद् ध्यानं न मुञ्चति ।
तावत्सा पापिनी शीघ्रं साहसोद्धतमानसा ॥ ६० ॥
तं समुद्धृत्य धृष्टात्मा श्रेष्ठिनं ध्यानसंयुतम् ।
स्वस्कन्धे च समारोप्य वस्त्रेणाच्छाद्य वेगतः ॥ ६१ ॥
समानीय च तत्तल्पे महामौनसमन्वितम् ।
पातयामास दुष्टात्मा किं करोति न कामिनी ॥ ६२ ॥
अभयादिमती वीक्ष्य तं सुरूपनिधानकम् ।
संतुष्टा मानसे मूढा धन्याहं चात्र भूतले ॥ ६३ ॥
दुष्टस्त्रीणां स्वभावोऽयं यद्विलोक्य परं नरम् ।
प्रमोदं कुरुते चित्ते कामबाणप्रपीडिता ॥ ६४ ॥

तथाभयमती सा च दुर्मतिः पापकर्मणा ।
शृङ्गारं सुविधायाशु कामिनां सुमनोहरम् ॥ ६५ ॥
हावभावादिकं सर्वं विकारं संप्रदर्श्य च ।
जगौ लज्जां परित्यज्य वेश्या वा कामपीडिता ॥ ६६ ॥

मत्प्रियोऽसि मम स्वामी प्राणनाथस्त्वमूर्जितः ।
जाता त्वद्रूपसौन्दर्यं वीक्ष्याहं तेऽनुरागिणी ॥ ६७ ॥
वल्लभस्त्वं कृपासिन्धुः प्रार्थितोऽसि मयाधुना ।
देहि चालिङ्गनं गाढं मह्यं शान्तिकरं परम् ॥ ६८ ॥

इत्यादिकं प्रलापं सा कृत्वा कामाग्निपीडिता ।
निस्त्रपा पापिनी भूत्वा खरी वा मूपभामिनी ॥ ६९ ॥
मुखे मुखार्पणैर्गाढमालिङ्गनशतैस्तथा ।
सरागैर्वचनैः कामवह्निज्वालाप्रदीपनैः ॥ ७० ॥
अन्यैर्विकारसंदोहैः कटिस्थानादिदर्शनैः ।
दर्शयित्वा स्वनाभिं च तं चालयितुमक्षमा ॥ ७१ ॥

संजाता निर्मदा तत्र निरर्था सुतवां भुवि ।
चञ्चला सुचला चापि न शक्ता काञ्चनाचले ॥ ७२ ॥

उसके साथ स्वर्ग लोक में भी महाभोगों को उत्कृष्ट चिन्तन आदि के साथ तुम परम आनन्द से करो ।। ५८ ।।

ऐसा कहकर पुन: ध्यान से विचलित करने के लिए सराग वचनों के साथ नाना सराग गीत किए (कहे) ।। ५९ ।।

तथापि वह धीर जब तक ध्यान नहीं छोड़ता था, तब तक साहस से उद्धृत मन वाली उस पापिनी, धृष्टात्मा ने उस ध्यान से युक्त सेठ को उठाकर अपने कन्धे पर चढ़ाकर, वेगपूर्वक वस्त्र से उन्हें आच्छादित कर, महामौन से युक्त (उन्हें) उस पलङ्ग पर लाकर गिरा दिया। दुष्टात्मा कामिनी क्या नहीं करती है ? ।। ६०-६१-६२ ।।

मूढ़ अभयमती उस रूप के निधान को देखकर मन में सन्तुष्ट हुई (कि) आज मैं पृथ्वीतल पर धन्य हूँ ।। ६३ ।।

दुष्ट स्त्रियों का यह स्वभाव होता है कि वे काम के बाण से पीड़ित होकर दूसरे मनुष्य को देखकर मन में प्रमोद करती हैं ।। ६४ ।।

उसी प्रकार पाप कर्म करने वाली दुष्टबुद्धि अभयमती कामियों के सुमनोहर शृङ्गार कर, हाव भावादिक समस्त विकारों का प्रदर्शन करके कामपीड़ित वेश्या के समान लज्जा त्याग कर बोली ।। ६५-६६ ।।

तुम मेरे प्रिय हो, मेरे स्वामी हो, तुम मेरे बलशाली प्राणनाथ हो। मैं तुम्हारे रूप, सौन्दर्य को देखकर तुम्हारे प्रति अनुरागिणी हो गई हूँ ।। ६७ ।।

हे कृपासिन्धु ! तुम मेरे प्रिय हो। मैं इस समय प्रार्थना करती हूँ कि मुझे परम शान्तिकारक गाढ़ आलिङ्गन दो ।। ६८ ।।

कामाग्नि से पीड़ित वह रानी इत्यादिक प्रलाप कर गधी के समान लज्जारहित होकर, मुख में मुख डालकर तथा सैकड़ों प्रकार के गाढ़ आलिङ्गन के द्वारा कामाग्नि की ज्वाला से प्रदीप्त सराग वचनों से, अन्य विकार के समूह कटिस्थान आदि के दिखलाने से तथा अपनी नाभि दिखलाकर भी उसे विचलित करने में असमर्थ हुई ।। ६९-७१ ।।

तत्क्षण वह पृथ्वी पर निरर्था और मदरहित हो गई। हवा चञ्चला होने पर भी सुमेरु को चलाने में समर्थ नहीं होती है ।। ७२ ।।

स भव्यो ध्यानसच्छैलारस्वस्थतो मेरुवद्दृढः ।
नैव तत्र चचालोच्चैर्जिनपादाब्जषट्पदः ॥ ७३ ॥

ततो भीत्वा जगौ शीघ्रं पण्डितां सा निरर्थिका ।
यस्मादसौ समानीतस्तत्रायं मुच्यतां त्वया ॥ ७४ ॥

तयोक्तं क्व नयाम्येनं प्रातःकालोऽभवत्तराम् ।
पश्य सर्वत्र कुर्वन्ति पक्षिणोऽपि स्वरोत्करम् ॥ ७५ ॥

तदाभया स्वचित्ते सा महाचिन्तातुराभवत् ।
किं करोमि क्व गच्छामि पश्चात्तापेन पीडिता ॥ ७६ ॥

हा मया सेवितो नैव सुरूपोऽयं सुदर्शनः ।
सोऽपि धीरः स्मरति स्म स्वचित्ते संसृतेः स्थितिम् ॥ ७७ ॥

अभया चिन्तयामास भुक्ता भोगा न साम्प्रतम् ।
सुदर्शनोऽपि सद्धर्मं निर्मलं जिनभाषितम् ॥ ७८ ॥

चिन्तयत्यभया चित्ते प्राप्तं मे मरणं ध्रुवम् ।
सुदर्शनोऽपि शुद्धात्मा शरणं जिनशासनम् ॥ ७९ ॥

पश्चात्तापं विधायाशु सा पुनः पण्डितां प्रति ।
प्राहैनं प्रापय स्थानं यत्र कुत्रापि वेगतः ॥ ८० ॥
सोद्विग्ना संजगौ धात्री दिवानाथः समुद्गतः ।
न शक्यते मया नेतुं यद्युक्तं तत्समाचर ॥ ८१ ॥

तदाकर्ण्याभया भीत्वा मृत्युमालोक्य सर्वथा ।
नखैर्विदार्य पापात्मा स्वस्तनौ हृदयं मुखम् ॥ ८२ ॥
शीलवत्याः शरीरं मे श्रेष्ठिनानेन दुर्धिया ।
कामातुरेण चागत्य ध्वस्तं चक्रे च पूत्कृतिम् ॥ ८३ ॥

किं करोति न दुःशीला दुष्टस्त्री कामलम्पटा ।
पातकं कष्टदं लोके कुललक्ष्मीक्षयंकरम् ॥ ८४ ॥
तत्पूत्कारं समाकर्ण्य तत्रागत्य च किङ्कराः ।
तत्र स्थितं तमालोक्य श्रेष्ठिनं विस्मयान्विताः ॥ ८५ ॥

राजानं च नमस्कृत्य जगुस्ते भो महीपते ।
देवीगृहं समागत्य रात्रौ धृष्टः सुदर्शनः ॥ ८६ ॥
कामातुरोऽभयादेव्याः शरीरं चातिसुन्दरम् ।
पापी विदारयामास किं कुर्मस्तस्य भो प्रभो ॥ ८७ ॥

वे भव्य ध्यान रूपी अच्छे पर्वत से मेरु के समान दृढ़ रहे। जिन चरण कमलों के भ्रमर स्वरूप वे वहाँ विचलित नहीं हुए ॥ ७३ ॥

अनन्तर निर्भय होकर निरथिका नृप पण्डिता से शीघ्र ही बोली कि जहाँ से तुम इसे लाई हो, वहाँ छोड़ आओ ॥ ७४ ॥

उसने कहा—इसे कहाँ ले जाऊँ। प्रात:काल हो गया है। देखो, सब जगह पक्षी भी शोर कर रहे हैं ॥ ७५ ॥

तब अभयमती अपने मन में महान् चिन्ता से दु:खी हो गई। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, इस प्रकार पश्चाताप से पीड़ित हो गई ॥ ७६ ॥

हाय, मैंने सुन्दर रूप वाले सुदर्शन का सेवन नहीं किया। वह धीर सुदर्शन भी अपने चित्त में संसार की स्थिति के विषय में स्मरण करता था ॥ ७७ ॥

अभयमती सोचने लगी, मैंने उचित भोगों को नहीं भोगा। सुदर्शन भी निर्मल जिनभाषित सद्धर्म के विषय में विचार करने लगा ॥ ७८ ॥

अभयमती चित्त में विचार करने लगी कि मेरा निश्चित मरण आ गया। शुद्धात्मा सुदर्शन भी विचार करने लगा कि जिनशासन शरण है ॥ ७९ ॥

पश्चात्ताप कर उसने पण्डिता से कहा कि इसे जहाँ कहीं भी स्थान पर वेगपूर्वक पहुँचाओ ॥ ८० ॥

धाय ने घबड़ाकर कहा कि सूर्य निकल आया है। मेरे द्वारा ले जाना सम्भव नहीं है, जो उचित हो, उसे करो ॥ ८१ ॥

उसे सुनकर पापात्मा अभया डरकर मृत्यु को सर्वथा देखकर अपने दोनों स्तन, हृदय और मुख को नाखूनों से विदीर्ण कर, मुझ शीलवती के शरीर को इस दुर्बुद्धि कामातुर ने आकर ध्वस्त कर दिया, इस प्रकार जोर-जोर से चिल्लाने लगी ॥ ८२-८३ ॥

दु:शीला, कामलम्पटा, दुष्ट स्त्री क्या नहीं करती है ? कुललक्ष्मी का क्षय करने वाला पातक लोक में कष्टदायक होता है ॥ ८४ ॥

उस चिल्लाहट को सुनकर और वहाँ पर आकर उस स्थान पर स्थित उस सेठ को देखकर सेवक आश्चर्य से युक्त हो गए ॥ ८५ ॥

राजा को नमस्कार कर वे बोले। हे राजन् ! रात्रि में धृष्ट पापी सुदर्शन ने देवीगृह में आकर, कामातुर होकर अभयादेवी के अति सुन्दर शरीर को विदीर्ण कर दिया। हे प्रभु ! उसका क्या करें ? ८६-८७ ॥

दुःसहं तत्प्रभुः श्रुत्वा चिन्तयामास कोपतः ।
अहो दुष्टः कथं राज्ञी मन्दिरेऽत्र समागतः ॥ ८८ ॥
परस्त्रीलम्पटः श्रेष्ठी पाषण्डी परवञ्चकः ।
इत्यादिक्रोधदावाग्निसंतप्तो मूढमानसः ॥ ८९ ॥
विचारेण विना जानन् स्वराज्ञीपापचेष्टितम् ।
हन्यतां हन्यतां शीघ्रं तान् जगौ पापपातकः ॥ ९० ॥
हन्यः सामान्यचौरोऽत्र किं मया दुष्टमानसा ।
राजद्रोही न हन्तव्यो मम प्राणप्रियारतः ॥ ९१ ॥
तदाकर्ण्य च कष्टास्ते किङ्करा निष्ठुरस्वराः ।
तत्रागत्य द्रुतं पापास्तं गृहीत्वा च मस्तके ॥ ९२ ॥
निष्काश्य भूपतेर्गेहान्नयन्ति स्म श्मशानकम् ।
अविज्ञातस्वभावा हि किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः ॥ ९३ ॥
तत्र कष्टशते काले सोऽपि धीरः सुदर्शनः ।
स्वचित्ते भावयामास मर्मैककर्मजृम्भितम् ॥ ९४ ॥
किं कुर्वन्ति वराका मे पराधीनास्तु किङ्कराः ।
शीलरत्नं सुनिर्मूल्यं तिष्ठत्यत्र सुखावहम् ॥ ९५ ॥
किमेतेन शरीरेण निस्सारेण मम ध्रुवम् ।
धर्मोऽर्हतां जगत्पूज्यो जयत्वत्र जगद्धितः ॥ ९६ ॥
एवं सुनिश्चलो धीमान्मेरुवन्निजमानसे ।
नीतः प्रेतवने चापि तस्थौ ध्यानगृहे सुखम् ॥ ९७ ॥
अहो सतां मनोवृत्तिर्भूतले केन वर्ण्यते ।
प्राणत्यागोपसर्गेऽपि निश्चला या जिताद्रिराट् ॥ ९८ ॥
तदा पुरेऽभवद्धाहाकारो घोरो महानिति ।
केचिद्वदन्ति धर्मात्मा श्रेष्ठी श्रीमान् सुदर्शनः ॥ ९९ ॥
किं करोति कुकर्मासौ श्रावकाचारकोविदः ।
किं वा भानुर्नभोभागे प्रस्फुरन् कुरुते तमः ॥ १०० ॥
एष श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तसच्छीलामृतवारिधिः ।
प्राणत्यागेऽपि सच्छीलं त्यजत्येव न सर्वथा ॥ १०१ ॥
अन्ये पौरजनाः प्राहुरहो केनापि पापिना ।
केन वा कारणेनापि कृतं किं वा भविष्यति ॥ १०२ ॥

दुःसह उस बात को सुनकर राजा कोपपूर्वक विचार करने लगे। आश्चर्य है, दुष्ट रात्रि में कैसे इस घर में आ गया ॥ ८८ ॥

'पाखण्डी सेठ परस्त्री लम्पट और दूसरे को ठगने वाला है', मूढ़ मन वाला वह इत्यादि क्रोध रूपी अग्नि से सन्तप्त हुआ ॥ ८९ ॥

चिन्तापूर्वक अपनी रानी की प्राणचेष्टाओं को जाने बिना वह पापी उनसे बोला—शीघ्र ही मार डालो, मार डालो ॥ ९० ॥

यहाँ पर सामान्य चोर मारने योग्य है। दुष्ट मन वाले मेरे द्वारा क्या राजद्रोही, मेरी प्राणप्रिया में रत मारने योग्य नहीं है ॥ ९१ ॥

उसे सुनकर कष्टकर वे कठोर स्वर वाले पापी किङ्कर शीघ्र ही वहाँ आकर और सिर पकड़कर, राजा के घर से निकालकर, श्मसान की ओर भागे। अविज्ञातस्वभाव वाले दुर्जन क्या नहीं करते हैं ? ९२-९३ ॥

सौ कष्ट वाले समय में भी वह धीर सुदर्शन अपने चित्त में विचार करने लगा। यह मेरे कर्म का खेल है ॥ ९४ ॥

मेरा बेचारे पराधीन किङ्कर क्या करते हैं ? यहाँ पर सुख को लाने वाले सुनिर्मूल्य शील रूपी रत्न विद्यमान है ॥ ९५ ॥

निश्चित रूप से निस्सार इस शरीर से क्या ? अर्हन्त भगवान् का संसार का हितकारी जगत्पूज्य धर्म यहाँ जयशील हो ॥ ९६ ॥

इस प्रकार बुद्धिमान् मेरु के समान सुनिश्चल सुदर्शन श्मसान में लिए जाने पर भी अपने मन में ध्यान रूपी घर में सुखपूर्वक ठहरे ॥ ९७ ॥

ओह पृथ्वी तल पर हिमालय को जीतने वाली सज्जनों की मनोवृत्ति का वर्णन कौन कर सकता है ? प्राणत्याग रूपी विघ्न के आ पड़ने पर भी जो निश्चल रहती है ॥ ९८ ॥

तब नगर में घोर हाहाकार हुआ। कुछ लोग कहने लगे कि श्रीमान् सेठ सुदर्शन धर्मात्मा है ॥ ९९ ॥

गृहस्थ के आचार को जानने वाला वह क्या कुकर्म को करेगा ? क्या आकाश में चमकता हुआ सूर्य अन्धकार कर सकता है ? १०० ॥

श्रीमज्जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए उत्तम शीलरूपी अमृत के समुद्र यह प्राण-त्याग करने पर भी सर्वथा सदाचार का त्याग नहीं करते हैं ॥ १०१॥

अन्य नगरवासी लोग बोले कि अहो किसी पापी ने किसी कारण क्या किया होगा ? १०२ ॥

इत्यादिकं तदा पौराः पश्चात्तापं प्रचक्रिरे।
सन्तो येऽत्र परेषां हि ते दुःखं सोढुमक्षमाः ॥ १०३ ॥

तथा केनापि तद्वार्ता कष्टकोटिविधायिनी।
शीघ्रं मनोरमायाश्च प्रोक्ता ते प्राणवल्लभः ॥ १०४ ॥
राजपत्नीप्रसङ्गेन शीलखण्डनदोषतः।
राजादेशेन कष्टेन मार्यते च श्मशानके ॥ १०५ ॥

मनोरमा तदाकर्ण्य कम्पिताखिलविग्रहा।
रुदन्ती ताडयन्ती च हृदयं शोकविह्वला ॥ १०६ ॥
वाताहता लतेवेयं कल्पवृक्षवियोगतः।
चचाल वेगतो मार्गे प्रस्खलन्ती पदे पदे ॥ १०७

हा हा नाथ त्वया चैतत्किं कृतं गुणमन्दिर।
इत्यादिकं प्रजल्पन्ती तत्रागत्य श्मशानके ॥ १०८ ॥
दुष्टैः संवेष्टितं वीक्ष्य सर्पैर्वा चन्दनद्रुमम्।
तं जगाद वचो नाथ किं जातं ते विरूपकम् ॥ १०९ ॥

हा नाथ केन दुष्टेन त्वय्येवं दोषसंभवः।
पापिना विहितस्त्वत्रापि कष्टकोटिविधायकः ॥ ११० ॥
त्वं सदा शीलपानीयप्रक्षालितमहीतलः।
श्रीजिनेन्द्रोक्तसद्धर्मप्रतिपालनतत्परः ॥ १११ ॥
किं मेरुश्चलति स्थानात् किं समुद्रो विमुञ्चति।
मर्यादां त्वं तथा नाथ किं शीलं त्यजसि ध्रुवम् ॥ ११२ ॥
हा नाथ स्वप्नके चापि नैव ते व्रतखण्डनम्।
सत्यं नोदयते भानुः पश्चिमायां दिशि क्वचित् ॥ ११३ ॥
अहो नाथात्र किं जातं ब्रूहि मे करुणापर।
वाक्यामृतेन मे स्वास्थ्यं कुरु त्वं प्राणवल्लभ ॥ ११४ ॥
इत्यादि प्रलपन्ती सा यावदास्ते पुरः किल।
तदा सुदर्शनो धीरः स्वचित्ते चिन्तयत्यलम् ॥ ११५ ॥
कस्य पुत्रो गृहं कस्य भार्या वा कस्य बान्धवाः।
संसारे भ्रमतो जन्तोर्निजोपार्जितकर्मभिः ॥ ११६ ॥
अस्थिरं भुवने सर्वं रत्नस्वर्णादिकं सदा।
संपदा चपला नित्यं चञ्चलेव क्षणार्धतः ॥ ११७ ॥

इत्यादिक तब नगरवासियों ने पश्चाताप किया। इस संसार में जो सन्त होते हैं, वे दूसरों के दुःख को सहन करने में समर्थ नहीं होते हैं ॥ १०३ ॥

करोड़ों कष्टों को करने वाली उस बात को किसी ने शीघ्र ही मनोरमा से कह दिया। तुम्हारे प्राणवल्लभ, राजपत्नी के प्रसंग से, शील खण्डन के दोष से राजादेश से कष्टपूर्वक श्मसान में मारे जा रहे हैं ॥ १०४-१०५॥

उस बात को सुनकर कम्पित समस्त शरीर वाली मनोरमा शोक से विह्वल होकर रोती हुई, छाती पीटती हुई, वायु से आहत कल्पवृक्ष से वियुक्त लता के समान पद-पद पर मार्ग में लड़खड़ाती हुई वेगपूर्वक चली ॥ १०६-१०७ ॥

हा नाथ! हा नाथ! गुणों के मन्दिर, तुमने यह क्या किया? इत्यादिक कथन करती हुई, वहाँ श्मसान में आकर, सर्पों से वेष्टित चन्दनवृक्ष के समान दुष्टों से घिरे हुए देखकर उससे यह वचन बोली—हे नाथ! तुम्हारा क्या विरूप हो गया? ॥ १०८-१०९ ॥

हा नाथ! करोड़ों कष्टों को करने वाले इस दोष का संभव किस दुष्ट ने इस प्रकार कर दिया? ॥ ११० ॥

तुम सदा शील रूपी जल से पृथ्वी का प्रक्षालन करते थे और श्री जिनेन्द्र द्वारा कहे गए सद्धर्म का पालन करने में तत्पर थे ॥ १११ ॥

क्या मेरु अपने स्थान से चलता है? क्या समुद्र मर्यादा को छोड़ता है? हे नाथ! क्या तुम निश्चिल से शील का परित्याग करते हो? ॥११२॥

हा नाथ! स्वप्न में भी तुम्हारा व्रत खण्डित नहीं होता है। सचमुच पश्चिम दिशा में क्वचित् सूर्य उत्पन्न नहीं होता है ॥ ११३ ॥

अहो करुणापर नाथ! क्या हुआ? मुझ से बोलो। हे प्राणवल्लभ! तुम वचन रूपी अमृत से मेरा स्वास्थ्य करो ॥ ११४ ॥

इत्यादिक प्रलाप करती हुई· जब वह सामने विद्यमान थी, तब धीर सुदर्शन अपने मन में अत्यधिक रूप से विचार करने लगे ॥ ११५ ॥

अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के अनुसार भ्रमण करने वालों में से संसार में किसका पुत्र है? किसका घर है? किसकी भार्या है? किसके बान्धव हैं ॥ ११६ ॥

संसार में रत्न, स्वर्णादिक सब अस्थिर है। सम्पदा नित्य चपल और आधे क्षण के लिए चञ्चल है ॥ ११७ ॥

भवेऽस्मिन् शरणं नास्ति देवो वा भूपतिः परः ।
देवेन्द्रो वा फणीन्द्रो वा मुक्त्वा रत्नत्रयं शुभम् ॥ ११८ ॥

अत्र कर्मोदयेनोच्चैर्यद्वा तद्वा भवत्वलम् ।
अस्तु मे शरणं नित्यं पञ्चश्रीपरमेष्ठिनः ॥ ११९ ॥

एवं सुदर्शनो धीमान्मेरुवन्निश्चलाशयः ।
यावदास्ते सुवैराग्यं चिन्तयंश्चतुरोत्तमः ॥ १२० ॥

यावत्तस्य गले तत्र कोऽपि गाढं दुराशयः ।
प्रहारं कुरुते खड्गं तावत्तच्छीलपुण्यतः ॥ १२१॥
कम्पनादासनस्याशु जैनधर्मे सुवत्सलः ।
यक्षदेवः समागत्य जिनपादाब्जषट्पदः ॥ १२२ ॥
स्तम्भयामास तान् सर्वान् दुष्टान् भूपतिकिङ्करान् ।
सुदृष्टिः सहते नैव मानभङ्गं सधर्मिणाम् ॥ १२३ ॥

एवं देवो महाधीरः परमानन्दनिर्भरः ।
उपसर्गं निराचक्रे तस्य धर्मानुरागतः ॥ १२४ ॥

पुष्पवृष्टिं विधायाशु सुगन्धीकृतदिङ्मुखाम् ।
श्रेष्ठिनं पूजयामास सुधीः सज्जनभक्तिभाक् ॥ १२५ ॥

तथा तत्र स्थिता भव्याः परमानन्दनिर्भराः ।
जयकोलाहलं चक्रुः सज्जनानन्ददायकम् ॥ १२६ ॥

तत्समाकर्ण्य भूपालो धात्रीवाहनसंज्ञकः ।
प्रेषयामास दुष्टात्मा पुनर्भृत्यान् सुनिष्ठुरान् ॥ १२७ ॥

यक्षदेवश्च कोपेन तानपि प्रस्फुरत्प्रभः ।
सुधीः संकीलयामास स्वशक्त्या परमोदयः ॥ १२८ ॥

ततः सैन्यं समादाय चतुरङ्गं स्वयं नृपः ।
प्रागमत्तद्वधायाशु कोपकम्पितविग्रहः ॥ १२९ ॥

समर्थो यक्षदेवोऽपि कृत्वा मायामयं बलम् ।
हस्त्यश्वादिकमत्युच्चैः संमुखं वेगतः स्थितः ॥ १३० ॥

तयोस्तत्र महायुद्धं कातराणां भयप्रदम् ।
समभूत्सुचिरं गाढं चमत्कारविधायकम् ॥ १३१ ॥

इस संसार में देव अथवा राजा, देवेन्द्र अथवा फणीन्द्र, शुभ रत्नत्रय को छोड़कर दूसरा कोई शरण नहीं है ॥ ११८ ॥

यहाँ पर कर्मोदय से अत्यधिक रूप से जो कुछ भी हो जाय। मुझे नित्य श्री पञ्चपरमेष्ठी की शरण हो ॥ ११९ ॥

इस प्रकार मेरु के समान निश्चल आशय वाला बुद्धिमान् चतुरोत्तम सुदर्शन जब तक वैराग्य का चिन्तन कर रहा था ॥ १२० ॥

जब तक कि कोई अत्यधिक बुरे अभिप्राय वाला उसके गले पर तलवार का प्रहार करता, तब तक उसके शील के पुण्य से, आसन के कम्पन से शीघ्र ही जैनधर्म के प्रति अत्यधिक स्नेह रखने वाले, जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों के भ्रमर यक्षदेव ने आकर, उन समस्त दुष्ट राजसेवकों को रोक दिया। सम्यग्दृष्टि जीव साधर्मियों के मानभङ्ग को सहन नहीं करता है ॥ १२१–१२३ ॥

इस प्रकार परम आनन्द से भरे हुए महाधीर देव ने धर्म के प्रति अनुराग के कारण उसके उपसर्ग का निराकरण कर दिया ॥ १२४ ॥

दिशाओं के मुख को सुगन्धित करने वाली शीघ्र ही फूलों की वर्षा कर सज्जनों के प्रति भक्ति से युक्त बुद्धिमान् यक्ष ने सेठ की पूजा की ॥ १२५ ॥

वहाँ पर स्थित भव्यों ने परम आनन्द से भरे होकर सज्जनों को आनन्द देने वाला जय कोलाहल किया ॥ १२६ ॥

उसे सुनकर धात्रीवाहन नामक दुष्ट राजा ने पुनः सुनिष्ठुर भृत्यों को भेजा ॥ १२७ ॥

स्फुरायमान प्रभा वाले परमोदय, बुद्धिमान् यक्षदेव ने उन्हें भी कीलित कर दिया ॥ १२८ ॥

अनन्तर कोप से जिसका शरीर कम्पित हो रहा है, ऐसा राजा स्वयं चतुरंग सेना लेकर उसके वध के लिए आ गया ॥ १२९ ॥

समर्थ यक्षदेव भी हाथी, घोड़े आदि की मायामयी सेना को बनाकर वेगपूर्वक सामने खड़ा हो गया ॥ १३० ॥

भयशीलों को भयप्रदान करने वाला उन दोनों का चमत्कारी गाढ़ महायुद्ध बहुत देर तक हुआ ॥ १३१ ॥

शूराशूरि तथान्योन्यमश्वाश्वि च गजागजि ।
दण्डादण्डि महातीव्रं खड्गाखड्गि क्षयंकरम् ॥ १३२ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे भूपतेश्छत्रमुन्नतम् ।
अछिनत्सध्वजं देवो यशोराशिवदुज्ज्वलम् ॥ १३३ ॥

तदा भीत्वा नृपो नष्टः प्राणसंदेहमाश्रितः ।
सिंहनादेन वा त्रस्तो गजेन्द्रो मदवानपि ॥ १३४ ॥

यक्षस्तत्पृष्ठतो लग्नस्तर्जयन्निष्ठुरैः स्वरैः ।
मदग्रतः क्व यासि त्वं वराकः प्राणरक्षणे ॥ १३५ ॥

रे रे दुष्ट वृथा कष्टं श्रेष्ठिनो व्रतधारिणः ।
कारितश्चोपसर्गस्तु त्वया स्त्रीवञ्चितेन च ॥ १३६ ॥

जीवितेच्छास्ति चेत्तेऽत्र श्रेष्ठिनः शरणं व्रज ।
जिनेन्द्रचरणाम्भोजसारसेवाविधायिनः ॥ १३७ ॥

तदा सुदर्शनस्यासौ शरणं गतवान्नृपः ।
रक्ष रक्षेति मां शीघ्रं शरणागतमुत्तम ॥ १३८ ॥

त्यजन्ति मार्दवं नैव सन्तः संपीडिता ध्रुवम् ।
ताडितं तापितं चापि काञ्चनं विलसच्छवि ॥ १३९ ॥

तत्समाकर्ण्य स श्रेष्ठी परमेष्ठिप्रसन्नधीः ।
स्वहस्तौ शीघ्रमुद्धृत्य तं समाश्वास्य भूपतिम् ॥ १४० ॥
तस्य रक्षां विधातुं तं यक्षं पप्रच्छ को भवान् ।
यक्षदेवस्तदा शीघ्रं श्रेष्ठिनं संप्रणम्य च ॥ १४१ ॥
गदित्वागमनं स्वस्य तथाभयमतीकृतम् ।
उत्थाप्य तद्बलं सर्वं स्वस्य सारप्रभावतः ॥ १४२ ॥
सुदर्शनं समभ्यर्च्य दिव्यवस्त्रादिकाञ्चनैः ।
प्रभावं जिनधर्मस्य संप्रकाश्य ययौ सुखम् ॥ १४३ ॥

सत्यं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तधर्मकर्मणि तत्पराः ।
शीलवन्तोऽत्र संसारे केन पूज्याः सुरोत्तमैः ॥ १४४ ॥

क्षय करने वाले उस युद्ध में शूर शूरों से, अश्वारोही अश्वारोहियों से, दण्डधारी दण्डधारियों से तथा तलवार धारण करने वाले खड्गधारियों से लड़ रहे थे ॥ १३२ ॥

उस बड़े संग्राम में राजा के यशोराशि के समान उज्ज्वल छत्र को देव ने ध्वज सहित तोड़ दिया ॥ १३३ ॥

जिस प्रकार सिंहनाद से डरा हुआ मतवाला भी सिंह भाग जाता है उसी प्रकार जिसके प्राण सन्देह में पड़ गए हैं, ऐसा राजा डरकर भाग गया ॥ १३४ ॥

यक्ष निष्ठुर स्वरों में धमकाता हुआ उसके पीछे लग गया। तुम बेचारे मेरे आगे प्राणरक्षा के लिए कहाँ जाते हो ? ॥ १३५ ॥

स्त्री से ठगे गए रे रे दुष्ट, व्यर्थ में ही तुमने व्रतधारी सेठ के ऊपर कष्टकर उपसर्ग कराया ॥ १३६ ॥

यदि तुम्हें जीने की अभिलाषा हो तो जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों की सार रूप सेवा को करने वाले सेठ की शरण में जाओ ॥ १३७ ॥

तब राजा उस सुदर्शन की शरण में गया। (उसने कहा कि) हे श्रेष्ठ ! शरणागत मेरी शीघ्र रक्षा करो, रक्षा करो ॥ १३८ ॥

ताड़ित और तापित होने पर भी स्वर्ण के समान सुशोभित छवि वाले सपीड़ित सज्जन लोग मृदुता का परित्याग नहीं करते हैं ॥ १३९ ॥

परमेष्ठी के समान प्रसन्न बुद्धिवाले उस सेठ ने उस बात को सुनकर अपने हाथ में शीघ्र ही उस राजा को उठाकर और आश्वस्त कर, उसकी रक्षा करने के लिए उस यक्ष से पूछा—आप कौन हैं ? तब यक्षदेव शीघ्र सेठ को प्रणाम कर, अभयमती के किए हुए और अपने आगमन के विषय में बतलाकर अपने सार रूप प्रभाव से उस सब सेना को उठाकर, स्वर्णमयी दिव्य वस्त्रादिक से सुदर्शन की पूजा कर जिनधर्म के प्रभाव को भली-भाँति प्रकाशित कर सुखपूर्वक चला गया ॥ १४०–१४३ ॥

सच बात है, श्रीमज्जिनेन्द्र द्वारा कथित धर्म कर्म में तत्पर कौन शीलवन्त इस संसार में उत्तम देवों के द्वारा पूज्य नहीं है ? ॥ १४४ ॥

शीलं दुर्गतिनाशनं शुभकरं शीलं कुलोद्योतकं,
शीलं सारसुखप्रमोदजनकं लक्ष्मीयशःकारणम् ।
शीलं स्वव्रतरक्षणं गुणकरं संसारनिस्तारणं,
शीलं श्रीजिनभाषितं शुचितरं भव्या भजन्तु श्रिये ॥ १४५ ॥

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके
मुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिविरचिते अभयाकृतोपसर्ग-
निवारण-शीलप्रभावव्यावर्णनो नाम
सप्तमोऽधिकारः ।

शील दुर्गति का नाश करने वाला है, शुभकर है, शील कुल का उद्योतक है, शील संसार रूपी सुख और प्रमोद का जनक है, लक्ष्मी और यश का कारण है, शील अपने व्रत की रक्षा करने वाला, गुणकर और संसार से पार लगाने वाला है। श्री जिनभाषित शील पवित्रतर है। हे भव्यों! लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए उस शील का सेवन करो ॥ १४५ ॥

इस प्रकार पञ्चनमस्कारमन्त्र माहात्म्यप्रदर्शक सुदर्शनचरित
में मुमुक्षु श्री विद्यानन्दिविरचित अभयाकृत
उपसर्गनिवारण-शीलव्रतप्रभाव व्यावर्णन नाम
का सातवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

●

अष्टमोऽधिकारः

अथ श्रेष्ठीमहाशीलप्रभावं पुण्यपावनम् ।
श्रुत्वा राज्ञी भयत्रस्ता भूपतेः पापकर्मणा ॥ १ ॥
गले पाशं कुधीः कृत्वा मृत्वा सा पाटलीपुरे ।
संजाता व्यन्तरी देवी दुष्टात्मा पापकारिणी ॥ २ ॥

पण्डिता धात्रिका सापि चम्पापुर्याः प्रणश्य च ।
पाटलीपुरमागत्य तत्रस्थां देवदत्तिकाम् ॥ ३ ॥
वेश्यां प्रतिजगौ स्वस्य वृत्तकं धृष्टमानसा ।
रूपाजीवापि तच्छ्रुत्वा धात्रिकां प्राह गर्वतः ॥ ४ ॥

कपिला किं विजानाति ब्राह्मणी मूढमानसा ।
साभया च भयत्रस्ता चातुरीं किं च वेत्त्यलम् ॥ ५ ॥

अहं सर्वं विजानामि कन्दर्परसकूपिका ।
कामशास्त्रप्रवीणा च जगद्वञ्चनतत्परा ॥ ६ ॥

मत्कटाक्षशरव्रातैर्हता हर्यादयोऽपि ये ।
त्यक्त्वा व्रतादिकं यान्ति कस्ते धीरो वणिक् सुतः ॥ ७ ॥

उर्वशीव च ब्रह्माणं सुदर्शनमनुत्तरम् ।
सेवेऽहं स्वेच्छया गाढं तदा स्यां देवदत्तिका ॥ ८ ॥

प्रतिज्ञामिति सा चक्रे तदग्रे गणिका कुधीः ।
सत्यं कामातुरा नारी न वेत्ति पुरुषान्तरम् ॥ ९ ॥
जन्मान्धको यथा रूपं मत्तो वा तत्त्वलक्षणम् ।
तथान्योऽपि न जानाति कामी शीलवतां स्थितिम् ॥ १० ॥
अथातो नृपतिः श्रुत्वा यक्षेणोक्तं सुनिश्चितम् ।
दुराचारं स्त्रियः स्वस्य पश्चात्तापं विधाय च ॥ ११ ॥
हा मया मूढचित्तेन दुष्टस्त्रीवञ्चितेन च ।
विचारपरिशून्येन चक्रे साधुप्रपीडनम् ॥ १२ ॥

इत्यादिकं विचार्याशु स्वचित्ते च सुदर्शनम् ।
भक्तितस्तं प्रणम्योच्चैर्जगौ भो पुरुषोत्तम ॥ १३ ॥

मयाज्ञानवता तुभ्यं दत्तो दोषो वधादिकृत् ।
तथापि क्षम्यतां मेऽत्र दुराचारविजृम्भणम् ॥ १४ ॥

अष्टमोऽधिकारः

अनन्तर सेठ के पुण्य पावन महाशील के प्रभाव को सुनकर राजा की रानी भय से त्रस्त होकर पापकर्म से, दुर्बुद्धि गले में पाश डालकर मरकर दुष्टात्मा पापकारिणी व्यन्तर देव हुई ।। १-२ ।।

धृष्टमानस उस पण्डिता धाय ने भी चम्पापुरी से भागकर पाटलीपुत्र में आकर वहाँ पर स्थित देवदत्तिका नामक, वेश्या से अपना चरित्र कहा। वेश्या ने भी उसे सुनकर धाय से गर्व से कहा ।। ३-४ ।।

मूढ़ मन वाली कपिला चातुरी क्या जानती है ? जड़ से भरी हुई अभया क्या अधिक चातुरी जानती है ? ।। ५ ।।

काम रस की कूपी, कामशास्त्र प्रवीण और संसार को ठगने में तत्पर मैं सब जानती हूँ ।। ६ ।।

मेरे कटाक्षरूपी बाणों के समूह से जो हरि आदि मारे गए और व्रतादिक छोड़कर भाग गए (उनके सामने) तुम्हारा वणिक् पुत्र कौन होता है ? ।। ७ ।।

उर्वशी ने जिस प्रकार ब्रह्मा का सेवन किया था, उसी प्रकार मैं अनुत्तर सुदर्शन का अपनी इच्छा से यदि प्रगाढ़ सेवन करती हूँ तो मैं देवदत्तिका हूँ ।। ८ ।।

उसके सामने दुष्ट बुद्धि वाली उस गणिका ने इस प्रकार प्रतिज्ञा की। सच है, कामातुर नारी पुरुषों के अन्तर को नहीं जानती है ।। ९ ।।

जन्मान्ध व्यक्ति जिस प्रकार रूप को नहीं जानता है, मतवाला व्यक्ति जिस प्रकार तत्त्व के लक्षण को नहीं जानता है, उसी प्रकार अन्य कामी शीलवानों की स्थिति को नहीं जानता है ।। १० ।।

अनन्तर राजा यक्ष के कहने के अनुसार अपनी स्त्री के सुनिश्चित दुराचार को सुनकर पश्चाताप कर, हाय दुष्ट स्त्री से वञ्चित, विचार शून्य मुझ मूढ़चित्त ने साधु को पीड़ित किया ।। ११-१२ ।।

इस प्रकार शीघ्र ही अपने मन में विचार कर, भक्तिपूर्वक सुदर्शन को प्रणाम कर जोर देकर कहता है—हे पुरुषोत्तम ! ।। १३ ।।

अज्ञान से युक्त मैंने तुम्हें वधादिकृत दोष दिया है। फिर भी मेरे इस दुराचार के विस्तार को आप क्षमा करें ।। १४ ।।

त्वं सखा जिनधर्मकस्त्वं सदा शीलसागरः ।
त्वं सदा प्रशमागारं त्वं सदा दोषवर्जितः ॥ १५ ॥
यथा मेरुगिरीन्द्राणामिह मध्ये महानहो ।
क्षीरसिन्धुः समुद्राणां तथा त्वं भव्यदेहिनाम् ॥ १६ ॥

अतस्त्वं मे कृपां कृत्वा दयारससरित्पते ।
अर्धराज्यं गृहाणाशु वणिग्वंशशिरोमणे ॥ १७ ॥

तन्निशम्य स च प्राह भो राजन् भुवनत्रये ।
प्राणिनां च सुखं दुःखं शुभाशुभविपाकतः ॥ १८ ॥
अत्र मे कर्मणा जातं यद्वा तद्वा महीतले ।
कस्य वा दीयते दोषस्त्वं च राजा प्रजाहितः ॥ १९ ॥

शृणु प्रभो मया चित्ते प्रतिज्ञा विहिता पुरा ।
एतस्मादुपसर्गाच्चेदुद्धरिष्यामि निश्चितम् ॥ २० ॥
ग्रहीष्यामि तदा पञ्चमहाव्रतकदम्बकम् ।
भोजनं पाणिपात्रेण करिष्यामि सुयुक्तितः ॥ २१ ॥

ततो मे नियमो राजन् राज्यलक्ष्मीपरिग्रहे ।
इत्याग्रहेण सर्वेषां क्षमां चक्रे विशुद्धितः ॥ २२ ॥

युक्तं सतां सदा लोके क्षमासारविभूषणम् ।
यथा सर्वक्रियाकाण्डे दर्शनं शर्मकारणम् ॥ २३ ॥

ततो जिनालयं गत्वा पवित्रीकृतभूतलम् ।
पूजयित्वा जिनांस्तत्र शक्रचक्रिसमर्चितान् ॥ २४ ॥
तथा स्तुतिं चकारोच्चैर्जय त्वं जिनपुङ्गव ।
जय जन्मजरामृत्युमहागदभिषग्वर ॥ २५ ॥

जय त्रैलोक्यनाथेश सर्वदोषक्षयंकर ।
जय त्वं त्रिजगद्भव्यपद्माकरदिवाकर ॥ २६ ॥
जय त्वं केवलज्ञानलोकालोकप्रकाशक ।
जय त्वं जिननाथात्र विघ्नकोटिप्रणाशक ॥ २७ ॥

जय त्वं धर्मतीर्थेश परमानन्ददायक ।
जय त्वं सर्वतत्त्वार्थसिन्धुवर्धनचन्द्रमाः ॥ २८ ॥
जय सर्वज्ञ सर्वेश सर्वसत्त्वहितंकर ।
जय त्वं जितकन्दर्प शीलरत्नाकर प्रभो ॥ २९ ॥

तुम सदा जिनधर्म को जानने वाले हो, तुम सदा शील के सागर हो, तुम सदा शान्ति के आगार हो, तुम सदा दोषों से रहित हो ॥ १५ ॥

अहो, जिस प्रकार मेरु पर्वतों के मध्य महान् है, क्षीरसागर समुद्रों में महान् है, उसी प्रकार आप सब जीवों में महान् हैं ॥ १६ ॥

हे दयारस के समुद्र ! वणिग्वंश शिरोमणि ! तुम मेरे ऊपर कृपा कर शीघ्र ही आधा राज्य ग्रहण करो ॥ १७ ॥

उसे सुनकर वह बोला—हे राजन् ! तीनों भुवनों में शुभ और अशुभ के फलस्वरूप प्राणियों को सुख और दुःख होते हैं ॥ १८ ॥

पृथ्वी तल पर आज मेरे कर्म से जैसा-तैसा हो गया । किसे दोष दिया जाय ? तुम प्रजा के हितकारी राजा हो ॥ १९ ॥

हे प्रभु ! सुनो, मैंने पहले मन में प्रतिज्ञा की थी कि यदि इस उपसर्ग से मेरा उद्धार हो जाएगा तब निश्चित रूप से, पञ्च महाव्रतों का समूह ग्रहण करूँगा । सुयुक्ति से पाणिपात्र में भोजन करूँगा ॥ २०-२१॥

अतः हे राजन् ! राज्य लक्ष्मी के स्वीकार करने के विषय में मेरा नियम है । इस प्रकार आग्रहपूर्वक मन, वचन, कायपूर्वक सबकी क्षमा की ॥ २२ ॥

यह ठीक ही है कि लोक में सज्जनों के लिए क्षमासार रूप आभूषण है, जिस प्रकार समस्त क्रियाकाण्ड में सम्यग्दर्शन सुख का कारण है ॥ २३ ॥

अनन्तर भूतल को पवित्र करने वाले जिनालय में जाकर इन्द्र और चक्रवर्ती के द्वारा अर्चित जिनों की वहाँ पूजा कर, अत्यधिक स्तुति की । हे जिनपुङ्गव ! तुम्हारी जय हो । जन्म, जरा और मरण रूपी रोग के लिए हे श्रेष्ठ वैद्य ! तुम्हारी जय हो ॥ २४-२५ ॥

समस्त दोषों को क्षय करने वाले, तीनों लोकों के नाथ ईश आपकी जय हो । तीनों लोकों के भव्य जीव रूपी कमलों के समूह के लिए सूर्य रूप आपकी जय हो ॥ २६ ॥

लोकालोक के प्रकाशक केवलज्ञान ! तुम्हारी जय हो । यहाँ पर करोड़ों विघ्नों के विनाशक जिननाथ ! तुम्हारी जय हो ॥ २७ ॥

धर्मतीर्थ के स्वामी, परम आनन्ददायक ! तुम्हारी जय हो । समस्त तत्त्वार्थसागर की वृद्धि के लिए चन्द्रमा स्वरूप तुम्हारी जय हो ॥ २८ ॥

समस्त प्राणियों का हित करने वाले, सबके स्वामी, सर्वज्ञ, तुम्हारी जय हो । शीलसागर, जितकाम तुम जयशील हो ॥ २९ ॥

त्वं देव त्रिजगत्पूज्यस्त्वं सदा त्रिजगद्गुरुः ।
त्वं सदा त्रिजगद्बन्धुस्त्वं सदा त्रिजगत्पतिः ॥ ३० ॥

कर्मणां निर्जयाद्देव त्वं जिनः परमार्थतः ।
त्वमेव मोक्षमार्गो हि साररत्नत्रयात्मकः ॥ ३१ ॥

त्वं पापारिहरत्वाच्च हरस्त्वं परमार्थवित् ।
भव्यानां शंकरत्वाच्च शंकरस्त्वं शिवप्रदः ॥ ३२ ॥

ज्ञानेन भुवनव्यापी विष्णुस्त्वं विश्वपालकः ।
त्वं सदा सुगतेर्नेता त्वं सुधीर्धर्मतीर्थकृत् ॥ ३३ ॥

दिव्यचिन्तामणिस्त्वं च कल्पवृक्षस्त्वमेव हि ।
कामधेनुस्त्वमेवात्र वाञ्छितार्थप्रपूरकः ॥ ३४ ॥

सिद्धो बुद्धो निराबाधो विशुद्धस्त्वं निरञ्जनः ।
देवाधिदेवो देवेशसमर्चितपदाम्बुजः ॥ ३५ ॥

नमस्तुभ्यं जगद्वन्द्य नमस्तुभ्यं जगद्गुरो ।
नमस्ते परमानन्ददायक प्रभुसत्तम ॥ ३६ ॥

अस्तु मे जिनराजोच्चैर्भक्तिस्ते शर्मदायिनी ।
लोकद्वयहिता नित्यं सर्वशान्तिविधायिनी ॥ ३७ ॥

इत्यादि संस्तुतिं कृत्वा जिनानां संपदाप्रदाम् ।
पुनः पुनर्नमस्कृत्य ततो भव्यशिरोमणिः ॥ ३८ ॥
ज्ञानिनं गुरुमानम्य नाम्ना विमलवाहनम् ।
शुद्धरत्नत्रयोपेतं कुमतान्धतमोरविम् ॥ ३९ ॥
संजगाद मुने स्वामिन् सर्वसत्त्वहितंकर ।
पूर्वजन्मप्रसंबन्धं मम त्वं वक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥

सोऽपि स्वामी कृपासिन्धुर्भव्यबन्धुर्जगौ मुनिः ।
शृणु त्वं भो महाभव्य सुदर्शन मदीरितम् ॥ ४१ ॥

अत्रैव भरतक्षेत्रे पवित्रे धर्मकर्मभिः ।
विन्ध्यदेशे सुविख्याते पुरे कौशलसंज्ञके ॥ ४२ ॥
भूपालाख्यो नृपस्तस्य राज्ञी जाता वसुन्धरा ।
लोकपालस्तयोः पुत्रः शूरो वीरो विचक्षणः ॥ ४३ ॥

हे देव ! तुम तीनों लोकों में पूज्य हो, तुम सदा तीनों लोकों के गुरु हो, तुम सदा तीनों लोकों के बन्धु हो, तुम सदा तीनों लोकों के स्वामी हो ॥ ३० ॥

कर्मों को जीतने से तुम परमार्थ रूप से जिन हो। तुम ही रत्नत्रय के सारस्वरूप मोक्षमार्ग हो ॥ ३१ ॥

हे परमार्थ को जानने वाले ! पाप रूपी शत्रु का हरण करने से तुम हर हो। भव्यों को सुखकारी होने से तुम मोक्षदायी शंकर हो ॥ ३२ ॥

ज्ञान की अपेक्षा भुवनव्यापी होने से तुम विश्वपालक विष्णु हो। तुम सदा सुगति को ले जाने वाले हो। तुम धर्मतीर्थ के करने वाले बुद्धिमान् हो ॥ ३३ ॥

तुम दिव्य चिन्तामणि हो। निश्चित रूप से तुम कल्पवृक्ष हो। तुम्हीं यहाँ इष्ट अर्थ की पूर्ति करने वाली कामधेनु हो ॥ ३४ ॥

तुम सिद्ध, बुद्ध, निराबाध, विशुद्ध और निरंजन हो। देवेन्द्र के द्वारा समर्चित चरणकमल तुम देवाधिदेव हो ॥ ३५ ॥

संसार के द्वारा वन्दन करने योग्य ! तुम्हें नमस्कार हो। तीनों लोकों के गुरु तुम्हें नमस्कार हो। हे प्रभुश्रेष्ठ, परमानन्ददायक, तुम्हें नमस्कार हो ॥ ३६ ॥

मेरी जिनराज के प्रति अत्यधिक सुखदायिनी, दोनों लोकों में हितकारी, नित्य समस्त शान्ति करने वाली भक्ति हो ॥ ३७ ॥

इत्यादि जिनेन्द्र भगवान् की सम्पदा प्रदान करने वाली सम्यक् स्तुति कर, पुनः-पुनः नमस्कार कर अनन्तर भव्यशिरोमणि, विमलवाहन नामक ज्ञानी गुरु को नमस्कार कर। शुद्ध रत्नत्रय से युक्त तथा कुमत रूपी महान् अन्धकार के लिए सूर्य स्वरूप उनसे बोला—हे समस्त प्राणियों का हित करने वाले स्वामी ! हे मुनि ! मेरेपूर्वजन्म के सम्बन्ध में आप कहिए ॥ ३८–४० ॥

कृपासिन्धु, भव्यजनों के बन्धु वे मुनि भी बोले। हे महाभव्य सुदर्शन ! तुम मेरे द्वारा कहे हुए के विषय में सुनो ॥ ४१ ॥

धर्म-कर्म से पवित्र इस भरत क्षेत्र के सुविख्यात विन्ध्यदेश के कौशल नामक नगर में, भूपाल नामक राजा था। उसकी वसुन्धरा रानी हुई। उन दोनों का शूरवीर, विचक्षण लोकपाल नामक पुत्र था ॥ ४२-४३ ॥

एवं स पुत्रपौत्रादिपरिवारैः परिष्कृतः ।
भूपालो निजपुण्येन कुर्वन् राज्यं सुखं स्थितः ॥ ४४ ॥

एकदा तस्य भूपस्य सिंहद्वारे मनोहरे ।
रक्ष रक्षेति भो देव पूत्कारं चक्रिरे जनाः ॥ ४५ ॥

तमाकर्ण्य नृपोऽनन्तबुद्धिमन्त्रिणमाजगौ ।
किमेतदिति स प्राह मंत्री शृणु महीपते ॥ ४६ ॥

अस्माद्दक्षिणदिग्भागे गिरौ विन्ध्ये महाबली ।
व्याघ्रनामा च भिल्लोऽस्ति कुरङ्गी नाम तत्प्रिया ॥ ४७ ॥

स व्याघ्रो व्याघ्रवत्क्रूरो दुष्टात्मा वा यमोऽधमः ।
अहंकारमदोन्मत्तो नित्यं कोदण्डकाण्डभाक् ॥ ४८ ॥

स पापी कुरुते देव प्रजानां पीडनं सदा ।
तस्मादियं प्रजा गाढं पूत्कारं कुरुते प्रभो ॥ ४९ ॥

श्रुत्वा भूपालनामा च मन्त्रिवाक्यं नृपो रुषा ।
जगौ कोऽयं कुधीर्भिल्लो मत्प्रजादुःखदायकः ॥ ५० ॥

तथादेशं ददौ सेनापतये याहि सत्वरम् ।
जित्वा भिल्लं समागच्छ दर्पिष्ठं शत्रुकं मम ॥ ५१ ॥

सत्यं प्रसिद्धभूपालाः प्रजापालनतत्पराः ।
ये ते नैव सहन्तेऽत्र प्रजापीडनमुत्तमाः ॥ ५२ ॥

सेनापतिस्तदा शीघ्रं सारसेनासमन्वितः ।
गत्वा युद्धे जितस्तेन भिल्लराजेन वेगतः ॥ ५३ ॥

मानभङ्गेन संत्रस्तः पश्चात्स्वपुरमागतः ।
पुण्यं बिना कुतो लोके जयः संप्राप्यते शुभः ॥ ५४ ॥

ततः कोपेन गच्छन्तं भूपालाख्यं स्वयं नृपम् ।
लोकपालः सुतः प्राह नत्वा शृणु महीपते ॥ ५५ ॥

सेवके मयि सत्यत्र किं श्रीमद्भिः प्रगम्यते ।
गदित्वेति ततो गत्वा सर्वसारबलान्वितः ॥ ५६ ॥
युद्धं विधाय तं हत्वा भिल्लं स्वपुरमागमत् ।
दुःसाध्यं स्वपितुर्लोके साधयत्यत्र सत्सुतः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार वह भूपाल पुत्र-पौत्रादि परिवार से घिरा हुआ अपने पुण्य से राज्य करता हुआ सुखपूर्वक स्थित था ।। ४४ ।।

एक बार उस राजा के मनोहर सिंह द्वार पर लोगों ने हे देव ! रक्षा करो, रक्षा करो, इस प्रकार क्रन्दन किया ।। ४५ ।।

उसे सुनकर राजा ने अनन्तबुद्धि नामक मन्त्री से कहा—यह क्या है ? वह मन्त्री बोला—हे राजन् ! सुनो ।। ४६ ।।

यहाँ से दक्षिण दिशा की ओर विन्ध्यगिरि पर महाबली व्याघ्र नामक भील है । उसकी कुरंगी नामक प्रिया है ।। ४७ ।।

वह दुष्टात्मा व्याघ्र, व्याघ्र के समान क्रूर है अथवा अधम यम है । वह अहंकार के मद से मत्त रहता है और नित्य धनुर्दण्ड लिए रहता है ।। ४८ ।।

हे देव ! वह पापी प्रजा को सदा पीड़ित करता रहता है । अतः हे प्रभो ! यह प्रजा अत्यधिक क्रन्दन कर रही है ।। ४९ ।।

मन्त्री के वाक्य को सुनकर भूपाल नामक राजा क्रोध से बोला—मेरी प्रजा को दुःख देनेवाला यह दुर्बुद्धि भील कौन है ? ।। ५० ।।

तथा सेनापति को आदेश दिया—शीघ्र ही जाओ । दर्प में स्थित मेरे शत्रु को जीतकर आओ ।। ५१ ।।

सचमुच, जो प्रजापालन में तत्पर प्रसिद्ध उत्तम राजा होते हैं, वे प्रजा को सताना सहन नहीं करते हैं ।। ५२ ।।

तब सार रूप सेना से युक्त सेनापति शीघ्र ही जाकर वेगपूर्वक भिल्लराज के द्वारा जीत लिया गया ।। ५३ ।।

पश्चात् मानभङ्ग से संत्रस्त होकर वह अपने नगर में आ गया । पुण्य के बिना लोक में कहाँ से शुभ विजय प्राप्त होती है ? ।। ५४ ।।

अनन्तर कोप से जाते हुए भूपाल नामक राजा से लोकपाल नामक पुत्र प्रणाम कर बोला । हे राजन् ! सुनो ।। ५५ ।।

मुझ सेवक के रहते हुए श्रीमान् क्यों जा रहे हैं ? इस प्रकार कहकर समस्त सार रूप सेना के सहित जाकर, युद्ध कर, उस भील को मारकर अपने नगर को आ गया । लोक में अपने पिता के द्वारा जो दुःसाध्य हो, उसे उसका पुत्र सिद्ध कर देता है ।। ५६-५७ ।।

व्याघ्रो भिल्लपतिः सोऽपि मृत्वा कर्मवशीकृतः ।
गोकुले कुर्कुरो भूत्वा कदाचित्स कृतज्ञकः ॥ ५८ ॥
गोपस्त्रीभिश्च कौशाम्बीं सहागत्य जिनालयम् ।
समालोक्य समाश्रित्य किंचिच्छुभयुतोऽभवत् ॥ ५९ ॥

मृत्वा ततश्च चम्पायां नरजन्मत्वमाप सः ।
सिंहप्रियाभिधानस्य कस्यचिल्लुब्धकस्य च ॥ ६० ॥
सिंहिन्यां तनयो भूत्वा मृत्वा तत्र पुनः स च ।
चम्पायां सुभगा नाम गोपालः समजायत ॥ ६१ ॥
श्रेष्ठिनस्ते पितुः सोऽपि गोपालो मन्दिरेऽभवत् ।
गवां वृषभदासस्य पालकः प्रौढबालकः ॥ ६२ ॥

गवां संपालनत्वाच्च सुराजेव जनप्रियः ।
कवेः काव्योपमश्छन्दोगामी सर्वमनोहरः ॥ ६३ ॥
हरिर्वा कानने क्रीडन् कपिर्वा तरुषु भ्रमन् ।
अलिर्वा कुसुमास्वादी सुस्वरो वा सुरोत्तमः ॥ ६४ ॥
निःशङ्को मानसे नित्यं सद्दृष्टिर्वा स्ववृत्तिषु ।
अप्रमादी च कार्येषु भटो वा बालकोऽपि सन् ॥ ६५ ॥

एकदा सुभगः सोऽपि माघमासे सुदुःसहे ।
पतच्छीतभराक्रान्तप्रकम्पितजगज्जने ॥ ६६ ॥
संध्याकाले समादाय श्रेष्ठिनो गोकदम्बकम् ।
समागच्छन् वने रम्ये मुनीन्द्रं वीक्ष्य चारणम् ॥ ६७ ॥
तारणं भववाराशौ भव्यानां शर्मकारणम् ।
एकत्वभावनोपेतं सङ्गद्वयविवर्जितम् ॥ ६८ ॥

रत्नत्रयसमायुक्तं चतुर्ज्ञानसमन्वितम् ।
पञ्चाचारविचारज्ञं पञ्चमोगतिसाधकम् ॥ ६९ ॥

महाभक्तिभरोपेतं पञ्चाप्तेषु निरन्तरम् ।
षडावश्यकसत्कर्मप्रतिपालनतत्परम् ॥ ७० ॥

षट्सुजीवदयावल्लीप्रसिञ्चनघनाघनम् ।
षड्लेश्यासुविचारज्ञं सप्ततत्त्वप्रकाशकम् ॥ ७१ ॥

वह भिल्लपति व्याघ्र भी मरकर कर्म के वश में किया गया गोकुल में कुत्ता होकर कदाचित् वह कुत्ता, ग्वाले की स्त्री के साथ कौशाम्बी आकर जिनालय देखकर, उसका आश्रय लेकर किंचित् शुभ कर्म से युक्त हुआ ।। ५८-५९ ।।

उसने मरकर चम्पा में मनुष्य जन्म पाया । सिंहप्रिय नाम वाले किसी शिकारी की सिंहिनी नामक स्त्री का पुत्र होकर, वहाँ मरकर पुनः वह, चम्पा में सुभग नामक ग्वाला हुआ । वह तुम्हारे पिता सेठ के घर में ग्वाला हुआ । वह प्रौढ़ बालक वृषभदास की गायों का पालक हुआ ।। ६०–६२ ।।

गायों के भली-भाँति पालन से वह उत्तम राजा के समान जनप्रिय हुआ ? वह कवि के काव्य के समान सबको मनोहर छन्द का ज्ञाता हुआ ।। ६३ ।।

वन में क्रीड़ा करता हुआ वह हरि के समान लगता था अथवा वृक्षों पर भ्रमण करते हुए वह कपि जैसा लगता था । अथवा वह पुष्पों का आस्वादन करने वाला भ्रमर था, वह सुस्वर (अच्छे सुर वाला) अथवा सुरोत्तम था ।। ६४ ।।

उसका मन नित्य निःशङ्क रहता था अथवा अपने आचरण में वह सत् दृष्टि वाला था । कार्यों में वह अप्रमादी रहता था और बालक होने पर भी योद्धा था ।। ६५ ।।

एक बार पड़ती हुई शीत के समूह से आक्रान्त, संसार के लोगों को कम्पित करने वाले सुदुःसह माघ मास में वह सुभग भी, सन्ध्या के समय सेठ की गायों के समूह को लाकर रम्य वन में आए हुए चारण मुनीन्द्र को देखकर, जो संसार समुद्र के लिए नौका स्वरूप थे, भव्य जनों के सुख के कारण थे, एकत्व भावना से युक्त थे, बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से रहित थे ।। ६६–६८ ।।

रत्नत्रय से युक्त थे, चार ज्ञान से समन्वित थे, पाँच प्रकार के आचार-विचार को जानने वाले थे, मोक्ष साधक थे ।। ६९ ।।

पंच परमेष्ठी के प्रति निरन्तर भक्ति के समूह से युक्त थे । छः आवश्यक रूपी सत्कर्म का पालन करने में तत्पर थे ।। ७० ।।

छः काय के जीवों के प्रति दया रूपी लता को सिञ्चन करने के लिए जो बड़े मेघ थे, छः प्रकार की लेश्याओं के विषय में भली भाँति विचारज्ञ थे एवं सप्त तत्त्व के प्रकाशक थे ।। ७१ ।।

सप्तपाताल्दुःखौघनिवारणविदांवरम् ।
कर्माष्टकक्षयोद्युक्तं मदाष्टकहरं परम् ॥ ७२ ॥

नवधा ब्रह्मचर्याढ्यं पदार्थनवकोविदम् ।
जिनोक्तदशधाधर्मप्रतिपालनसद्विदम् ॥ ७३ ॥

एकादशप्रकारोक्तप्रतिमाप्रतिपादकम् ।
द्वादशोक्ततपोभारसमुद्धरणनायकम् ॥ ७४ ॥

द्वादशप्रमितव्यक्तानुप्रेक्षाचिन्तनोद्यतम् ।
त्रयोदशजिनेन्द्रोक्तचारुचारित्रमण्डितम् ॥ ७५ ॥

चतुर्दशगुणस्थानप्रविचारणमानसम् ।
प्रमादैः पञ्चदशभिर्विनिर्मुक्तं गुणाम्बुधिम् ॥ ७६ ॥

षोडशप्रमितव्यक्तभावनाभावकोविदम् ।
प्रोक्तसप्तदशासंयमकैर्नित्यं विवर्जितम् ॥ ७७ ॥

अष्टादशासम्परायज्ञातारं करुणार्णवम् ।
एकोनविंशतिप्रोक्तनाथाध्ययनान्वितम् ॥ ७८ ॥

प्रोक्त-विंशति-संख्यानासमाधिस्थानवर्जितम् ।
एकविंशतिमानोक्तसबलानां विनाशकम् ॥ ७९ ॥

द्वाविंशतिमुनिप्रोक्तपरीषहजयक्षमम् ।
त्रयोविंशतिजैनोक्तश्रुतध्यानपरायणम् ॥ ८० ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशसारसेवासमन्वितम् ।
भावनापञ्चविंशत्याराधकं विश्ववन्दितम् ॥ ८१ ॥

ज्ञातारं पञ्चविंशत्याः क्रियाणां धर्मसंपदाम् ।
षड्विंशतिक्षमाणां च वेत्तारं नयकोविदम् ॥ ८२ ॥

सप्तविंशत्यनागारगुणयुक्तं गुणालयम् ।
अष्टाविंशतिविख्यातसारमूलगुणान्वितम् ॥ ८३ ॥

एकोनत्रिंशदाप्रोक्तपापसङ्गभयंकरम् ।
प्रोक्तत्रिंशन्मोहनीयस्थानभेदप्रभेदकम् ॥ ८४ ॥

एकत्रिंशत्प्रमाणोक्तकर्मपाकप्रवेदिनम् ।
द्वात्रिंशद्वीतरागोपदेशेषु कृतनिश्चयम् ॥ ८५ ॥

त्रयस्त्रिंशत्प्रमात्यासादनानां क्षयकारकम् ।
चतुस्त्रिंशत्प्रमाणातिशयसंपत्तिदर्शिनम् ॥ ८६ ॥

सात नरकों के दुःखों के समूह का निवारण जानने वालों में जो श्रेष्ठ थे, आठ कर्मों के क्षय में लगे हुए थे, आठ प्रकार के परम् मदों को हरने वाले थे ।। ७२ ।।

नव प्रकार के ब्रह्मचर्य से सम्पन्न थे, नव प्रकार के पदार्थों के ज्ञाता थे, जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कहे हुए दश धर्मों का जो पालन करना जानते थे ।। ७३ ।।

शास्त्रोक्त ग्यारह प्रकार की प्रतिमाओं के प्रतिपादक थे, कहे हुए बारह तप के भार को उठाने के नायक थे ।। ७४ ।।

बारह प्रकार की व्यक्त अनुप्रेक्षाओं के चिन्तन करने में लगे रहते थे, तेरह प्रकार के जिनेन्द्र कथित सुन्दर चारित्र से मण्डित थे ।। ७५ ।।

चौदह गुणस्थानों के विषय में विचार करने में उनका मन लगा रहता था । वे पन्द्रह प्रकार के प्रमादों से रहित और गुणों के समुद्र थे ।। ७६ ।।

वे षोडश कारण भावनाओं के भाव को जानने वाले थे और सत्रह प्रकार के असंयमों से सदा रहित थे ।। ७७ ।।

वे अठारह प्रकार के असम्पराय को जानते थे और करुणा के समुद्र थे । उन्नीस प्रकार के कहे गए नाथ के अध्ययन से युक्त थे ।। ७८ ।।

कहे गए बीस असमाधिस्थान मे रहित थे और कहे गए इक्कीस सबलों के विचारक थे ।। ७९ ।।

बाईस प्रकार के मुनिकथित परीषहों को जीतने में समर्थ थे और जिनकथित तेईस प्रकार के श्रुतध्यान में लगे हुए थे ।। ८० ।।

चौबीस तीर्थंकरों की साररूप सेवा से युक्त थे । पच्चीस भावनाओं के आराधक थे और विश्व वन्दित थे ।। ८१ ।।

धर्म की सम्पत्तिस्वरूप पच्चीस क्रियाओं के ज्ञाता थे और छब्बीस क्षमाओं के ज्ञाता थे, नय कोविद थे ।। ८२ ।।

सत्ताईस प्रकार के मुनि के गुणों से युक्त और गुणों के आलय थे । साररूप प्रसिद्ध २८ मूलगुणों से युक्त थे ।। ८३ ।।

उन्तीस प्रकार के कहे गए पाप के प्रति आसक्ति का क्षय करने वाले थे । कहे गए तीस मोहनीय कर्म के भेदों के उत्कृष्ट भेदक थे ।। ८४ ।।

इकतीस संख्या में कहे गए कर्म के परिपाक को जानने वाले थे । वीतराग भगवान् के बत्तीस उपदेशों में उन्होंने निश्चय किया था ।। ८५ ।।

वे तेतीस प्रकार आसादनाओं के क्षय कारक थे और चौंतीस अतिशयों की सम्पत्ति को दिखलाने वाले थे ।। ८६ ।।

भावार्थ—एक—अनाचार परिणाम, दो—रागद्वेष परिणाम, तीन दंड—दुष्ट मन, दुष्ट वचन, दुष्ट काय जीव को दण्ड देते रहते हैं अतः इन्हें दण्ड कहते हैं।

तीन गुप्तियाँ—मन गुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति।

तीन गारव—ऋद्धि गारव, रस गारव, सात गारव।

चार कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।

चार संज्ञा—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह।

पाँच महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

पाँच समितियाँ—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, व्युत्सर्गसमिति।

छह जीवनिकाय—पृथ्वी, जल,अग्नि, वायु, वनस्पति, त्रस काय।

छह आवश्यक—समता, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग।

सात भय—इहलोक, परलोक, मरण, वेदना, आकस्मिक, अत्राण भय, अगुप्ति।

आठ मद—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, तप, बल, ऋद्धि, शरीर मद।

नव ब्रह्मचर्य गुप्तियाँ—१. तिर्यंच, २. मनुष्य, ३. देवियों में मन, वचन, काय से विषय का सेवन करना।

दस श्रमणधर्म—उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य।

ग्यारह श्रावक प्रतिमायें—दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त-त्याग, रात्रिभुक्ति त्याग/(दिवा मैथुन त्याग), ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमति-त्याग, उद्दिष्ट त्यागप्रतिमा।

बारह भिक्षु प्रतिमायें—महा सत्वशाली मुनि (उत्तम संहननवाला मुनि) इस भिक्षु प्रतिमा विधिका अनुष्ठान कर सकता है। इस देश में रहते हुए एक मास के अन्दर अमुक-अमुक दुर्लभ आहार मिलेगा तो ग्रहण करूँगा अन्यथा नहीं, ऐसी प्रतिज्ञा करके उस मास के अन्तिम दिन प्रतिमा-योग धारण करता है, यह एक प्रतिमा हुई।

पूर्वोक्त आहार से शतगुणित उत्कृष्ट दुर्लभ ऐसे भिन्न-भिन्न आहार का व्रत ग्रहण करता है यह व्रत दो मास का, तीन का, चार, पाँच, छह और सात मास तक क्रमशः चलता है, प्रत्येक महीने के अन्तिम दिन प्रतिमायोग धारण करता है। ये सात भिक्षु प्रतिमायें हैं।

पुनश्च सात-सात दिनों में पूर्व आहार की अपेक्षा से शत गुणित उत्कृष्ट और दुर्लभ ऐसे भिन्न-भिन्न, आहार तीन बार लेने की प्रतिज्ञा करता है, आहार की प्राप्ति होती है तो तीन, दो, और एक ग्रास लेता है, ये तीन भिक्षु प्रतिमायें हैं। तदनन्तर रात्रि और दिन में प्रतिमायोग धारण करता है पुनः प्रतिमायोग से ध्यानस्थ होता है ये दो भिक्षु प्रतिमायें हैं। इससे पहले अवधि और मनःपर्ययज्ञान प्राप्त होते हैं, अनन्तर सूर्योदय होने पर उक्त महामना महाधैर्यशाली मुनिराज केवलज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह ये बारह भिक्षु प्रतिमायें जिनागम में वर्णित हैं।

तेरह क्रियायें—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति।

चउदह जीवसमास—बादर और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असैनी पंचेन्द्रिय, सैनी पंचेन्द्रिय, सात युगल पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से १४ प्रकार के जीव समास।

पन्द्रह प्रमाद—५ इन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण।
४ विकथा—स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा।
४ कषाय—क्रोध, मान, माया, लोभ।
१. निद्रा। १. स्नेह।

सोलह प्रवचन भेद—७ विभक्तियाँ–प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी।
३ काल–भूतकाल, वर्तमानकाल, भविष्यकाल।
३ लिंग–स्त्रीलिंग, पुंलिंग, नपुंसकलिंग।
३ वचन–एकवचन, द्विवचन, बहुवचन।

सत्रह असंयम—हिंसादि पाँच पाप, पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय, मन, वचन, काय की कुचेष्टा।

अठारह असम्पराय—सम् अर्थात् समीचीन (श्रेष्ठ प्रधान 'आय' अर्थात् पुण्य का आगमन) जिनसे होता है उन्हें 'सम्पराय' कहते हैं। इसके निषेध करनेवाले साधनों को असंपरायिक कहते हैं। वे निम्न प्रकार के हैं।

उत्तमक्षमादि १० प्रकार के धर्म, ईर्यादि ५ प्रकार की समिति तथा मन-वचन-काय रूप गुप्ति का पालन नहीं करना।

उन्नीस नाथाध्ययन (धर्मकथायें)—१. उक्कोडनाग—श्वेतहस्ती नागकुमार की कथा। २. कुम्म–कूर्म कथा। ३. अंडय–अण्डज कथा ५ प्रकार की (१ कुक्कुट कथा २ तापसपल्लिकास्थित शुक कथा ३ वेदक

शुक कथा ४ अगंधन सर्प कथा ५ हंसयूथबन्धनमोचन कथा) ४. **रोहिणी** कथा । ५. **शिष्य** कथा । ६. **तुंब**–क्रोध से दिये हुए कटुतुम्बों के भोजन करनेवाले मुनि की कथा । ७. **संघादे**–समुद्रदत्तादि ३२ श्रेष्ठ पुत्रों की कथा जो सभी अतिवृष्टि के होने पर समाधि को धारण कर स्वर्ग को प्राप्त हुए । ८. **मादंगिमल्लि**–मातंगिमल्लि कथा । ९. **चंदिम** चन्द्रवेध कथा । १०. **तावद्देवप**–सगरचक्रवर्ती की कथा । ११. **करकण्डु** राजा की कथा । १२. **तलाय:**–वृक्ष के एक कोटर में बैठे हुए तपस्वी की कथा । १३. **किण्णे**–चावलों के मर्दन में स्थिर पुरुष की कथा । १४. **सुसुकेय:** आराधना ग्रन्थ में कही हुई शुंशुमार सरोवर संबंधी कथा । १५. **अवरकंके**–अवरकंका नामक पत्तन में उत्पन्न होने वाले अंजनचोर की कथा । १६. **नंदीफल**–अटवी में स्थित, बुभुक्षा से पीड़ित धन्वंतरि, विश्वानुलोम और भृत्य के द्वारा लाये हुये किंपाक फल की कथा । १७. **उदकनाथ** कथा । १८. **मण्डूक** कथा-जाति-स्मरण होनेवाले मेंढक की कथा । १९. **पुंडरीगो**–पुंडरीक नामक राजपुत्री की कथा । अथवा—

गुणस्थान १४, जीवसमास १५, पर्याप्ति १६, प्राण १७, संज्ञा १८, मार्गणा १९, ये १९ प्रकार के नाथाध्ययन समझने चाहिए ।

अथवा

घातिया कर्म के क्षय से होनेवाले १० अतिशय तथा ९ प्रकार की लब्धि सम्बन्धी जिनवाणी का यथा समय अध्ययन करना ।

बीस असमाधिस्थान—रत्नत्रय का आराधन करते हुए मुनि के चित्त में किसी प्रकार की आकुलता का नहीं होना ही समाधि है और उससे विपरीत 'असमाधि' है, उसके ये २० स्थान हैं ।

१. अदिट्ठ २. दवदवचरं—ईर्या समिति रहित गमन करना । ३. अपमज्जिदं—अप्रमार्जित उपकरणादि को ग्रहण करना, रखना, उठाना आदि । ४. रादिणीयपडिहासीरादिणोअ अर्थात् दीक्षादि से जो ज्येष्ठ है उसका अनादर करके कथन करना । ५—अधिसेज्जासणं—ज्येष्ठ के ऊपर अपनी शय्या या अपना आसन करना । ६. कोधी—दीक्षा से ज्येष्ठ के वचन पर क्रोध करना । ७. थेर विवादंतराएय—दीक्षा से ज्येष्ठ मुनि आदिकों के समय, बीच में प्रविष्ट होकर वार्तालाप करना । ८. उवघादं—दूसरे का तिरस्कार करके भाषण करना । ९. अणणुवीचि—आगम भाषा का त्याग करके भाषण करना । १०. अधिकरणी—आगम के विरोध से अपनी बुद्धि के द्वारा तत्त्व का कथन करना । ११. पिट्ठिमांसपडिणीगो—

पीठ पीछे विपरीत वचन कहना। १२. असमाहिकलहं—दूसरे के आशय को बदल कर अन्य का नाम लेकर झगड़ा पैदा कर देना। १३. झंझा—झोंड़ा झगड़ा करके गण में उत्पन्न कर देना। १४. सहकरेपढिदा—सब लोगों की आवाज को दबाकर उच्चध्वनि से पढ़ना। १५. एसणासमिदि—बिना शोधे भोजन करना। १६ सूरप्पमाणभोजी—१७. गाणंगणिगो—बहुत अपराध करनेवाला मुनि एक गण से दूसरे गण में भेज दिया जाता है। १८. सरक्खरावादे—धूल सहित पैरों का जल में प्रवेश करना तथा जल में गीले पैर हो जानेपर धूल में प्रवेश करना। १९. अप्पमाणभोजी—अप्रमाण भोजन करना अर्थात् भूख से ज्यादा भोजन करना। २०. अकाल-सज्झाओ—अकाल में स्वाध्याय करना।

इक्कीस सबलक्रियायें—५ प्रकार की रस सम्बन्धी (खट्टा, मीठा, कडुवा, कषायला, चरपरा), ५ प्रकार की वर्ण सम्बन्धी (काला, पीला, लाल, हरा, सफेद), दो प्रकार की वर्ण सम्बन्धी (सुगन्ध, दुर्गन्ध) तथा आठ प्रकार की स्पर्श सम्बन्धी (हल्का, भारी, ठंडा, गरम, रूखा, चिकना, कड़ा, नरम) और २१वीं पहले छोड़े हुए अपने सम्बन्धियों के ऊपर स्नेह सहित क्रिया, जिसका नाम है विरदिजणरागसहिदा।

बाईस परीषह—क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग तृणस्पर्श, मल, सत्कार-पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अदर्शन।

तेवीस सूत्रकृत अध्ययन—

१. समए—समय अधिकार, अध्ययन काल के प्रतिपादन के द्वार से त्रिकाल स्वरूप का प्रतिपादन करता है।
२. वेदालिज्झे—वेदालिजाधिकार—तीन वेदों के स्वरूप का प्रतिपादन करता है।
३. उवसग्गं—उपसर्ग का अधिकार—४ प्रकार के उपसर्गों का निरूपण करता है।
४. इत्थिपरिणामे—स्त्री परिणाम—स्त्रियों के स्वभाव का वर्णन करता है।
५. णिरयंतर—नरकान्तर अधिकार—नरकादि चतुर्गतियों का वर्णन करता है।
६. वीरथुदी—वीर स्तुति अधिकार—२४ तीर्थंकरों के गुण का वर्णन करता है।

७. कुसीलपरिभासिए-कुशील परिभाषा का अधिकार—कुशीलादि ५ प्रकार के पार्श्वस्थ साधुओं का अधिकार।
८. विरिए-वीर्याधिकार—जीवों की तरतमता से वीर्य का वर्णन करता है।
९. धम्मोय-धर्माधिकार—धर्म और अधर्म के स्वरूप का वर्णन करता है।
१०. अग्ग-अग्राधिकार—श्रुत के अग्रपदों का वर्णन करता है।
११. मग्गे-मार्गाधिकार—मोक्ष और स्वर्ग के स्वरूप तथा कारण का वर्णन करता है।
१२. समोवसरणं-समवसरणादिअधिकार—२४ तीर्थंकरों के समवशरण का वर्णन करता है।
१३. तिकालगंथहिदे-त्रिकाल ग्रन्थ का अधिकार—त्रिकाल गोचर अशेष परिग्रह के अशुभ रूप का वर्णन करता है।
१४. आदा-आत्माधिकार—जीव के स्वरूप का वर्णन करता है।
१५. तदित्थगाथा-तदित्थगाथाधिकार—वाद के मार्ग का प्ररूपण करता है।
१६. पुण्डरिका-पुण्डरीकाधिकार—स्त्रियों के स्वर्गादि स्थानों में स्वरूप का वर्णन करता है।
१७. किरियठाणेय-क्रियास्थानाधिकार—तेरह प्रकार की क्रियाओं के स्थानों का वर्णन करता है।
१८. आहारय परिणामे—आहारक परिणाम का अधिकार, सर्व धान्यों के रस और वीर्य के विपाक को तथा शरीर में व्याप्त सात धातुओं के स्वरूप का वर्णन करता है।
१९. पच्चक्खाण-प्रत्याख्यान का अधिकार—सर्वद्रव्य के विषय से सम्बन्ध रखने वाली निवृत्तियों का वर्णन करता है।
२०. अणगारगुणकित्ति-अनगारगुणकीर्तन का अधिकार—मुनियों के गुण का वर्णन करता है।
२१. सुदा-श्रुताधिकार—श्रुत के फल का वर्णन करता है।
२२. णालंदे-नालंदाधिकार—ज्योतिषियों के पटल का वर्णन करता है।
२३. सुद्दयडज्झाणाणि तेवीसं—सूत्रकृत अध्ययन से २३ संख्या वाले हैं। द्वितीय अंग में श्रुतवर्णन के अधिकार के अन्वर्थ संज्ञा वाले हैं।

चउवीस अरहंत-२४ तीर्थंकर—(१) वृषभदेवजी (२) अजितनाथजी (३) सम्भवनाथजी (४) अभिनन्दनजी (५) सुमतिनाथजी (६) पद्मप्रभुजी (७) सुपार्श्वनाथजी (८) चन्द्रप्रभुजी (९) पुष्पदन्तजी (१०) शीतलनाथजी (११) श्रेयांसनाथजी (१२) वासुपूज्यजी (१३) विमलनाथजी (१४) अनन्त-

नाथजी (१५) धर्मनाथजी (१६) शान्तिनाथजी (१७) कुन्थुनाथजी (१८) अरहनाथजी (१९) मल्लिनाथजी (२०) मुनिसुव्रतजी (२१) नमिनाथजी (२२) नेमिनाथजी (२३) पार्श्वनाथजी (२४) महावीरजी। इन २४ तीर्थंकर देवों की यथाकाल वंदनादि करना।

पणवीस भावना—अहिंसाव्रत की ५ भावनायें—(१) वाग्गुप्ति (२) मनोगुप्ति (३) ईर्यासमिति (४) आदाननिक्षेपण समिति (५) आलोकित-पान भोजन।

सत्यव्रत की ५ भावनायें—(१) क्रोधप्रत्याख्यान (त्याग) (२) लोभ-प्रत्याख्यान (३) भीरुत्वप्रत्याख्यान (४) हास्यप्रत्याख्यान (५) अनुवीचि भाषण (शास्त्र की आज्ञानुसार निर्दोष वचन बोलना)।

अचौर्यव्रत की ५ भावनायें—(१) शून्यागारवास—पर्वतों की गुफा, वृक्ष की कोटर आदि निर्जन स्थानों में रहना (२) विमोचितावास—दूसरों के द्वारा छोड़े गये स्थानों में निवास करना (३) परोपरोधाकरण—अपने स्थान पर ठहरे हुए दूसरे को नहीं रोकना (४) भैक्ष्यशुद्धि—शास्त्र के अनुसार भिक्षा की शुद्धि रखना (५) सद्धर्मीविसंवाद—सहधर्मियों के साथ यह मेरा है, यह तेरा है, ऐसा क्लेश नहीं करना।

ब्रह्मचर्यव्रत की पांच भावनायें—(१) स्त्रीरागकथा श्रवण का त्याग करना (२) तन्मनोहराङ्ग निरीक्षण त्याग (३) पूर्वरतानुस्मरण त्याग—अव्रत अवस्था में भोगे हुए विषयों के स्मरण का त्याग (४) वृष्येष्ट रस-त्याग—कामवर्धक गरिष्ठ रसों का त्याग करना (५) अपने शरीर के संस्कारों का त्याग करना।

परिग्रहत्याग व्रत की ५ भावनायें—स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियों के इष्ट, अनिष्ट आदि विषयों में क्रम से राग द्वेष का त्याग करना।

पणवीस किरिया—२५ क्रिया—(१) सम्यक्त्व क्रिया—सम्यक्त्व वर्धक क्रिया देव, शास्त्र, गुरुओं की भक्ति करना। (२) मिथ्यात्व क्रिया—कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र के पूजा-स्तवनादि रूप मिथ्यात्व की क्रिया करना। (३) प्रयोग क्रिया—हाथ-पैर आदि चलाने के भावरूप, इच्छारूप क्रिया। (४) समादान क्रिया—संयमी का असंयम के सम्मुख होना। (५) ईर्यापथ-क्रिया—संयम बढ़ाने के लिए साधु जो क्रिया करता है। (६) प्रादोषिकी-क्रिया—क्रोध के आवेश से द्वेषादिक रूप बुद्धि करना। (७) कायिकी-क्रिया—हाथ से मारना, मुख से गाली देना इत्यादि प्रवृत्ति का भाग। (८) अधिकरणिकी क्रिया—हिंसा के साधनभूत, बन्दूक, छुरी इत्यादि

लेना, देना, रखना। (९) परिताप क्रिया—दूसरे को दुःख देने में लगना। (१०) प्राणातिपात क्रिया—दूसरे के शरीर, इन्द्रिय या श्वासोच्छ्वास नष्ट करना। (११) दर्शन क्रिया—रागादि भाव से सौन्दर्य देखने की इच्छा। (१२) स्पर्शन क्रिया—रागादि भाव से किसी चीज के स्पर्शन करने की इच्छा। (१३) प्रात्ययिकी क्रिया—विषयों की नवीन-नवीन सामग्री एकत्रित करना। (१४) समन्तानुपात क्रिया—स्त्री, पुरुष तथा पशुओं के उठने, बैठने के स्थान को मलमूत्र से खराब करना। (१५) अनाभोग क्रिया—बिना देखे या बिना शोधी जमीन पर उठना, सोना या कुछ धरना। (१६) स्वहस्त क्रिया—जो काम दूसरे के योग्य हो उसे स्वयं करना। (१७) निसर्ग क्रिया—पाप को बढ़ाने वाली क्रिया करना। (१८) विदारण क्रिया—दूसरे के दोष प्रकट करना। (१९) आज्ञाव्यापादिनी क्रिया—शास्त्र की आज्ञा स्वयं पालन न करना और उसके विपरीत अर्थ करना तथा विपरीत आदेश देना। (२०) अनाकांक्षा क्रिया—आलस्य के वशीभूत हो शास्त्रों में कही गई आज्ञाओं के प्रति आदर या प्रेम न करना। (२१) आरम्भ क्रिया—आरम्भ जनक क्रिया स्वयं करना या करते हुए को देख हर्षित होना। (२२) परिग्रह क्रिया—परिग्रह का कुछ भी नाश न हो, ऐसे उपायों में लगे रहना। (२३) माया क्रिया—मायाचार से ज्ञानादि गुणों को छिपाना। (२४) मिथ्यादर्शन क्रिया—मिथ्यादृष्टियों की तथा मिथ्यात्त्व से परिपूर्ण कार्यों की प्रशंसा करना। (२५) अप्रत्याख्यान क्रिया—त्याग करने योग्य हो उसका त्याग न करना।

छब्बीस पृथ्वियाँ—(१) रुचिरा नाम की एक पृथ्वी है। वह भरत और ऐरावत के अवसर्पिणी काल में (२) शुद्धा-नाम की पृथ्वी कही जाती है और वही उत्सर्पिणी काल में (३) खरा-नाम से कही जाती है। रत्नप्रभा भूमि के खर भाग में पिण्ड रूप से एक दो हजार योजन के परिणाम वाली निम्नलिखित सोलह भूमियें हैं। (४) चित्रा पृथ्वी (५) वज्र पृथ्वी (६) वैडूर्य पृथ्वी (७) लोहितांक पृथ्वी (८) मसारगंध पृथ्वी (९) गोमेध पृथ्वी (१०) प्रवाल पृथ्वी (११) ज्योति पृथ्वी (१२) रसांजन पृथ्वी (१३) अंजन-मूल पृथ्वी (१४) अंक पृथ्वी (१५) स्फटिक पृथ्वी (१६) चंदन पृथ्वी (१७) वर्चक पृथ्वी (१८) बकुल पृथ्वी (१९) शिलामय पृथ्वी (२०) पंक भाग में ८४ हजार योजन के परिमाण वाली पृथ्वी तथा इसी भूमि के अब्बहुल भाग में ८० हजार योजन परिमाण वाली 'रत्नप्रभा' नाम की नरक की पृथ्वी है और आकाश के नीचे ६ नरकों की भूमियें हैं कुल मिलाकर २६ पृथ्वियाँ हैं।

सत्ताईस अणगारगुण—२७ प्रकार के अनगार के गुण—१२ भिक्षु की प्रतिमा (ये उत्तम संहनन वाले मुनियों के होती हैं) ८ प्रवचन माता (५ समिति तथा ३ गुप्तियों के पालन में) क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह, राग और द्वेष के अभाव रूप प्रवृत्ति।

अट्ठावीस आचार कल्प—२८ प्रकार के आचार कल्प अर्थात् मुनि के मूलगुण, ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इंद्रिय निरोध, ६ आवश्यक, ७ विशेष-गुण (नग्नत्व, अस्नान, भूमि शयन, अदंतधावन, खड़े होकर आहार लेना, एकभुक्त, केशलोंच)।

उनतीस पापसूत्र प्रसंग—अठारह पुराण, षडंग वाली लौकिक विद्यायें और बौद्ध आदि पाँच प्रकार के सिद्धांत (१८+६+५=२९)।

तीस मोहनीय स्थान—क्षेत्र वास्तु आदि बहिरंग परिग्रह से सम्बन्ध रखने वाला (क्षेत्र, वास्तु, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद, धन, धान्य, कुप्य, भांड) १० प्रकार का मोह, अंतरंग मिथ्यात्वादि से (मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया लोभ, वेद ३ (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद), राग, द्वेष, मोह रखने के भाव रूप १४ भेद तथा पाँच इन्द्रिय और छठे मन से मोह जनित सम्बन्ध रखने के कारण (१०+१४+६)।

इकत्तीस कर्मविपाक—ज्ञानावरणीय के ५, दर्शनावरणीय के ९, वेद-नीय के २, मोहनीय के २, आयु के ४, नाम के २ [शुभ और अशुभ], गोत्र के २, अंतराय के ५।

बत्तीस जिनोपदेश—छह आवश्यक (समता, वंदना, स्तुति, प्रति-क्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग)। बारह अंग—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्त्यंग, ज्ञातृकथांग, उपासकाध्ययनांग, अंतकृद्दशांग, अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरणांग, विपाकसूत्रांग, दृष्टिवादांग।

चौदह पूर्व—(१) उत्पाद पूर्व (२) आग्रायणीय पूर्व (३) वीर्यानुवाद (४) अस्ति-नास्ति प्रवाद (५) ज्ञानप्रवाद (६) सत्यप्रवाद (७) आत्मप्रवाद (८) कर्मप्रवाद (९) प्रत्याख्यान पूर्व (१०) विद्यानुवाद (११) कल्याणवाद (१२) प्राणानुवाद (१३) क्रियाविशाल (१४) लोकबिंदुसार।

तेतीस आसादना—५ प्रकार के अस्तिकाय—(१) जीवास्तिकाय (२) अजीवास्तिकाय (३) धर्मास्तिकाय (४) अधर्मास्तिकाय (५) आकाशास्ति-काय। छह प्रकार के जीवों के निकाय—(१) पृथ्वीकाय (२) जलकाय

(३) अग्निकाय (४) वायुकाय (५) वनस्पतिकाय (६) त्रसकाय। पाँच महाव्रत—(१) अहिंसा महाव्रत (२) सत्य महाव्रत (३) अचौर्य महाव्रत (४) ब्रह्मचर्य महाव्रत (५) परिग्रहत्याग महाव्रत। ८ प्रवचन माता—(१) ईर्या समिति (२) भाषा समिति (३) एषणा समिति (४) आदान-निक्षेपण समिति (५) व्युत्सर्ग समिति। ३ गुप्ति—(१) मनो गुप्ति (२) वचन गुप्ति (३) काय गुप्ति। अर्थात् (५ समिति + ३ गुप्ति = ८ प्रवचन माता) और नौ पदार्थ—(१) जीव (२) अजीव (३) आस्रव (४) बंध (५) संवर (६) निर्जरा (७) मोक्ष (८) पुण्य (९) पाप। इनसे (सभी से) संबंधी अनादर की भावना (५+६+५+८+९) सब मिलाकर तेतीस आसादना होती हैं।

ध्यायन्तं परमात्मानं मेरुवन्निश्चलाशयम्।
गुणैरित्यादिभिः पूतमन्यैश्चापि विराजितम् ॥ ८७ ॥

स्वचित्ते चिन्तयामास तदा बालो दयापरः।
एतेन तीव्रशीतेन तरवोऽपि महीतले ॥ ८८ ॥
केचिच्च प्रलयं यान्ति कथं स्वामी च तिष्ठति।
दिगम्बरो गुणाधारो वीतरागोऽतिनिस्पृहः ॥ ८९ ॥
अस्मादृशाः सवस्त्राद्याः कम्पन्ते शीतवातकैः।
दन्तेषु संकटं प्राप्ताः पशवोऽपि सुदुःखिताः ॥ ९० ॥

इत्येवं चिन्तयन् गत्वा गृहं गोपो दयार्द्रधीः।
काष्ठादिकं समानीय वह्निं प्रज्वाल्य सादरम् ॥ ९१ ॥
समन्तान्मुनिनाथस्य नातिदूरं न दुःसहम्।
उष्णीकृत्य निजौ पाणी तन्मुनेः पाणिपादयोः ॥ ९२ ॥
पार्श्वे परिभ्रमन्नुच्चैर्भक्तिभावभरान्वितः।
शरीरे मर्दनं कृत्वा स्वास्थ्यं चक्रे प्रमोदतः ॥ ९३ ॥

एवं रात्रौ महाप्रीत्या सेवां कुर्वन् सुधीः स्थितः।
सत्यमासन्नभव्यानां गुरुभक्तौ रतिर्भवेत् ॥ ९४ ॥

मुनीन्द्रोऽपि सुखं रात्रौ ध्यानं कृत्वा सुनिस्पृहः।
सूर्योदये दयासिन्धुर्योगं संहृत्य मानसे ॥ ९५ ॥
अयमासन्नभव्योऽस्ति मत्वेति प्रमदप्रदम्।
सप्ताक्षरं महामन्त्रं दत्त्वा तस्मै जगाद सः ॥ ९६ ॥

वे परमात्मा का ध्यान कर रहे थे। उनके भाव मेरु के समान स्थिर थे। वे अन्य गुणों इत्यादि से पवित्र थे और सुशोभित थे॥ ८७॥

तब दयापरायण बालक ने अपने मन में विचार किया। इस तीव्र शीत से पृथ्वीतल पर कोई-कोई वृक्ष भी नाश को प्राप्त हो जाते हैं। गुणों के आधार, दिगम्बर, वीतराग, अति निस्पृह स्वामी कैसे ठहरते हैं?॥ ८८-८९॥

वस्त्रादि से युक्त हम जैसे लोग शीतल वायु से दाँतों में संकट पाए हुए कम्पित होते हैं। पशु भी दुःखी होते हैं॥ ९०॥

इस प्रकार विचार करते हुए दया से आर्द्र बुद्धि वाला ग्वाला घर जाकर काष्ठादिक लाकर आदरपूर्वक मुनिनाथ के चारों ओर समीप में दुःसह अग्नि जलाकर उन मुनि के हाथ-पैरों में अपने दोनों हाथ गरम-गरम कर अत्यधिक भक्तिभाव से युक्त होकर समीप में भ्रमण करता हुआ, शरीर में मर्दन करके, आनन्दपूर्वक स्वास्थ्य किया॥ ९१-९२-९३॥

इस प्रकार महाप्रीति से रात्रि में सेवा करता हुआ बुद्धिमान् ठहरा। सच है, आसन्न भव्यों की गुरु भक्ति में रति होती है॥ ९४॥

दयासिन्धु सुनिस्पृह मुनीन्द्र भी सुखपूर्वक रात्रि में ध्यानकर सूर्योदय होने पर मन में योग निरोधकर, यह आसन्न भव्य है, ऐसा मानकर प्रमद-प्रद सात अक्षरों का महामन्त्र देकर वे उससे बोले॥ ९५-९६॥

अनेन मन्त्रराजेन भो सुधीः शृणु निश्चितम् ।
सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि यान्ति कष्टानि संक्षयम् ॥ ९७ ॥
सर्वे विद्याधरा देवाश्चक्रवर्त्यादयो भुवि ।
इमं मन्त्रं समाराध्य प्रापुः स्वर्गापवर्गकम् ॥ ९८ ॥
त्वया सर्वत्र कार्येषु गमनागमनेषु वा ।
भोजनादौ सुखे दुःखे समाराध्यो हि मन्त्रराट् ॥ ९९ ॥

णमो अरहंताणं

इत्युक्त्वा च मुनिः स्वामी तस्मै परमपावनः ।
स्वयं तमेव सन्मन्त्रं गदित्वागान्नभोऽङ्गणे ॥ १०० ॥
तन्मन्त्रेण मुनेर्वीक्ष्य नभोगमनमुत्तमम् ।
मन्त्रे श्रद्धा तरां तस्य तदाभूद् धर्मदायिनी ॥ १०१ ॥

अथ गोपालकः सोऽपि निधानं वा जगद्धितम् ।
मन्त्रं तं प्राप्य तुष्टात्मा संपठन् परमादरात् ॥ १०२ ॥
भोजने शयने पाने यानेऽरण्ये घने वने ।
पशूनां रक्षणे प्रीत्या बन्धने मोचनेऽपि च ॥ १०३ ॥
अन्यत्र सर्वकार्येषु पठत्युच्चैः प्रमोदतः ।
धेनूनां दोहने काले मन्त्रमुच्चारयंस्तथा ॥ १०४ ॥

श्रेष्ठिना तेन संपृष्टो गोपो भो ब्रूहि केन च ।
मन्त्रोऽयं प्रवरस्तुभ्यं दत्तः शर्मशतप्रदः ॥ १०५ ॥
सुभगस्तं प्रणम्याशु तत्प्राप्तेः कारणं जगौ ।
तन्निशम्य सुधीः श्रेष्ठी तं प्रशंसितवान् भृशम् ॥ १०६ ॥
धन्यस्त्वं पुत्र पुण्यात्मा त्वमेव गुणसागरः ।
यत्त्वया स मुनिर्दृष्टः प्राप्तो मन्त्रो जगद्धितः ॥ १०७ ॥
उद्धृतोऽयं त्वया जीवः स्वकीयो भवसागरात् ।
त्वमेव प्रवरो लोके त्वमेव शुभसंचयः ॥ १०८ ॥
उद्वर्तितो यथादर्शो भवत्येव सुनिर्मलः ।
तथा सन्मन्त्रयोगेन जीवो निर्मलतां व्रजेत् ॥ १०९ ॥
इति प्रशस्य तं श्रेष्ठी सम्यग्दृष्टिः सुधार्मिकः ।
वस्त्रभोजनसद्वाक्यैस्तोषयामास गोपकम् ॥ ११० ॥

हे बुद्धिमान् सुनो ! इस मन्त्रराज के निश्चित रूप से समस्त कार्य सिद्ध हो जाते हैं और कष्ट क्षय हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

पृथ्वी पर समस्त विद्याधर और चक्रवर्ती आदि ने भी इस मन्त्र की आराधना कर स्वर्ग और मोक्ष पाया ॥ ९८ ॥

तुम्हें भी सब जगह, कार्यों में अथवा गमनागमनों में सुख-दुःख में, भोजनादि में मन्त्रराज की आराधना करना चाहिए ॥ ९९ ॥

णमो अरहंताणं

ऐसा कहकर, परम पावन स्वामी मुनि स्वयं उसी सन्मन्त्र को कहकर आकाश रूपी आँगन में चले गए ॥ १०० ॥

उस मन्त्र से मुनि के उत्तम नभोगमन को देखकर उसकी तब उस मन्त्र में धर्मदायिनी श्रद्धा हो गई ॥ १०१ ॥

वह ग्वाला भी संसार के हितकारी अथवा निदानस्वरूप उस मन्त्र को पाकर परम आदर से सन्तुष्ट आत्मा वाला होकर, भोजन, शयन, पान, यान, अरण्य, घने वन, पशुओं के प्रीतिपूर्वक रक्षण, बन्धन और मोचन में अन्यत्र समस्त कार्यों में प्रमोदपूर्वक अत्यधिक रूप से पढ़ता हुआ, गायों के दोहन काल में मन्त्र का उच्चारण करता था ॥ १०२–१०४ ॥

उससे सेठ ने पूछा—हे ग्वाले ! कहो, यह प्रवर मन्त्र, जो कि सैकड़ों सुखों को देनेवाला है, उसे तुम्हें किसने दिया ॥ १०५ ॥

सुभगने उसे शीघ्र ही प्रणाम कर उस मन्त्र की प्राप्ति का कारण कहा। उसे सुनकर बुद्धिमान् सेठ ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा की ॥१०६॥

हे पुण्यात्मा पुत्र तुम धन्य हो। तुम्हीं गुणों के सागर हो, जो कि तुमने उन मुनि के दर्शन किए और संसार के हितकारी मन्त्र को पाया ॥ १०७ ॥

तुमने अपने जीव को भवसागर से निकाल लिया। तुम्हीं लोक में प्रवर हो, तुम्हीं शुभसंचय हो ॥ १०८ ॥

जिस प्रकार पालिश किया हुआ दर्पण सुनिर्मल होता है, उसी प्रकार अच्छे मन्त्र के योग से जीव निर्मलता को प्राप्त हो जाता है ॥ १०९ ॥

इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, सुधार्मिक सेठ ने उसकी प्रशंसा कर ग्वाले को वस्त्र, भोजन तथा उत्तम वाक्यों से सन्तुष्ट किया ॥ ११० ॥

तदाप्रभृति पूतात्मा विशेषेण स्वपुत्रवत् ।
नित्यं पालयति स्मोच्चैर्धर्मी धर्मिणि वत्सलः ॥ १११ ॥
अथैकदागतोऽटव्यां गोमहिष्यादिवृन्दकम् ।
स लात्वा चारयंस्तत्र गङ्गातीरे मनोहरे ॥ ११२ ॥
अर्हतां प्रजपन्नाम शर्मधाम जगद्धितम् ।
सावधानस्तरोर्मूले पवित्रे परमार्थतः ॥ ११३ ॥

स्थितो यावत्सुखं तावदन्यो गोपः समागतः ।
तं जगादात्र भो मित्र महिष्यस्ते परं तटम् ॥ ११४ ॥
यान्ति शीघ्रं समागत्य ताः समानय साम्प्रतम् ।
श्रुत्वेति वचनं तस्य शुभगोऽपि प्रवेगतः ॥ ११५ ॥
गङ्गातटं सुधीर्गत्वा महासाहससंयुतः ।
मन्त्रं तमेव भव्यात्मा समुच्चार्य मनोहरम् ॥ ११६ ॥
ददौ झम्पां जले तत्र तीक्ष्णकाष्ठं दुराशयैः ।
मत्स्यबन्धिभिरारब्धं कष्टदं वर्तते पुरा ॥ ११७ ॥

तस्योपरि पपाताशु स भिन्नो जठरे तदा ।
काष्ठेन तीक्ष्णभावेन दुर्जनेनेव पापिना ॥ ११८ ॥

तत्र मन्त्रं स्मरन्नुच्चैर्निदानं मानसेऽकरोत् ।
श्रेष्ठिनोऽस्य सुपुण्यस्य मन्त्रराजप्रसादतः ॥ ११९ ॥
पुत्रो भवाम्यहं चेति दशप्राणैः परिच्युतः ।
जातो वृषभदासस्य जिनमत्याः शुभोदरे ॥ १२० ॥
त्वं सुदर्शननामासौ सुपुत्रः कुलदीपकः ।
चरमाङ्गधरो धीरो जैनधर्मधुरंधरः ॥ १२१ ॥

दाता भोक्ता विचारज्ञः श्रावकाचारतत्परः ।
परमेष्ठिमहामन्त्रप्रभावात् किं न जायते ॥ १२२ ॥
शत्रुर्मित्रायते येन सर्पो दामयते तराम् ।
सुधायते विषं शीघ्रं समुद्रः स्थलतायते ॥ १२३ ॥
वह्निर्जलायते येन मन्त्रराजेन भूतले ।
किं वर्ण्यते प्रभावोऽस्य स्वर्गो मोक्षश्च संभवेत् ॥ १२४ ॥
स प्रत्यक्षं त्वया दृष्टः प्रभावः परमेष्ठिनाम् ।
महामन्त्रस्य भो भव्य भुवनत्रयगोचरः ॥ १२५ ॥

तब से लेकर पवित्रात्मा, धर्मवत्सल वह विशेष रूप से अपने पुत्र के समान उसका पालन करने लगा ॥ १११ ॥

एक बार आकर वह वन में मनोहर गंगातीर पर गाय, भैंस आदि के समूह को लाकर चरा रहा था ॥ ११२ ॥

तब वह सावधान होकर पवित्र वृक्ष के मूल में सुख के धाम, संसार के हितकारी अर्हन्त का नाम जपने लगा ॥ ११३ ॥

जब वह सुखपूर्वक स्थित था, तब अन्य ग्वाला आया। उससे बोला—हे मित्र ! तुम्हारी भैंसें दूसरे किनारे पर जा रही हैं, शीघ्र आकर इस समय उन्हें ले आओ। उसके इस प्रकार वचन को सुनकर महासाहस से युक्त सुधी-भव्यात्मा सुभग भी गंगातट पर जाकर मनोहर उसी मन्त्र का भलीभाँति उच्चारण कर वहाँ पर जल में छलांग लगाई। वहाँ पर खोटे आशय वाले मछुवारों के द्वारा सामने लगाई हुई कष्टदायक तीक्ष्ण काष्ठ थी ॥ ११४-११५-११६-११७ ॥

पापी दुर्जन के समान तीक्ष्ण होने के कारण उसके ऊपर वह शीघ्र गिरा और तब उसका पेट विदीर्ण हो गया ॥ ११८ ॥

वहाँ पर अत्यधिक रूप से मन्त्र का स्मरण करते हुए मन में निदान किया। मन्त्रराज की कृपा से मैं इस पुण्यात्मा सेठ के पुत्र होऊँ। दस प्राणों से रहित होकर वृषभदास सेठ के जिनमती के शुभ उदर में तुम सुदर्शन नामक कुल दीपक सुपुत्र हुए हो। जैनधर्म की धुरा को धारण करने वाले धीर तुम चरमशरीरी हो ॥ ११९-१२०-१२१ ॥

तुम दाता हो, भोक्ता हो, विचारज्ञ हो और श्रावकाचार में तत्पर हो। परमेष्ठि के महामन्त्र के प्रभाव से क्या नहीं होता है ॥ १२२ ॥

जिससे शत्रु मित्र जैसा आचरण करने लगता है, साँप माला हो जाता है, विष शीघ्र अमृत के समान हो जाता है, समुद्र स्थल के समान आचरण करता है ॥ १२३ ॥

जिस मन्त्रराज से पृथ्वी पर अग्नि जल के समान आचरण करती है। इसके प्रभाव का क्या वर्णन किया जाय। स्वर्ग और मोक्ष भी सम्भव है ॥ १२४ ॥

हे भव्य ! परमेष्ठी के महामन्त्र का प्रभाव भुवनत्रयगोचर है, उसे तुमने प्रत्यक्ष देखा है ॥ १२५ ॥

पूर्वं या भिल्लराजस्य कुरङ्गी नाम ते प्रिया।
सा हित्वा स्वतनुं पापात् काशीदेशे स्वकर्मणा ॥ १२६ ॥
वाराणसीपुरे जाता महिषी तृणभक्षिका।
सा पश्वी च ततो मृत्वा श्यामलाख्यस्य कस्यचित् ॥ १२७ ॥
रजकस्य यशोमत्या गर्भे पुत्री च वत्सिनी।
जाता तत्रार्यिकासङ्गं समासाद्य स्वशक्तितः ॥ १२८ ॥
किंचित्पुण्यं तथोपार्ज्य संजातेयं मनोरमा।
रूपलावण्यसंयुक्ता प्रीता ते प्राणवल्लभा ॥ १२९ ॥

सतीमतल्लिका नित्यं दानपूजाव्रतोद्यता।
जैनधर्मं समाराध्य जन्तुः पूज्यतमो भवेत् ॥ १३० ॥
इत्यादि भवसंबन्धं गुरोर्विमलवाहनात्।
श्रुत्वा सुदर्शनः श्रेष्ठी संतुष्टो मानसे तराम् ॥ १३१ ॥
स जयतु जिनदेवो देवदेवेन्द्रवन्द्यो
भवजलनिधिपोतो यस्य धर्मप्रसादात्।
कुगतिगमनमुक्तः प्राणिवर्गो विशुद्धो
भवति सुगतिसङ्गो निर्मलो भव्यमुख्यः ॥ १३२ ॥

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षु-श्रीविद्यानन्दिविरचिते सुदर्शन-मनोरमा-भवावली-वर्णनो नामाष्टमोऽधिकारः।

पहले जो सिंहलपुर की कुरंगी नामक तुम्हारी शिष्य थी वह अपने शरीर को छोड़कर, पाप रूप अपने कर्म से काशी देश में वाराणसी नगरी में तृण का भक्षण करने वाली भैंस हुई। अनन्तर वह पशु से मरकर श्यामल नामवाले किसी धोबी की यशोमती नामक स्त्री के गर्भ से वत्सिनी नामक पुत्री हुई। वहाँ पर अपनी शक्ति से आर्यिका के संग से कुछ पुण्योपार्जन कर यह रूप लावण्य से युक्त तुम्हारी प्रिय प्राणवल्लभा मनोरमा हुई॥ १२६-१२७-१२८-१२९॥

वह सर्वोत्कृष्ट सती नित्य दान, पूजा और व्रत में उद्यत रहती है। जैनधर्म की आराधना कर जन्तु पूज्यतम होता है॥ १३०॥

गुरु विमलवाहन से इत्यादि भव्य सम्बन्ध सुनकर सेठ सुदर्शन मन में अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ॥ १३१॥

जिससे धर्म की कृपा से विशुद्ध प्राणिवर्ग कुगति के गमन से मुक्त हो जाता है, सुगति का संग हो जाता है, निर्मल और भव्यमुख्य हो जाता है, देवदेवेन्द्र से वन्दनीय, संसाररूपी समुद्र के जहाज वह जिनदेव जयशील हों॥ १३२॥

इस प्रकार पञ्चनमस्कार माहात्म्य प्रदर्शक, मुमुक्षु श्री विद्यानन्दि-
विरचित सुदर्शनचरित में सुदर्शनमनोरमा भवावली
वर्णन नामक अष्टम अधिकार समाप्त हुआ।

●

नवमोऽधिकारः

अथ श्रेष्ठी विशिष्टात्मा श्रुत्वा स्वभवविस्तरम् ।
वैराग्यं सुतरां प्राप्यानुप्रेक्षाचिन्तनोद्यतः ॥ १ ॥

संसारे भङ्गुरं सर्वं धनं धान्यादिकं किल ।
संपदा सर्वदा सर्वा चञ्चला चपला यथा ॥ २ ॥

पुत्रमित्रकलत्रादिबान्धवाः सज्जना जनाः ।
सर्वेऽपि विषयाः कष्टं क्षयं यान्ति क्षणार्धतः ॥ ३ ॥

रूपसौभाग्यसौन्दर्ययौवनं वा करे वनम् ।
हस्त्यश्वरथभृत्यौघो मेघनद्यौघवच्चलः ॥ ४ ॥

शक्रचापसमा लक्ष्मीर्जायते पुण्ययोगतः ।
तत्क्षये सा क्षयं याति न केनापि स्थिरा भवेत् ॥ ५ ॥

चक्रित्वं वासुदेवत्वं शक्रत्वं धरणेन्द्रता ।
अशाश्वतमिदं सर्वं का कथा चाल्पजन्तुषु ॥ ६ ॥

सर्वदा पोषितः कायः सर्वो मायामयो यथा ।
शरन्मेघः प्रयात्याशु वायुना स्वायुषः क्षये ॥ ७ ॥

भोगोपभोगवस्तूनि विनाशीनि समन्ततः ।
गेहस्वर्णविभूतिर्या कालवह्नेर्विभूतिवत् ॥ ८ ॥

अन्येऽपि ये पदार्थास्ते दृष्टनष्टाः क्षणार्धतः ।
अतोऽत्र चिन्तयेद्धीमान्निर्ममत्वं स्वसिद्धये ॥ ९ ॥

इत्यध्रुवानुप्रेक्षा

भवेऽस्मिन् सर्वजन्तूनां शरणं नास्ति किञ्चन ।
माता पिता स्वसा भ्राता मित्रं वा मरणक्षणे ॥ १० ॥

स्वर्गो दुर्गः सुरा भृत्या वज्रमायुधमुत्कटम् ।
ऐरावणो गजो यस्य सोऽपि कालेन नीयते ॥ ११ ॥

निधयो नव रत्नानि चतुर्दश षडङ्गकम् ।
सैन्यं सबान्धवं सर्वं चक्रिणः शरणं न हि ॥ १२ ॥

नवमोऽधिकारः

अनन्तर विशिष्टात्मा सेठ अपने भवों का विस्तृत वर्णन सुनकर तत्क्षण वैराग्य प्राप्त कर अनुप्रेक्षाओं का विचार करने के लिए उद्यम हो गया ॥ १ ॥

निश्चित रूप संसार में धन-धान्यादिक सब नष्ट होने वाला है। बिजली के समान समस्त सम्प्रदायें चंचल हैं ॥ २ ॥

कष्ट है, पुत्र, मित्र, स्त्री आदि सज्जन बन्धुओं का समूह तथा समस्त विषय आधे ही क्षण में विनष्ट हो जाते हैं ॥ ३ ॥

हाथ में आया हुआ रूप, सौभाग्य, सौन्दर्य, यौवन अथवा धन, हाथी, घोड़ा, रथ, सेवकों का समूह (सब) मेघ और नदी के पूर के समान चंचल है ॥ ४ ॥

इन्द्रधनुष के समान लक्ष्मी पुण्ययोग से उत्पन्न होती है। उस पुण्य के क्षय हो जाने पर वह लक्ष्मी विनष्ट हो जाती है, किसी के द्वारा भी स्थिर नहीं होती है ॥ ५ ॥

चक्रीपना, वासुदेवपना, शक्रपना, धरणेन्द्र ये सब शाश्वत नहीं हैं, क्षुद्र जन्तुओं की तो बात ही क्या है ? ॥ ६ ॥

मायामय शरत्कालीन मेघ जिस प्रकार वायु के द्वारा विनष्ट हो जाता है, उसी प्रकार अपनी आयु का क्षय होने पर सर्वदा पोषित काय नष्ट हो जाती है ॥ ७ ॥

जो घर स्वर्ण आदि भोगोपभोग की वस्तुयें हैं, वे कालाग्नि की राख के समान सब ओर से नाश होने वाली हैं ॥ ८ ॥

अन्य भी जो पदार्थ हैं, वे आधे क्षण में ही देखते देखते नष्ट हो जाते हैं। अतः अपनी सिद्धि के लिए बुद्धिमान् को निर्ममत्व का चिन्तन करना चाहिए ॥ ९ ॥

इति अध्रुव अनुप्रेक्षा

इस संसार में समस्त प्राणियों का मरण के क्षण माता, पिता, बहिन, भाई अथवा मित्र कुछ भी शरण नहीं है ॥ १० ॥

स्वर्ग जिसका दुर्ग है, देव सेवक हैं, उत्कट शस्त्र वज्र है, जिसका हाथी ऐरावत है, वह भी काल के द्वारा ले जाया जाता है ॥ ११ ॥

नव निधियाँ, चौदह रत्न, छः अंगवाली सेना तथा बन्धु बान्धव (ये सब) चक्रवर्ती के शरण नहीं हैं ॥ १२ ॥

जन्ममृत्युजरापायं रत्नत्रयमनुत्तरम् ।
शरण्यं भव्यजीवानां संसारे नापरं क्वचित् ॥ १३ ॥

इत्यशरणानुप्रेक्षा ।

पञ्चप्रकारसंसारे द्रव्ये क्षेत्रे च कालके ।
भवे भावे चतुर्भेदगतिगतिसमन्विते ॥ १४ ॥
अनादिकालसंलग्नकर्मभिः रांकशीकृतः ।
जीवो नित्यं भ्रमत्यत्र लोहो वा चुम्बकेन च ॥ १५ ॥

छेदनं भेदनं कष्टं शूलाद्यारोहणं चिरम् ।
मिथ्याकथाऽहिंसाद्यैर्नारका नरकेषु च ॥ १६ ॥
भुञ्जन्ते क्षुत्पिपासाद्यैर्दुःखं तु पशवः खरम् ।
मायापापादिदोषेण ताडनं तारनं घनम् ॥ १७ ॥

मनुष्येषु च दुःखौघो जायते पापकर्मणः ।
इष्टमित्रवियोगेनानिष्टसंयोगतस्तथा ॥ १८ ॥
पापेन दुःखदारिद्र्यजन्ममृत्युजरादिजम् ।
पराधीनतया नित्यं दुःखं संजायते नृणाम् ॥ १९ ॥
देवानां च भवेद्दुःखं मानसं परसंपदाम् ।
समालोक्य तथान्ते प्राप्ते मिथ्यादृशान्तरम् ॥ २० ॥
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मविहीना बहवो जनाः ।
एवं संसारकान्तारे दुःखभारे भ्रमन्त्यहो ॥ २१ ॥

उक्तं च—

एकेन पुद्गलद्रव्यं यत्तत्सर्वमनेकधा ।
उपभुज्य परित्यक्तमात्मना द्रव्यसंसृतौ ॥ २२ ॥
लोकत्रयप्रदेशेषु समस्तेषु निरन्तरम् ।
भूयो भूयो मृतं जातं जीवेन क्षेत्रसंसृतौ ॥ २३ ॥
उत्सर्पिण्यवसर्पिण्योः समयावलिकान्तराः ।
यासु मृत्वा न संजातमात्मना कालसंसृतौ ॥ २४ ॥
नरनारकतिर्यक्षु देवेष्वपि समन्ततः ।
मृत्वा जीवेन संजातं बहुशो भवसंसृतौ ॥ २५ ॥
असंख्येयजगन्मात्रा भावाः सर्वे निरन्तरम् ।
जीवेनावाप्य मुक्ताश्च बहुशो भवसंसृतौ ॥ २६ ॥

इति संसारानुप्रेक्षा ।

संसार में जन्म, मृत्यु, जरा का सर्वनाश करने वाला अनुत्तर रत्नत्रय भव्य जीवों के शरण योग्य है। अन्य कुछ नहीं ॥ १३ ॥

इति अशरण अनुप्रेक्षा

चार प्रकार की गतियों रूप गड्ढे से युक्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पाँच प्रकार के संसार में अनादिकाल से लगे हुए कर्मों के द्वारा वश में किया हुआ जीव चुम्बक के द्वारा आकर्षित लोहे के समान भ्रमण करता है ॥ १४-१५ ॥

नारकी जीव नरकों में मिथ्यात्व, कषाय और हिंसादि के कारण छेदन, भेदन, शूली आदि पर चढ़ाना आदि कष्ट बहुत समय तक भोगते हैं। माया पापादि के दोष से वे पशु धर्में ताड़न, तापन आदि के तीक्ष्ण दुःखों को भोगते हैं ॥ १६-१७ ॥

पाप कर्म से मनुष्यों में इष्टमित्र का वियोग तथा अनिष्ट का संयोग होता है॥ १८ ॥

पाप के कारण पराधीनता से नित्य दरिद्रता, जन्म, मृत्यु तथा जरा आदि से उत्पन्न दुःख मनुष्यों के नित्य होता है ॥ १९ ॥

अन्त में मिथ्यात्व प्राप्त होने पर देवों के दूसरों की सम्पदा को देखकर मानसिक दुःख होता है ॥ २० ॥

श्रीमज्जिनेन्द्र के सद्धर्म से विहीन बहुत से लोग इस प्रकार दुःख के भार स्वरूप संसार रूपी वन में भ्रमण करते हैं ॥ २१ ॥

कहा भी है—

द्रव्य संसार में एक ही पुद्गल द्रव्य को सबने अनेक बार स्वयं उपयोग कर छोड़ दिया ॥ २२ ॥

क्षेत्र संसार में तीनों लोकों के समस्त प्रदेशों में जीव पुनः-पुनः मृत्यु को प्राप्त हुआ ॥ २३ ॥

कालसंसार में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी की वह कोई समयावली नहीं है, जिनमें मरकर स्वयं उत्पन्न नहीं हुआ ॥ २४ ॥

भव संसार में नर, नारक, तिर्यञ्च और देवों में चारों ओर से मरकर जीव उत्पन्न हुआ ॥ २५ ॥

भावसंसार में अनेक बार जीव ने निरन्तर अनेक बार असंख्येय जगन्मात्र भाव ग्रहण कर छोड़ दिए ॥ २६ ॥

इति संसारानुप्रेक्षा

एकः प्राणी करोत्यत्र नानाकर्म शुभाशुभम् ।
पुत्रमित्रकलत्रादेः कारणं संप्रतारणम् ॥ २७ ॥
तत्फलं सर्वमेकाकी भुनक्ति भवसंकटे ।
श्वभ्रे वा पशुयोनौ वा नरे वात्र सुरालये ॥ २८ ॥
अतो जीवो ममत्वं च प्रकुर्वन्मूढमानसः ।
कुटुम्बादौ न जानाति स्वात्मनस्तु हिताहितम् ॥ २९ ॥

एको भव्यो विनीतात्मा जिनभक्तिपरायणः ।
गुरोः पादाम्बुजं नत्वा दीक्षामादाय निस्पृहः ॥ ३० ॥
रत्नत्रयं समाराध्य तपस्तप्त्वा सुनिर्मलम् ।
शुक्लध्यानेन कर्मारीन् हत्वा याति शिवालयम् ॥ ३१ ॥

इत्येकत्वानुप्रेक्षा ।

जीवोऽयं निश्चयादन्यो देहतोऽपि निरन्तरम् ।
शरीरे मिलितश्चापि नीरक्षीरमिव ध्रुवम् ॥ ३२ ॥
का वार्ता भुवने पुत्रमित्रस्त्रीबान्धवादिषु ।
यत्सर्वे ते प्रवर्तन्ते बहिर्भूता विशेषतः ॥ ३३ ॥
यथा कनकपाषाणे सुवर्णं मिलितं सदा ।
तथापि स्वस्वरूपेण भिन्नमेवाधितिष्ठते ॥ ३४ ॥
जीवोऽपि सर्वदा तद्वच्छरीरतो ज्ञानदृष्टिभाक् ।
शरीरे वर्तते नित्यं स्वस्वरूपो गुणाकरः ॥ ३५ ॥

इत्यन्यत्वानुप्रेक्षा ।

कायोऽयमशुचिर्नित्यं मांसास्थिरुधिरैर्मलैः ।
बीभत्सः कृमिसंघातः प्रक्षयी क्षणमात्रतः ॥ ३६ ॥
मत्वेति पण्डितैर्धीरैः श्रीजिनश्रुतसाधुषु ।
भक्तितः सुतपोयोगैर्व्रतैर्नानाविधैः शुभैः ॥ ३७ ॥
प्रमादं मदमुत्सृज्य सावधानैर्जिनोक्तिषु ।
सत्कुलं प्राप्य कायस्य फलं ग्राह्यं सुखार्थिभिः ॥ ३८ ॥

इत्यशुच्यनुप्रेक्षा ।

मिथ्यात्वव्रतप्रमादैश्च कषायैर्योगकैस्तथा ।
कर्मणामास्रवो जन्तोर्भवेन्नद्रोण्यां यथा जलम् ॥ ३९ ॥
सापि द्विधास्रवः प्रोक्तः शुभाशुभविकल्पतः ।
परिणामविशेषेण विज्ञेयो धीधनैर्जनैः ॥ ४० ॥

इत्यास्रवानुप्रेक्षा ।

पुत्र, मित्र, कलत्रादि के कारण यहाँ पर एक प्राणी नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्म करता है ॥ २७ ॥

भव संकट होने पर उस फल को नरक, पशुयोनि, मनुष्य अथवा स्वर्ग में अकेला भोगता है ॥ २८ ॥

अतः मूढ मन वाला जीव कुटम्ब आदि के प्रति अत्यधिक ममत्व करता हुआ अपने हित और अहित को नहीं जानता है ॥ २९ ॥

जिनभक्ति परायण एक निस्पृह विनीतात्मा भव्य गुरु के चरणकमल को नमस्कार कर, रत्नत्रय की आराधना कर सुनिर्मल तप कर शुक्लध्यान से कर्मरूपी शत्रुओं को मार कर मोक्षालय में जाता है ॥ ३०-३१ ॥

इति एकत्वानुप्रेक्षा

निश्चित से नीर क्षीर के समान शरीर में मिला होने पर भी जीव निश्चय से शरीर से अन्य है ॥ ३२ ॥

संसार में पुत्र, मित्र, स्त्री, बान्धव आदि तो बात ही क्या है ? क्योंकि वे सब विशेष रूप से बहिर्भूत प्रवृत्त होते हैं ॥ ३३ ॥

जैसे कनक पाषाण में सुवर्ण सदा मिला हुआ है, तथापि अपने स्वरूप की अपेक्षा भिन्न रूप में ही स्थित है ॥ ३४ ॥

उसी प्रकार जीव भी सर्वदा ज्ञान और दर्शन वाला है। गुणों की खान स्वस्वरूप वह शरीर में विद्यमान है ॥ ३५ ॥

इति अन्यत्वानुप्रेक्षा

यह शरीर मांस, हड्डी, खून और मलों से नित्य अपवित्र है, बीभत्स है, इसमें कृमियों का समूह है और क्षण मात्र में नष्ट हो जाने वाला है ॥ ३६ ॥

ऐसा मानकर धीर, पण्डितों को श्रीजिन, शास्त्र और साधुओं के प्रति भक्तिपूर्वक सुतपोयोग और नाना प्रकार के शुभव्रतों से प्रमाद और मद छोड़कर जिन वचनों के प्रति सावधान होकर अच्छा कुल पाकर सुखार्थियों को फल ग्रहण करना योग्य है ॥ ३८ ॥

इति अशुचि अनुप्रेक्षा

टूटी हुई द्रोणी में जिस प्रकार जल प्रवाहित होता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योगों से प्राणी के कर्मों का आस्रव होता है ॥ ३९ ॥

परिणाम विशेष से शुभ और अशुभ के भेद से वह आस्रव दो प्रकार का कहा गया है, ऐसा बुद्धिरूपी धन वाले व्यक्तियों को जानना चाहिए ॥ ४० ॥

इति आस्रवानुप्रेक्षा

सम्यक्त्वव्रतसंयुक्तसत्क्षमाध्यानमानसैः ।
मनोमर्कटकं रुध्वा दयासंपत्तिशालिभिः ॥ ४१ ॥
संवरः क्रियते नित्यं प्रमादपरिवर्जितैः ।
कर्मणां वा महाम्भोधौ जलानां पोतरक्षकैः ॥ ४२ ॥

इति संवरानुप्रेक्षा ।

निर्जरा द्विविधा ज्ञेया सविपाकाविपाकजा ।
कर्मणामेकदेशेन हानिर्भवति योगिनाम् ॥ ४३ ॥
दत्वा दुःखादिकं जन्तोः कर्मणामुदये सति ।
हानिः क्रमेण सर्वत्र साविपाका मता बुधैः ॥ ४४ ॥
जिनेन्द्रतपसा कर्महानिर्या क्रियते बुधैः ।
अविपाको तु सा ज्ञेया निर्जरा परमोदया ॥ ४५ ॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा ।

विलोक्यन्ते पदार्था हि यत्र जीवादयः सदा ।
स लोको भण्यते तज्ज्ञैर्जिनेन्द्रमतवेदिभिः ॥ ४६ ॥
स केन विहितो नैव लोको रुद्रादिना ध्रुवम् ।
हर्ता नैव तथा तस्य चास्ति कालत्रये मतः ॥ ४७ ॥
अनादिनिधनो नित्यमनन्ताकाशमध्यगः ।
अधोमध्योर्ध्वभेदेन त्रिधासौ परिकीर्तितः ॥ ४८ ॥
चतुर्दशभिरुत्सेधो रज्जुभिः प्रविराजते ।
रज्जूनां त्रिशतान्येव त्रिचत्वारिंशता घनः ॥ ४९ ॥
प्रोक्तः सप्तैकपञ्चैकरज्जुभिः पूर्वपश्चिमे ।
अधोमध्योरुब्रह्मान्ते लोकान्ते क्रमतो जिनैः ॥ ५० ॥
दक्षिणोत्तरतः सोऽपि सर्वतः सप्तरज्जुभाक् ।
वृक्षो वा छल्लिभिर्वातैस्त्रिभिर्नित्यं प्रवेष्टितः ॥ ५१ ॥
रत्नप्रभापुराभागे खरादिबहुलाभिधे ।
योजनानां सहस्राणि बाहुल्यं षोडशोक्तितः ॥ ५२ ॥
पङ्कादिबहुले भागे द्वितीये चतुरुत्तरा ।
अशीतिस्तु सहस्राणि बाहुल्यं च प्रकीर्तितम् ॥ ५३ ॥
तस्मिन् भागद्वये नित्यं भावनामरपूजिताः ।
कोट्यः सप्त लक्षाश्च द्वासप्ततिरनुत्तराः ॥ ५४ ॥
प्रासादाः श्रीजिनेन्द्राणां प्रतिमाभिर्विराजिताः ।
शाश्वताः सध्वजाद्यैश्च परमानन्ददायिनः ॥ ५५ ॥

इति आसवानुपेक्षा

सम्यक्त्व और व्रत से संयुक्त उत्तम क्षमा और मानसिक ध्यान से मन रूपी बन्दर को रोककर दया रूपी संपत्ति से युक्त, प्रमाद से रहित लोगों द्वारा कर्मों का नित्य संवर किया जाता है। जिस प्रकार जहाज के रक्षक महासमुद्र में जल का निरोध करते हैं ॥ ४१-४२ ॥

इति संवरानुप्रेक्षा

निर्जरा दो प्रकार की होती है—(१) सविपाक और (२) अविपाक। योगियों के कर्मों की एकदेश हानि होती है ॥ ४३ ॥

कर्मों के उदय होने पर प्राणियों को दुःखादिक देकर क्रमशः हानि होना, विद्वानों ने सब जगह सविपाका निर्जरा मानी है ॥ ४४ ॥

जिनेन्द्र द्वारा कथित तप से बुद्धिमानों द्वारा जो कर्म की हानि की जाती है, वह परमोदया अविपाका निर्जरा जाननी चाहिए ॥ ४५ ॥

इति निर्जरानुप्रेक्षा

जहाँ पर सदा जीवादिक पदार्थ देखे जाते हैं, उसे जानने वाले जिनेन्द्र मत के जानने वालों के द्वारा, वह लोक कहा जाता है ॥ ४६ ॥

वह लोक निश्चित रूप से किसी रुद्रादि के द्वारा नहीं बनाया गया है। उसका तीन काल में कोई हर्ता नहीं माना गया है ॥ ४७ ॥

अनन्त आकाश के मध्य में वह अनादि निधन है। वह अधो, मध्य और ऊर्ध्व के भेद से तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४८ ॥

वह चौदह राजू ऊँचा सुशोभित है। उसका घनफल तीन सौ तेतालीस घन राजू प्रमाण है ॥ ४९ ॥

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उस लोक का विस्तार पूर्व-पश्चिम में क्रमशः नीचे सात राजू, मध्य में एक राजू तथा ब्रह्म स्वर्ग के अन्त में पाँच राजू और लोकान्त में एक राजू प्रमाण है ॥ ५० ॥

दक्षिण और उत्तर से चारों ओर से वह सात राजू है। जिस प्रकार वृक्ष छाल से वेष्टित है, उसी प्रकार लोक नित्य तीन वायुओं से वेष्टित है ॥ ५१ ॥

रत्नप्रभा के अग्रभाग जिसका कि नाम खरादिबहुल है, वह सोलह हजार योग्य मोटाई वाला कहा गया है ॥ ५२ ॥

द्वितीय पङ्कादिबहुल भाग में मोटाई का प्रमाण चौरासी हजार योजन कहा गया है ॥ ५३ ॥

उन दोनों भागों में नित्य भवनवासी देवों के द्वारा पूजित सात करोड़ बहत्तर लाख अनुत्तर श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्रासाद हैं, जो कि प्रतिमाओं से सुशोभित हैं। ये ध्वजाओं से युक्त, शाश्वत और परम आनन्द देने वाले हैं ॥ ५४-५५ ॥

व्यन्तराणां विमानेषु तत्र संख्याविवर्जिताः ।
हेमरत्नमया सन्ति तान् वन्दे श्रीजिनालयान् ॥ ५६ ॥

योजनानां सहस्राणि त्वशीति परिमाणकम् ।
जलादिबहुलं भागमादि कृत्वा क्रमादधः ॥ ५७ ॥
सप्तपातालभूमीषु यत्र तिष्ठन्ति नारकाः ।
मिथ्याहिंसामृषास्तेयाब्रह्मभूरिपरिग्रहैः ॥ ५८ ॥
कष्टदुष्टकषायाद्यैः पापैः पूर्वभवार्जितैः ।
सहन्ते विविधं दुःखं छेदनैर्भेदनादिभिः ॥ ५९ ॥

ताडनैस्तापनैः शूलारोहणैः कुहनैर्घनैः ।
स्वोत्पत्तिमृत्युपर्यन्तं कविवाचामगोचरम् ॥ ६० ॥
एकरज्जुसुविस्तीर्णो मध्यलोकोऽपि वर्णितः ।
द्विगुणद्विगुणस्फारैरसंख्यैर्द्वीपसागरैः ॥ ६१ ॥
जम्बूद्वीपे तथा धातकीद्वीपे पुष्करार्द्धके ।
मेरवः सन्ति पञ्चोच्चैः प्रोत्तुङ्गाः सुमनोहराः ॥ ६२ ॥
संबन्धीनि च मेरूणां तेषां क्षेत्राणि सन्ति वै ।
शतं वै सप्ततिश्चापि तीर्थेशां जन्मभूमयः ॥ ६३ ॥
यत्र भव्याः समाराध्य जिनधर्मं जगद्धितम् ।
स्वर्गापवर्गजं सौख्यं प्राप्नुवन्ति स्वशक्तितः ॥ ६४ ॥
मेर्वादौ यत्र राजन्ते प्रासादाः श्रीजिनेशिनाम् ।
चतुःशतानि पञ्चाशदष्टौ चापि जगद्धिताः ॥ ६५ ॥
नित्यं हेममयास्तुङ्गाः शाश्वताः शर्मकारिणः ।
रत्नानां प्रतिमोपेताः पूजिता नृसुराधिपैः ॥ ६६ ॥
व्यन्तराणां विमानेषु ज्योतिष्काणां च सन्ति वै ।
जिनेन्द्रभवनान्युच्चैरसंख्यातानि नित्यशः ॥ ६७ ॥
कृत्रिमाणि तथा सन्ति जिनसद्मानि यत्र च ।
तिर्यग्लोके यथा सूत्रं नृपत्वादिकसंभृते ॥ ६८ ॥
सौधर्मादिषु कल्पेषु त्रिषष्टिपटलेष्वलम् ।
लक्षाश्चतुरशीतिस्ते प्रासादाः श्रीजिनेशिनाम् ॥ ६९ ॥
सहस्राणि तथा सप्तनवतिः प्रविराजिताः ।
त्रयोविंशतिसंयुक्ता रत्नबिम्बैर्मनोहराः ॥ ७० ॥

व्यन्तरों के विमानों में असंख्यात रत्नमयी और सुवर्णमयी जिनालय हैं, उनकी मैं वन्दना करता हूँ ॥ ५६ ॥

अस्सी हजार योजन प्रमाण जलादि बहुल भाग को आदि करके क्रम से नीचे सात पाताल भूमियों में जहाँ नारकी विद्यमान हैं। वहाँ वे मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के कारण, कष्टकर दुष्ट कषाय आदि से, पूर्वजन्म में अर्जित पापों से छेदन, भेदन आदि के विविध प्रकार के दुःख सहते हैं ॥ ५७-५८-५९ ॥

वे अपनी उत्पत्ति से लेकर मृत्यु पर्यन्त कवि की वाणी के अगोचर, ताड़न, तापन, शूलारोहण तथा अत्यधिक बुरी तरह मरने के दुःख को सहन करते हैं ॥ ६० ॥

एक राजू सुविस्तीर्ण मध्यलोक भी दुगुने-दुगुने विस्तार वाले असंख्यात द्वीप, सागरों से वर्णित है ॥ ६१ ॥

जम्बूद्वीप, धातकीद्वीप तथा पुष्करार्द्ध में पाँच उन्नत सुमनोहर मेरु हैं ॥ ६२ ॥

मेरु से सम्बन्धित उनके क्षेत्र हैं। एक सौ सत्तर तीर्थंकरों की जन्म-भूमियाँ हैं ॥ ६३ ॥

जहाँ भव्य जगत् के हितकारी जिनधर्म की आराधना कर अपनी शक्ति से स्वर्ग और मोक्ष सम्बन्धी सुख प्राप्त करते हैं ॥ ६४ ॥

मेरु आदि में श्री जिनेन्द्र भगवान् के चार सौ अट्ठावन जगद्धितकारी प्रासाद सुशोभित हैं ॥ ६५ ॥

ये जिनालय नित्य स्वर्णमय, ऊँचे, शाश्वत और सुखकारी हैं। ये रत्नों की प्रतिमाओं से युक्त हैं और मनुष्य तथा देवों के अधिपों के द्वारा पूजित हैं ॥ ६६ ॥

व्यन्तरों और ज्योतिषियों के विमानों में नित्य असंख्यात जिनेन्द्र-भवन हैं ॥ ६७ ॥

मनुष्य और पशु आदि से भरे हुए जिस तिर्यग्लोक में कृत्रिम जिन-भवन हैं ॥ ६८ ॥

सौधर्मादिक कल्पों में त्रेसठ पटलों में चौरासी लाख जिनेन्द्रों के प्रासाद हैं ॥ ६९ ॥

ये सत्तानवें हजार तेईस रत्नों के मनोहर बिम्बों से प्रकृष्ट रूप से सुशोभित हैं ॥ ७० ॥

सर्वदेवेन्द्रदेवौघैरहमिन्द्रः सुभक्तितः ।
पूजिता वन्दिता नित्यं शान्तये तान् भजाम्यहम् ॥ ७१॥
त्रैलोक्यमस्तके रम्ये प्राग्भाराख्यशिलातले ।
सिद्धक्षेत्रं सुविस्तीर्णं छत्राकारं समुज्ज्वलम् ॥ ७२ ॥
तस्योपरि मनागूनगव्यूतिप्रमितान्तरे ।
तनुवाते प्रतिष्ठन्ते सदा सिद्धा निरञ्जनाः ॥ ७३ ॥
येषां स्मरणमात्रेण रत्नत्रयपवित्रिताः ।
मुनयस्तत्पदं यान्ति ते सिद्धाः सन्तु शान्तये ॥ ७४ ॥
इत्यादिकं जगत्सर्वं षड्द्रव्यैः संभृतं सदा ।
चिन्तनीयं महाभव्यैः संवेगार्थं जिनोक्तिभिः ॥ ७५ ॥

इति लोकानुप्रेक्षा ।

बोधी रत्नत्रयप्राप्तिः संसाराम्भोधितारिणी ।
स्वर्मोक्षसाधिनी नित्यं सा बोधिः सेव्यते सदा ॥ ७६ ॥

रत्नत्रयं द्विधा प्रोक्तं व्यवहारेण निश्चयात् ।
व्यवहारेण तद्यत्र जिनोक्ते तत्त्वसंग्रहे ॥ ७७ ॥
श्रद्धानं भव्यजीवानां व्रतसंदोहभूषणम् ।
स्वर्गादिसुखदं नित्यं दुर्गतिच्छेदकारणम् ॥ ७८ ॥

निःशंकितादिभिर्युक्तमष्टाङ्गैस्तद्धि दर्शनम् ।
क्षालितं वा महारत्नं भाति भव्ये मदोज्झिते ॥ ७९ ॥
ज्ञानमष्टविधं नित्यं समाराध्यं मुमुक्षुभिः ।
केवलज्ञानदं जैनं विरोधपरिवर्जितम् ॥ ८० ॥
चारित्रं च द्विधा ज्ञेयं मुनिश्रावकभेदभाक् ।
आद्यं त्रयोदशो भेद्यं परं 'चैकादशप्रभम् ॥ ८१ ॥
निश्चयेन निजात्मा च शुद्धो बुद्धो यथा शिवः ।
सेव्यते यन्महाभव्यैर्दुराग्रहविवर्जितैः ॥ ८२ ॥
रत्नत्रयं भावशुद्धं परमानन्दकारणम् ।
इत्यादि बोधिराराध्या सतां सारविभूषणम् ॥ ८३ ॥

इति बोधिमनुप्रेक्षा ।

समस्त देवेन्द्र, देवों का समूह तथा अहमिन्द्रों के द्वारा भक्तिभाव पूर्वक पूजित और वन्दित उन्हें मैं नित्य शान्ति के लिए सेवित करता हूँ ॥ ७१ ॥

त्रैलोक्य के मस्तक पर रम्य प्राग्भार नामक शिलातल के छत्राकार, सुविस्तीर्ण, समुज्ज्वल सिद्धक्षेत्र है ॥ ७२ ॥

उसके ऊपर कुछ कम गव्यूति प्रमाण तनुवात में सदा निरंजन सिद्ध प्रतिष्ठित हैं ॥ ७३ ॥

जिनके स्मरण मात्र से रत्नत्रय से पवित्रित मुनि लोग उस पद को प्राप्त करते हैं। वे सिद्ध शान्ति के लिए हों ॥ ७४ ॥

इत्यादिक छह द्रव्यों से सदा भरा हुआ सारा जगत् महात्माओं के द्वारा संवेग के लिए जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के अनुसार चिन्तनीय है ॥७५॥

इति लोकानुप्रेक्षा

बोधि से रत्नत्रय की प्राप्ति होती है, बोधि संसार रूपी समुद्र से तारने वाली है, बोधि स्वर्ग और मोक्ष को साधने वाली है, नित्य वह बोधि सदा सेवित की जाती है ॥ ७६ ॥

रत्नत्रय दो प्रकार का कहा गया है। (१) व्यवहार से (२) निश्चय से। जिनोक्त तत्त्वसंग्रह में श्रद्धान करना व्यवहार से सम्यक्त्व है। भव्यजीवों का व्रत समूह रूपी भूषण भव्य जीवों को नित्य स्वर्गादि सुख को देने वाला है, दुर्गति को नष्ट करने का कारण है ॥ ७७-७८ ॥

निःशंकितादि आठ अंगों से युक्त वह सम्यग्दर्शन मदरहित भव्य में प्रक्षालित महारत्न के समान सुशोभित होता है ॥ ७९ ॥

ज्ञान आठ प्रकार का होता है, उसकी मुमुक्षों को नित्य समाराधना करना चाहिए। यह ज्ञान केवलज्ञान को देने वाला है, जिनेन्द्र कथित है और विरोध से रहित है ॥ ८० ॥

मुनि और श्रावक के भेद से युक्त चारित्र दो प्रकार का जानना चाहिए। मुनियों के चारित्र के तेरह भेद होते हैं और श्रावकाचार ग्यारह प्रकार का होता है ॥ ८१ ॥

निश्चय से निजात्मा शिव के समान शुद्ध-बुद्ध है। इस निजात्मा का दुराग्रह से रहित महाभव्यों को सेवन करना चाहिए ॥ ८२ ॥

भाव से शुद्ध रत्नत्रय परमानन्द का कारण है। इत्यादिक बोधि की आराधना करना चाहिए। यह सज्जनों की सार रूप आभूषण है ॥८३॥

इति बोधिअनुप्रेक्षा

संसारसागरे जीवान् पततः पापकर्मणा ।
यः समुद्धृत्य संधत्ते पदे स्वर्गापवर्गजे ॥ ८४ ॥

स धर्मो जिननाथोक्तो दशलाक्षणिको मतः ।
रत्नत्रयात्मकश्चापि दयालक्षणसंज्ञकः ॥ ८५ ॥

संसारे सरतां नित्यं जन्तूनां कर्मशत्रुभिः ।
दुर्लभं तं समासाद्य यत्नं कुर्वन्तु धीधनाः ॥ ८६ ॥

सोऽपि धर्मो द्विधा प्रोक्तो मुनिश्रावकगोचरः ।
आद्यो दशविधो धर्मो दानपूजाव्रतैः परः ॥ ८७ ॥

धर्मेण विपुला लक्ष्मीर्धर्मेण विमलं यशः ।
धर्मेण स्वर्गसत्सौख्यं धर्मेण परमं पदम् ॥ ८८ ॥

इत्यादि धर्मसद्भावं मत्वा भव्यैः सुखार्थिभिः ।
श्रीमज्जिनेन्द्रसद्धर्मो नित्यं संसेव्यते मुदा ॥ ८९ ॥

इति धर्मानुप्रेक्षा ।

एवं सुदर्शनो धीमान् महाभव्यशिरोमणिः ।
अनुप्रेक्षास्तरां ध्यात्वा दीक्षां लातुं समुद्यतः ॥ ९० ॥

इत्युच्चैर्जिनधर्मकर्मचतुरः श्रेष्ठी निजे मानसे,
संध्यात्वा शुभभावनां गुणनिधिर्वैराग्यरत्नाकरः ।
क्षान्त्वा सर्वजनान् क्षमापरिकरो भूत्वा स्वयं भक्तितो,
नत्वा तं विमलादिवाहनगुरुं दीक्षार्थमुद्युक्तवान् ॥ ९१ ॥

इति सुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षु-
श्रीविद्यानन्दिविरचिते द्वादशानुप्रेक्षाव्यावर्णनो
नाम नवमोऽधिकारः ।

पाप कर्म से संसारसागर में पड़े हुए जीवों को जो स्वर्ग और मोक्ष से उत्पन्न पद में धारण कराता है ॥ ८४ ॥

वह जिननाथ के द्वारा कथित धर्म दशलक्षण रूप माना गया है। दयालक्षण नाम वाला वह धर्म रत्नत्रयात्मक भी है ॥ ८५ ॥

कर्मरूपी शत्रुओं से नित्य संसार में भ्रमण करने वाले बुद्धिरूपी धन वाले प्राणी दुर्लभ उसे पाकर ऐसा कोई कार्य नहीं जिसे न कर सकें ॥ ८६ ॥

मुनि और श्रावकों का विषय वह धर्म भी दो प्रकार का कहा गया है। मुनिधर्म दश प्रकार का है। श्रावक धर्म दान, पूजा, व्रत रूप है ॥ ८७ ॥

धर्म से विपुल लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। धर्म से विमल यश की प्राप्ति होती है। धर्म से स्वर्ग का उत्तम सुख प्राप्त होता है, धर्म से परम पद की प्राप्ति होती है ॥ ८८ ॥

सुखार्थी भव्यों के द्वारा इत्यादि रूप से धर्म का सद्भाव जानकर श्रीमज्जिनेन्द्र सद्धर्म का नित्य प्रसन्नतापूर्वक भले प्रकार सेवन किया जाता है ॥ ८९ ॥

इति धर्मानुप्रेक्षा

इस प्रकार महाभव्य शिरोमणि बुद्धिमान् सुदर्शन अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन कर दीक्षा लेने के लिए उद्यत हो गया ॥ ९० ॥

इस प्रकार अत्यधिक रूप से जिनधर्मकर्मचतुर गुणों की निधि, वैराग्य रत्नाकर सेठ अपने मन में शुभ भावना का भली-भाँति ध्यान कर सभी लोगों को क्षमा कर क्षमा से युक्त हो स्वयं भक्तिपूर्वक उन विमलवाहन मुनि को नमस्कार कर दीक्षा लेने के लिए उद्यत हो गया ॥ ९१ ॥

इस प्रकार पञ्चनमस्कारमाहात्म्य प्रदर्शक सुदर्शनचरित में
श्री विद्यानन्दिविरचित द्वादशानुप्रेक्षा व्यावर्णन नामक
नवम अधिकार समाप्त हुआ।

दशमोऽधिकारः

अथ श्रेष्ठो विशुद्धात्मा भूत्वा निःशल्यमानसः ।
दत्वा सुकान्तपुत्राय सर्वं श्रेष्ठिपदादिकम् ॥ १ ॥
भक्तितस्तं गुरुं नत्वा सुधीर्विमलवाहनम् ।
जगौ भो करुणासिन्धो देहि दीक्षां जिनोदिताम् ॥ २ ॥

श्रीमत्पादप्रसादेन करोमि हितमात्मनः ।
मुनीन्द्रः सोऽपि संज्ञानी मत्वा तन्निश्चयं दृढम् ॥ ३ ॥
मुनीनां सारमाचारविधिं प्रोक्त्वा सुसुखितः ।
तं तरां सुस्थिरीकृत्य यथाभीष्टं जगाद च ॥ ४ ॥

तदा सुदर्शनो भव्यस्तदादेशरसायनम् ।
संप्राप्य परमानन्ददायकं तं प्रणम्य च ॥ ५ ॥
बाह्याभ्यन्तरकं सङ्गं परित्यज्य विशुद्धितः ।
कृत्वा लोचं व्रतोपेतां जैनीं दीक्षां समाददे ॥ ६ ॥

सत्यं सन्तः प्रकुर्वन्ति संप्राप्यावसरं शुभम् ।
श्रेयो निजात्मनो गाढं यथा श्रीमान् सुदर्शनः ॥ ७ ॥

तदा तत्सर्वमालोक्य धात्रीवाहनभूपतिः ।
पुनः स्वयोषितः कष्टं कर्म सर्वं विनिन्द्य च ॥ ८ ॥
चिन्तयामास भव्यात्मा स्वचित्ते भीतमानसः ।
अहो सुदर्शनश्चायं जिनभक्तिपरायणः ॥ ९ ॥

लघुत्वेऽपि सुधीः शीलसागरः करुणानिधिः ।
इदानीं च परित्यज्य सर्वं जातो मुनीश्वरः ॥ १० ॥
अहं च विषयासक्तो नारीरक्तोऽतिमूढधीः ।
न जानामि हितं किंचिद्यथा धत्तूरिको जनः ॥ ११ ॥
अधुनापि निजं कार्यं कुर्वेऽहं सर्वथा ध्रुवम् ।
कथं संसारकान्तारे दुःखी तिष्ठामि भीषणे ॥ १२ ॥

दशमोऽधिकारः

अनन्तर विशुद्धात्मा सेठ शल्यरहित मन वाला होकर सुकान्त नामक पुत्र के लिए समस्त श्रेष्ठि का पद आदि देकर, भक्ति से उत्तम बुद्धि वाले उन विमलवाहन गुरु को नमस्कार कर बोला कि हे करुणासिन्धु, मुझे जिनेन्द्र भगवान् द्वारा कथित दीक्षा दीजिए ।। १-२ ।।

श्रीमान् की चरण कृपा से मैं अपना हित करता हूँ। मुनीन्द्र सम्यग्ज्ञानी वे भी उसके निश्चय को दृढ़ मानकर, मुनियों की सार रूप आचार विधि को युक्तिपूर्वक कहकर, उसे भलीभांति स्थिर कर यथा-योग्य अभीष्ट वचन बोले ।। ३-४ ।।

तब भव्य सुदर्शन ने उनके परमानन्ददायक आदेश रूपी रसायन को पाकर और उन्हें प्रणाम कर, मन, वचन और काय की शुद्धिपूर्वक बाह्य और आभ्यन्तर आसक्ति को त्याग कर, लोच कर, व्रत से युक्त जिनेन्द्र दीक्षा ग्रहण कर ली ।। ५-६ ।।

सच है, सज्जन लोग सुदर्शन की तरह शुभ अवसर पाकर अपनी आत्मा का अत्यधिक रूप से कल्याण करते हैं ।। ७ ।।

तब उस सबको देखकर धात्रीवाहन राजा ने पुनः अपनी स्त्री के समस्त कष्ट कर्मों की निन्दा कर, अपने मन में भयभीत होकर विचार किया। अहो ! यह सुदर्शन जिनभक्ति परायण है ।। ८-९ ।।

छोटा होने पर भी करुणानिधि, शीलसागर (यह) बुद्धिमान् इस समय सब कुछ त्याग कर मुनीश्वर हो गया ।। १० ।।

अत्यन्त मूढ़ बुद्धि वाला नारी में आसक्त, विषयासक्त मैं धतूरा खाने वाले मनुष्य के समान किंचित् अपना हित नहीं जानता हूँ ।। ११ ।।

इस समय भी मैं निश्चित से अपना कार्य करता हूँ। संसाररूपी भीषण वन में दुःखी मैं कैसे रहूँगा ? ।। १२ ।।

इत्यादिकं समालोच्य राज्यं दत्वा सुताय च ।
सुकान्तं श्रेष्ठिनः पुत्रं धृत्वा श्रेष्ठिपदे मुदा ॥ १३ ॥
कृत्वा स्नपनसत्पूजां जिनानां शर्मदायिनीम् ।
दत्वा दानं यथायोग्यं सर्वान् संतोष्य युक्तितः ॥ १४ ॥
सेवकैर्बहुभिः सार्धं क्षत्रियैः सत्त्वशालिभिः ।
तमेव गुरुमानम्य मुनिर्जातो विचक्षणः ॥ १५ ॥

सत्यं ये भुवने भव्या जिनधर्मविचक्षणाः ।
ते नित्यं साधयन्त्यत्र सुधियः स्वात्मनो हितम् ॥ १६ ॥
अन्तःपुरं तदा तस्य त्यक्तसर्वपरिग्रहम् ।
वस्त्रमात्रं समादाय स्वीचक्रे स्वोचितं तपः ॥ १७ ॥
तथान्ये बहवो भव्या जैनधर्मे सुतत्पराः ।
श्रावकाणां व्रतान्युच्चैर्गृह्णन्तिस्म विशेषतः ॥ १८ ॥
केचिच्च सुधियस्तत्र भवभ्रमणनाशनम् ।
शुद्धसम्यक्त्वसद्रत्नं संप्रापुः परमादरात् ॥ १९ ॥

पारणादिवसे तत्र चम्पायां मुनिसत्तमाः ।
मुक्त्वा मानादिकं कष्टं जैनीदीक्षाविचक्षणाः ॥ २० ॥
मत्वा जैनेश्वरं मार्गं निर्ग्रन्थं स्वात्मसिद्धये ।
ईर्यापथमहाशुद्ध्या भिक्षार्थं ते विनिर्ययुः ॥ २१ ॥

तत्रासौ सन्मुनिः स्वामी सुदर्शनसमाह्वयः ।
मत्वा चित्ते जिनेन्द्रोक्तं मुनेर्मार्गं शिवप्रदम् ॥ २२ ॥
मानाहंकारनिर्मुक्तो भिक्षार्थं निर्गतस्तदा ।
महानपि पुरीमध्ये स्वरूपजितमन्मथः ॥ २३ ॥
दयावल्लीसमायुक्तो जंगमो वा सुरद्रुमः ।
ईर्यापथं सुधीः पश्यन् निःस्पृहो मानसे तराम् ॥ २४ ॥

लघून्नतगृहानुच्चैः समभावेन भावयन् ।
तदा तद्रूपमालोक्य समस्ताः पुरयोषितः ॥ २५ ॥
महाप्रेमरसैः पूर्णाः सरितो वा सरित्पतिम् ।
तं द्रष्टुं परमानन्दात्समन्तान्मिलिता द्रुतम् ॥ २६ ॥

इत्यादिक विचार कर पुत्र को राज्य देकर प्रसन्नतापूर्वक सेठ के पुत्र सुकान्त को सेठ के पद पर स्थापित कर, सुखदायक जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक, पूजन कर यथायोग्य सबको दान देकर, सबका युक्तिपूर्वक सन्तोष दिलाकर, पराक्रमशाली बहुत सारे क्षत्रिय सेवकों के साथ उसी को ही गुरु मानकर विचक्षण मुनि हो गया ।। १२–१५ ।।

सच है, जो संसार में जिनधर्मविचक्षण भव्य हैं, वे बुद्धिमान् नित्य अपना हित साधते हैं ।। १६ ।।

तब उसने अन्तःपुर में समस्त परिग्रह का त्याग कर वस्त्र मात्र को ग्रहण कर अपने योग्य तप को स्वीकार किया ।। १७ ।।

तथा अन्य जैनधर्म में सुतत्पर बहुत से भव्यों ने श्रावकों के व्रत विशेषतः अत्यधिक रूप से ग्रहण किए ।। १८ ।।

कुछ बुद्धिमानों ने वहाँ संसार भ्रमण के नाश करने वाले शुद्ध सम्यक्त्वरूपी उत्तम रत्न को आदरपूर्वक पाया ।। १९ ।।

वहाँ पर चम्पा में जिनदीक्षा विचक्षण वे मुनिश्रेष्ठ पारणा के दिन कष्टकर मानादिक छोड़कर, जैनेश्वर निर्ग्रन्थ्य मार्ग को आत्मा की सिद्धि के लिए मानकर ईर्यापथ को महाशुद्धि से भिक्षा के लिए निकले ।।२०-२१।।

वहाँ पर वह स्वामी सुदर्शन नामक उत्तम मुनि चित्त में यह मानकर कि जिनेन्द्र कथित मुनि का मार्ग कल्याण प्रदान करने वाला है ।। २२ ।।

तब वे मान और अहंकार से रहित होकर महान् होने पर भी नगर के मध्य भिक्षा के लिए निकले । अपने रूप से उन्होंने कामदेव को जीत लिया था ।। २३ ।।

वे दयारूपी लता से युक्त थे अथवा चलते-फिरते कल्पवृक्ष थे । बुद्धिमान् वे ईर्यापथ दृष्टि से युक्त मन में अत्यन्त निःस्पृह थे ।। २४ ।।

छोटे, बड़े सभी घरों के प्रति अत्यधिक रूप से समभाव को भाते हुए उनके रूप को देखकर नगर की समस्त स्त्रियाँ, महाप्रेमरस से पूर्ण हो गईं, जिस प्रकार समुद्र को देखकर सरितायें प्रेमरस से पूर्ण हो जाती हैं । उसे देखने के लिए शीघ्र ही चारों ओर से परम आनन्द से मिल गईं ।। २५-२६ ।।

कामेन विह्वलीभूताः प्रस्खलन्त्यः पदे पदे ।
गृहकार्यं परित्यज्य तद्दर्शनसमुत्सुकाः ॥ २७ ॥

काश्चिद्रूपमहो रूपं वदन्त्यश्च परस्परम् ।
धावमानाः प्रमोदेन भ्रमर्यो वाम्बुजोत्करम् ॥ २८ ॥

काचिद्वचे तदा नारी सखीं प्रति शृणु प्रिये ।
धन्या मनोरमा नारी ययासौ सेवितो मुदा ॥ २९ ॥

काचित्प्राह सुधीः सोऽयं सुदर्शनसमाह्वयः ।
राजश्रेष्ठी जगन्मान्यः श्रियालिङ्गितविग्रहः ॥ ३० ॥

वञ्चिता येन सा विप्रा प्रोन्मत्ता कपिलप्रिया ।
येन त्यक्ता महीभर्तुर्भामिनीकामकातरा ॥ ३१ ॥

सोऽयं स्वामी समादाय जैनीं दीक्षां शिवप्रदाम् ।
जातो महामुनिर्धीमान् पवित्रः शीलसागरः ॥ ३२ ॥

काचित्प्राह महाश्चर्यं येन पुत्रान्विता प्रिया ।
मनोरमा महारूपवती त्यक्ता महाधिया ॥ ३३ ॥

काचिज्जगौ जिनेन्द्राणां धर्मकर्मणि तत्परा ।
शृणु त्वं भो सखि व्यक्तं मद्वचः स्थिरमानसा ॥ ३४ ॥

येऽत्र यौवनरागान्धा भोगलालसमानसाः ।
तपोरत्नं जिनेन्द्रोक्तं कथं गृह्णन्ति दुर्दशाः ॥ ३५ ॥

अयं जैनमते दक्षः परित्यज्य स्वसंपदाम् ।
मोक्षार्थी कुरुते घोरं तपः कातरदुःसहम् ॥ ३६ ॥

काचिदूचे सखीं मुग्धे त्वं कटाक्षनिरीक्षणम् ।
वृथा किं कुरुषे चायं मुक्तिरामानुरञ्जितः ॥ ३७ ॥

धन्यास्य जननी लोके ययासौ जनितो मुनिः ।
मुक्तिगामी दयासिन्धुः पवित्रीकृतभूतलः ॥ ३८ ॥

काचित्प्राह पुरे चास्मिन् स धन्यो भव्यसत्तमः ।
आहारार्थं क्रियापात्रं यद्गृहं यास्यतीत्ययम् ॥ ३९ ॥

इत्यादिकं महाश्चर्यं संप्राप्ता निजमानसे ।
जल्पन्ति स्म यदा नार्यः परमानन्दनिर्भराः ॥ ४० ॥

तदा तत्र पुरे कश्चिन्महापुण्योदयेन च ।
तं विलोक्य मुनिं तुष्टो निधानं वा गृहागतम् ॥ ४१ ॥

उसे देखने को उत्सुक वे गृहकार्य छोड़कर काम से विह्वल होकर पद-पद पर लड़खड़ाने लगीं ॥ २७ ॥

कोई कोई परस्पर 'अहो रूपम्' इस प्रकार रूप के विषय में कहने लगीं। जिस प्रकार भ्रमरियाँ कमलों के समूह के ऊपर दौड़ती हैं, उसी प्रकार प्रमोदपूर्वक दौड़ने लगीं ॥ २८ ॥

कोई नारी सखी से बोली-हे प्रिये ! सुनो। मनोरमा नारी धन्य है, जिसके द्वारा यह प्रसन्नतापूर्वक सेवन किया गया ॥ २९ ॥

कोई बोली—यह सुदर्शन नामक महाबुद्धिमान्, जगन्मान्य राजश्रेष्ठी है, जिसके शरीर का आलिंगन लक्ष्मी करती है ॥ ३० ॥

जिसके द्वारा वह अत्यधिक उन्मत्त कपिल की प्रिया ब्राह्मणी वञ्चित की गई। जिसने काम से दुःखी राजा की स्त्री का त्याग कर दिया ॥ ३१ ॥

यह वह स्वामी हैं, जो कल्याणप्रद जैनी दीक्षा लेकर महामुनि हो गए। ये बुद्धिमान हैं, पवित्र हैं और शील के सागर हैं ॥ ३२ ॥

कोई बोली—महान् आश्चर्य है, जिसने महान् बुद्धिशालिनी, महारूपवती मनोरमा को पुत्र सहित त्याग दिया ॥ ३३ ॥

जिनेन्द्रों के धर्म-कर्म में तत्पर कोई बोली–हे सखि ! तुम व्यक्त मेरे वचन को स्थिर मन से सुनो ॥ ३४ ॥

यहाँ पर स्त्रीधन के प्रति राग से अन्धे हैं, भोगों के प्रति जिनकी मन की लालसा लगी हुई है। बुरी दशा वाले, वे जिनेन्द्रोक्त तप रूपी रत्न को कैसे ग्रहण करते हैं ? ॥ ३५ ॥

यह जैनमत में दक्ष है, मोक्षार्थी यह अपनी सम्पदा का त्यागकर घोर तप कर रहा है, भीरु व्यक्तियों के लिए यह तप दुःसह है ॥ ३६ ॥

कोई बोली—हे भोली-भाली सखी ! तुम व्यर्थ ही कटाक्षनिरीक्षण क्यों कर रही हो ? यह मुक्ति रूपी स्त्री से अनुरञ्जित है ॥ ३७ ॥

लोक में इसकी जननी धन्य है, जिसने भूतल को पवित्र करने वाले, मुक्तिगामी, दया के सागर मुनि को उत्पन्न किया ॥ ३८ ॥

कोई बोली—इस नगर में वह भव्यश्रेष्ठ धन्य है क्रिया के पात्र जिसके घर यह आहार के लिए जा रहा है ॥ ३९ ।

जब नारियाँ परम आनन्द से भरी हुई इत्यादिक बोल रही थीं, तब उन्होंने अपने मन में महान् आश्चर्य को प्राप्त किया ॥ ४० ॥

तब वहाँ नगर में किसी महान् पुण्योदय से उस मुनि को देखकर कोई घर आए हुए निधान के समान सन्तुष्ट हुआ ॥ ४१ ॥

श्रावकाचारपूतात्मा प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः ।
नमोऽस्तु भो मुने स्वामिंस्तिष्ठ तिष्ठेति संब्रुवन् ॥ ४२ ॥
प्राशुकं जलमादाय कृत्वा तत्पादधावनम् ।
इत्थं सुनवभिः पुण्यैर्दातृसप्तगुणैर्युतः ॥ ४३ ॥
तस्मै दानं सुपात्राय ददावाहारमुत्तमम् ।
स्वर्गं मोक्षसुखोत्तुङ्गफलपादपसिञ्चनम् ॥ ४४ ॥

सर्वेऽपि मुनयस्तद्वत्पारणां चक्रुरुत्तमाः ।
समागत्य निजं स्थानं स्वक्रियासु स्थिताः सुखम् ॥ ४५ ॥

अतः सुदर्शनो धीमान् शुद्धश्रद्धानपूर्वकम् ।
गुरोः पार्श्वे जिनेन्द्रोक्तं सर्वशास्त्रमहार्णवम् ॥ ४६ ॥
स्वगुरोर्भक्तितो नित्यं ग्रन्थतश्चार्थतो मुदा ।
सुधीः संतरति स्मोच्चैर्गुरुभक्तिः फलप्रदा ॥ ४७ ॥

ये भव्यास्तां गुरोर्भक्तिं कुर्वते शर्मदायिनीम् ।
त्रिशुध्यति महाभव्या लभन्ते परमं सुखम् ॥ ४८ ॥

ततोऽसौ सर्वशास्त्रज्ञो भूत्वा तत्त्वविदांवरः ।
सर्वसत्त्वेषु सर्वत्र सद्दयां प्रतिपालयन् ॥ ४९ ॥
त्रसस्थावरकेषूच्चैर्मनोवाक्काययोगतः ।
या सर्वज्ञैः समादिष्टा धर्मद्रोर्मूलकारणम् ॥ ५० ॥

सत्यं हितं मितं वाक्यं विरोधपरिवर्जितम् ।
नित्यं जिनागमे प्रोक्तं भजति स्म त्रिधा सुधीः ॥ ५१ ॥
तच्च जीवदयाहेतुः कथितो जैनतात्त्विकैः ।
येन लोकेऽत्र सत्कीर्तिः सुलक्ष्मीः सद्यशो भवेत् ॥ ५२ ॥
अदत्तविरतिं स्वामी सर्वथा प्रत्यपालयत् ।
यो गृह्णाति परद्रव्यं तस्य जीवदया कुतः ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचर्यं जगत्पूज्यं सर्वपापक्षयंकरम् ।
सभेदैर्नवभिर्नित्यं सावधानतया दधे ॥ ५४ ॥
त्यक्तस्त्रीषण्ढपश्वादिकुसङ्गो दृढमानसः ।
निर्जने सुवनादौ च विरागी सोऽवसत्सुखम् ॥ ५५ ॥

गृहस्थाचार से पवित्र आत्मा वाले उसने बारम्बार प्रणाम कर हे मुनि ! स्वामिन् ! ठहरिए, ठहरिए, इस प्रकार भली-भाँति बोलते हुए, प्रासुक जल लाकर उनके चरण धोकर। इस प्रकार नव पुण्य और दाता के सात गुणों से युक्त हो, उस सुपात्र के लिए उत्तम आहार दिया। वह (आहार दान) स्वर्ग और मोक्ष सुख रूपी उत्तुङ्ग फल के वृक्ष के सिचन के तुल्य था ।। ४२-४४ ।।

समस्त मुनियों ने उसके समान उत्तम पारणा की। अपने स्थान पर आकार अपनी क्रियाओं में सुखपूर्वक स्थित रहे ।। ४५ ।।

अब से बुद्धिमान् सुदर्शन शुद्ध श्रद्धानपूर्वक गुरु के समीप जिनेन्द्रोक्त समस्त शास्त्र रूपी महान् समुद्र को, अपने गुरु के प्रति भक्ति, नित्य प्रसन्नतापूर्वक ग्रन्थ और अर्थ के अनुसार (सीखकर सुखपूर्वक स्थित रहा)। बुद्धिमान् अत्यधिक रूप से (किसी कार्य के) पार हो जाता है। गुरु भक्ति फलप्रद होती है ।। ४६-४७ ।।

जो भव्य जीव हैं, वे उस सुखदायिनी गुरुभक्ति को करते हैं। महाभव्य मन, वचन, काय से शुद्ध होते हैं (और) परम सुख प्राप्त करते हैं ।। ४८ ।।

अनन्तर तत्त्व ज्ञानियों में श्रेष्ठ वह सर्वशास्त्रज्ञ होकर सब जगह समस्त प्राणियों के प्रति दया का पालन करता हुआ, वह मन, वचन, काय के योग से त्रस और स्थावर जीवों के प्रति (दया का पालन करता था) दया को सर्वज्ञों ने धर्म रूपी वृक्ष का मूल कारण कहा है ।।४९-५०।।

विरोध से रहित सत्य, हित और परिमित वाक्य (बोलना) नित्य जिनागम में कहा गया है। उसका बुद्धिमान् लोग मन, वचन, काय से सेवन करते हैं ।। ५१ ।।

(ऐसा वाक्य) जैन तात्त्विकों ने जीव दया का कारण कहा है। जिससे इस लोक में सत्कीर्ति, सुलक्ष्मी सुयश होता है ।। ५२ ।।

स्वामी अदत्तविरति (नामक व्रत को) सर्वथा पाल रहे थे। जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, उसके जीवदया कहाँ से हो सकती है ? ।। ५३ ।।

समस्त पापों का क्षय करने वाले, जगत्पूज्य ब्रह्मचर्य को नव भेदों से वे सावधानीपूर्वक धारण करते थे ।। ५४ ।।

दृढ़ मन वाले उन्होंने स्त्री, नपुंसक और पशु आदि के कुसंग को त्याग दिया था। निर्जन भुवन आदि में वे विरागी सुखपूर्वक रहते थे ।। ५५ ।।

सर्वेषां मण्डनं तद्धि यतीनां च विशेषतः ।
आजन्म मोक्षपर्यन्तं स दध्रे तज्जगद्धितम् ॥ ५६ ॥
यथा रूपे शुभा नासा बले राजा जवो हरौ ।
धर्मे जीवदया चित्ते दानं शीलं व्रते तथा ॥ ५७ ॥
शीलं जीवदयामूलं पापदावानले जलम् ।
शीलं तदुच्यते सद्भिर्यच्च स्वब्रतरक्षणम् ॥ ५८ ॥
एवं मत्वा स पूतात्मा शीलं सुगतिसाधनम् ।
पालयामास यत्नेन सावधानो मुनीश्वरः ॥ ५९ ॥

क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ।
यानं शय्यासनं कुप्यं भाण्डं चेति बहिर्दश ॥ ६० ॥
अत्यजत्पूर्वतः स्वामी मनोवाक्काययोगतः ।
शरीरे निस्पृहश्चापि कथं सङ्गरतो भवेत् ॥ ६१ ॥

विरुद्धं यज्जिनेन्द्रोक्तेस्तन्मिथ्यात्वं च पञ्चधा ।
स्वामी सम्यक्त्वरक्षार्थं नग्निवद्दूरतोऽत्यजत् ॥ ६२ ॥
स्त्रीपुन्नपुंसकं चेति वेदत्रयमथोत्कटम् ।
तद्वत्संगमपि त्यक्त्वा तदुच्चैर्निरवासयत् ॥ ६३ ॥
हास्यं रत्यरती शोकं भयं सप्तविधं त्रिधा ।
त्यजति स्म जुगुप्सां च मुनिर्ज्ञानबलेन सः ॥ ६४ ॥
उक्तं च—

इह परलोयत्ताणं अगुत्तिभय मरण वेयणक्कस्सम् ।
सत्तविहं भयमेयं णिद्दिट्ठं जिणवरिंदेण ॥ ६५ ॥

क्षमासलिलधाराभिः पुण्यसाराभिरादरम् ।
चतुःकषायदावाग्निं स्वामी शमयति स्म सः ॥ ६६ ॥
एषो मे बान्धवो मित्रमेषो मे शत्रुकः कुधीः ।
इति भावं परित्यज्य स्वतत्त्वे समधीः स्थितः ॥ ६७ ॥
चतुर्दशविधं चेति परिग्रहमहाग्रहम् ।
अभ्यन्तरं हि दुस्त्याज्यं त्यजति स्म महामुनिः ॥ ६८ ॥
तेषां पञ्चव्रतानां च भावनाः पञ्चविंशतिः ।
पञ्चपञ्चप्रकारेण मातरो वा हितंकराः ॥ ६९ ॥

ब्रह्मचर्य निश्चित रूप से सभी का मण्डन है, यतियों का विशेष रूप से मण्डन है। संसार के हितकारी उस ब्रह्मचर्य को उन्होंने जन्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त धारण किया ॥ ५६ ॥

जैसे रूप में नासिका, बल में राजा, वेग में घोड़ा शुभ माने जाते हैं उसी प्रकार धर्म में जीवदया, चित्त में दान और व्रत में शील शुभ माना जाता है ॥ ५७ ॥

जीवदया का मूल शील है, वह पापरूपी दावाग्नि के लिए जल है। अपने व्रत की रक्षा करने को सज्जनों ने शील कहा है ॥ ५८ ॥

ऐसा मानकर उस पवित्र आत्मा मुनीश्वर ने उत्तम गति के साधन शील का सावधानीपूर्वक यत्न से पालन किया ॥ ५९ ॥

क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद, यान, शय्यासन, कुप्य और भाण्ड इन बाह्य दस (परिग्रहों का) स्वामी ने मन, वचन, काय से पहले से ही परित्याग कर दिया। जो शरीर से निस्पृह हैं, वे परिग्रह में रत कैसे हो सकते हैं ॥ ६०-६१ ॥

विरुद्ध जिनेन्द्रोक्त जो पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है, उसका स्वामी ने व्रत की रक्षा के लिए दूर से परित्याग कर दिया ॥ ६२ ॥

उत्कट स्त्री, पुरुष, नपुंसक तीन वेदों के समान परिग्रह का भी त्याग कर उसका अत्यधिक रूप से परित्याग कर दिया ॥ ६३ ॥

ज्ञान के बल से उन मुनि ने हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा और वेद इन सातों का मन, वचन, काय से त्याग कर दिया ॥ ६४ ॥

कहा भी है—

इसलोक भय, परलोक भय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय आदि जिनवरों ने ये सात भय कहे हैं ॥ ६५ ॥

आदरपूर्वक पुण्य रूप सार वाली क्षमा रूप जल की धाराओं से वह स्वामी चार कषाय रूपी दावाग्नि का शमन करते थे ॥ ६६ ॥

यह मेरा बान्धव मित्र है, यह दुर्बुद्धि मेरा शत्रु है, इस प्रकार के भाव को त्याग कर वह समबुद्धि स्वतत्त्व में स्थिर रहते थे ॥ ६७ ॥

चौदह प्रकार का अभ्यन्तर परिग्रह रूपी महान् ग्रह को, जो कि दुस्त्याज्य है, उसका महामुनि ने त्याग कर दिया था ॥ ६८ ॥

उन पाँच व्रतों की पच्चीस भावनायें हैं। एक एक व्रत की ये पाँच-पाँच भावनायें माताओं के समान हितकारी हैं ॥ ६९ ॥

मनोगुप्तिवचोगुप्तीर्यादानक्षेपणं तथा ।
संविलोक्यान्नपानं च प्रथमव्रतभावनाः ॥ ७० ॥

क्रोधलोभत्वभीरुत्वहास्यवर्जनमुत्तमम् ।
अनुवीचीभाषणं च पञ्चैताः सत्यभावनाः ॥ ७१ ॥

आचौर्यभावनाः पञ्चशून्यागारविमोचिता ।
वासवर्जनमन्येषामुपरोधविवर्जनम् ॥ ७२ ॥
भैक्ष्यशुद्धिस्तथा नित्यं सधर्मणि जने तराम् ।
विसंवादपरित्यागो भाषिता मुनिपुङ्गवैः ॥ ७३ ॥

स्त्रीणां रागकथा कर्णे तद्रूपप्रविलोकने ।
पूर्वरत्याः स्मृतौ पुष्टाहारे वाञ्छाविवर्जनम् ॥ ७४ ॥
त्यागः शरीरसंस्कारे चतुर्थव्रतभावनाः ।
पञ्चैता मुनिभिः प्रोक्ताः शीलरक्षणहेतवः ॥ ७५ ॥

इष्टानिष्टेन्द्रियोत्पन्नविषयेषु सदा मुनेः ।
रागद्वेषपरित्यागाः पञ्चमव्रतभावनाः ॥ ७६ ॥

इत्येवं भावनाः स्वामी पञ्चविंशतिमुत्तमाः ।
तेषां पञ्चव्रतानां च पालयामास नित्यशः ॥ ७७ ॥

तथा दयापरो वीरः सदेर्यापथशोधनम् ।
करोति स्म प्रयत्नेन निधानं वा विलोक्यते ॥ ७८ ॥

यद्विना न दयालक्ष्मीर्भवेन्मुक्तिप्रसाधिनी ।
यथा रूपयुता नारी शीलहीना न शोभते ॥ ७९ ॥

जिनागमानुसारेण ब्रुवन् स्वामी वचोऽमृतम् ।
भाषादिसमितिं नित्यं भजति स्म प्रशर्मदाम् ॥ ८० ॥

श्रावकैर्युक्तितो दत्तमन्नपानादिकं शुभम् ।
संविलोक्य मुनिश्चैकवारं संतोषपूर्वकम् ॥ ८१ ॥
तपोवृद्धिनिमित्तं च मध्ये मध्ये तपश्चरन् ।
एषणासमितिं नित्यं संबभार मुनीश्वरः ॥ ८२ ॥

आदाने ग्रहणे तस्य प्रायो नास्ति प्रयोजनम् ।
सर्वव्यापारनिर्मुक्तेर्निस्पृहत्वं विशेषतः ॥ ८३ ॥

तथापि पुस्तकं कुण्डीं कदाचित् किंचिदुत्तमम् ।
मृदुपिच्छकलापेन स्पृष्ट्वा गृह्णाति संयमी ॥ ८४ ॥

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपणसमिति तथा देखकर अन्नपान ग्रहण करना ये अहिंसा व्रत की पाँच भावनायें हैं ।। ७० ।।

क्रोध का त्याग, लोभ का त्याग, भय का त्याग, हास्य का त्याग तथा अनुवीची भाषण ये पाँच सत्य व्रत की भावनायें हैं ।। ७१ ।।

शून्यागारवास, विमोचितावास, दूसरों का उपरोध करने का त्याग, भैक्ष्यशुद्धि तथा साधर्मी जनों से विसंवाद का त्याग ये पाँच अचौर्यव्रत की भावनायें मुनिश्रेष्ठों ने कही हैं ।। ७२-७३ ।।

स्त्रियों के प्रति अनुराग रखने वाली कथाओं के सुनने का त्याग, उनके रूप को देखने का त्याग, पूर्व रति की स्मृति का त्याग, पुष्टाहार का त्याग तथा शरीर के संस्कार त्याग, चतुर्थ ब्रह्मचर्य नामक व्रत की ये पाँच भावनायें मुनि के शील रक्षण हेतु कही हैं ।।७४-७५ ।।

इंद्रियों से उत्पन्न इष्ट अनिष्ट विषयों में मुनि के सदा राग-द्वेष का परित्याग ये अपरिग्रह नामक पंचम व्रत की भावनायें हैं ।। ७६ ।।

इस प्रकार उन पाँच व्रतों की उत्तम पच्चीस भावनाओं का स्वामी ने नित्य पालन किया ।। ७७ ।।

धीर, दयापरायण वे सदा ईर्यापथ शोधन करते थे, मानों निधान को देख रहे हों ।। ७८ ।।

ईर्यापथशोधन के बिना दयारूपी लक्ष्मी मुक्ति की प्रसाधिका नहीं होती है। जैसे रूप से युक्त शीलहीन नारी शोभित नहीं होती है ।। ७९ ।।

जिनागम के अनुसार स्वामी वचनरूपी अमृत बोलते थे। वे उत्कृष्ट सुख को देनेवाली भाषा समिति का सेवन करते थे ।। ८० ।।

श्रावकों के द्वारा युक्तिपूर्वक दिए गए शुभ अन्न पानादिक को देख-कर मुनि एक बार सन्तोषपूर्वक, तप की वृद्धि के निमित्त बीच-बीच में तप करते हुए मुनीश्वर नित्य एषणासमिति धारण करते थे ।। ८१-८२ ।।

आदान और ग्रहण में प्राय: उनका प्रयोजन नहीं होता था। समस्त कार्यों से रहित होने के कारण वे विशेष रूप से निस्पृह थे ।। ८३ ।।

तथा कदाचित् किंचित् पुस्तक को, कमण्डलु को मृदु पिच्छों के समूह से स्पर्श कर संयमी ग्रहण करते थे ।। ८४ ।।

क्वचिन्मलादिकं किंचित्प्रासुकस्थामके त्यजन् ।
प्रतिष्ठापनिकां मुक्त्या समितिं स सुधीः श्रितः ॥ ८५ ॥

इत्थं पञ्चसमितीर्दयाद्रुमघनावलीः ।
पालयामास योगीन्द्रः सावधानो जिनोदिते ॥ ८६ ॥

स्पर्शनं चाष्टधा नित्यं स्निग्धकोमलकं सुधीः ।
परित्यज्य पवित्रात्मा तदिन्द्रियजयोद्यतः ॥ ८७ ॥

जिह्वेन्द्रियं त्रिधा स्वामी स्वेच्छाहारादिवर्जनात् ।
जयति स्म सदा शूरः कातरत्वविवर्जितः ॥ ८८ ॥

इन्द्रियाणां जयी शूरो न शूरः सङ्गरे मरन् ।
अक्षशूरस्तु मोक्षार्थी रणे शूरः खलंपटः ॥ ८९ ॥

चन्दनागुरुकर्पूरसुगन्धद्रव्यसंचये ।
वाञ्छामपि त्यजन् स्वामी तदिन्द्रियजयेऽभवत् ॥ ९० ॥

चतुरिन्द्रियमत्यन्तविरक्तः स्त्रीविलोकने ।
सुधीर्निर्जितवान्नित्यं सर्ववस्तुस्वरूपवित् ॥ ९१ ॥

श्रोत्रेन्द्रियं सरागादिगीतवार्तामपि ध्रुवम् ।
परित्यज्य जिनेन्द्रोक्तौ प्रीतितः श्रवणं ददौ ॥ ९२ ॥

इति प्रपञ्चतः स्वामी स्वपञ्चेन्द्रियबन्धकान् ।
बन्धयामास चातुर्याच्चतुरः केन बध्यते ॥ ९३ ॥

मस्तके लुञ्चनं चक्रे मुनीन्द्रः प्रार्थनोज्झितम् ।
परीषहजयार्थं च परमार्थविदांवरः ॥ ९४ ॥

त्रिसन्ध्यं श्रीजिनेन्द्राणां वन्दनाभक्तितत्परः ।
समताभावमाश्रित्य सामायिकमनुत्तरम् ॥ ९५ ॥
करोति स्म सदा दक्षस्तद्दोषैर्विवर्जितम् ।
चैत्यपञ्चगुरूणां च भक्तिपाठकमादिभिः ॥ ९६ ॥

चतुर्विंशतितीर्थेशां संतनोति स्म संस्तुतिम् ।
सर्वपापापहां नित्यं महाभ्युदयदायिनीम् ॥ ९७ ॥

वन्दनामेकतीर्थेशो ज्ञानादिगुणगोचराम् ।
तद्गुणप्राप्तये नित्यं चक्रेऽसौ चतुरोत्तमः ॥ ९८ ॥

क्वचित् मलादिक को किसी प्रासुक स्थान पर त्याग करते हुए सुधी युक्तिपूर्वक प्रतिष्ठापन समिति का आश्रय लेते थे ।। ८५ ।।

दयारूपी वृक्ष के लिए मेघ के समान इस प्रकार जिन कथित पाँच समितियों को योगीन्द्र सावधान होकर पालते थे ।। ८६ ।।

सुधी पवित्रात्मा वे स्निग्ध और कोमल आठ प्रकार के स्पर्श का परित्याग कर इंद्रियविजय के लिए उद्यत रहते थे ।। ८७ ।।

स्वेच्छापूर्वक आहारादि छोड़ने से मन, बचन, काय से शूर स्वामी जिह्वेन्द्रिय को भयरहित होकर जीतते थे ।। ८८ ।।

जो इंद्रियों को जीतता है, वही शूर है, युद्ध में मरने वाला शूर नहीं है । इन्द्रियों को जीतने वाला शूर मोक्षार्थी होता है । रण में शूर तो खलंपट (?) है ।। ८९ ।।

चन्दन, अगुरु, कपूर और सुगन्धित द्रव्य के संचय की इच्छा का भी स्वामी त्याग करते थे, इस प्रकार स्वामी इन्द्रियजय हुए ।। ९० ।।

स्त्री को देखने में वे अत्यन्त विरक्त, समस्त वस्तुओं के स्वरूप को जानने वाले, उत्तम बुद्धिमान् वे चौथी चक्षुरिन्द्रिय को नित्य जीतते थे ।। ९१ ।।

रागादि से युक्त गीत वार्ता के सुनने का भी निश्चित रूप से परित्याग कर वे जिनेन्द्र उक्तियों के प्रति प्रीतिपूर्वक अपने कान लगाया करते थे अर्थात् जिनेन्द्रोक्तियों को प्रीतिपूर्वक सुनते थे ।। ९२ ।।

इस प्रकार स्वामी अपनी पाँच इन्द्रियों के वञ्चकों को वंचित करते थे । जिसकी सामर्थ्य है, ऐसा चतुर किसके द्वारा वंचित हो सकता है ।। ९३ ।।

याचना जिन्होंने छोड़ दी है, ऐसे परमार्थ को जानने वालों में श्रेष्ठ मुनीन्द्र परीषह जय के लिए मस्तक पर लौंच करते थे ।। ९४ ।।

दक्ष वे सामायिक के दोषों को छोड़कर चैत्य और पंच गुरुओं के प्रति-भक्ति-पाठ क्रमादि से तीनों सन्ध्याओं में श्रीजिनेन्द्र की वन्दना और भक्ति में तत्पर रहकर समताभाव का आश्रय लेकर सदा अनुत्तर सामायिक करते थे ।। ९५-९६ ।।

समस्त पापों को नष्ट करने वाली, महान् अभ्युदय को देनेवाली चौबीस तीर्थंकरों की नित्य स्तुति करते थे ।। ९७ ।।

जिनके ज्ञानादि गुण प्रकट हैं ऐसे तीर्थंकर की वन्दना को चतुरों में उत्तम वह उनके गुणों की प्राप्ति के लिए नित्य करता था ।। ९८ ।।

प्रतिक्रमणमत्युच्चैः कृतदोषक्षयंकरम् ।
करोति स्म परित्यज्य प्रमादं सर्वदा सुधीः ॥ ९९ ॥

वन्दनानन्तरं नित्यं प्रत्याख्यानं सुखाकरम् ।
देवगुर्वादिसाक्षं च गृह्णाति स्म विचक्षणः ॥ १०० ॥

अन्यो यस्तु परित्यागो यस्य कस्यापि वस्तुनः ।
स्वशक्त्या क्रियते धीरैः प्रत्याख्यानं च कथ्यते ॥ १०१ ॥

कायोत्सर्गं सदा स्वामी करोति स्म स्वशक्तितः ।
कायेऽति निस्पृहो भूत्वा कर्मणां हानये बुधः ॥१०२॥

षडावश्यकमित्यत्र मुनीनां शर्मराशिदम् ।
आचारं वा शिवप्राप्त्यै साधयामास योगिराट् ॥१०३॥

कौशेयकं च कार्पासं रोमजं चर्मजं तथा ।
वाल्कलं च पटं नित्यं पञ्चधा त्यजति स्म सः ॥१०४॥

जातरूपं जिनेन्द्राणां परं निर्वाणसाधनम् ।
रक्षणं ब्रह्मचर्यस्य मत्वा नग्नत्वमाश्रितः ॥१०५॥

अस्नानं संविधत्ते स्म दयालू रागहानये ।
क्षितौ शयनमत्युच्चैः स भेजे धृतिकारणम् ॥१०६॥

दन्तानां धावनं नैव करोति स्म महामुनिः ।
प्रत्याख्यानप्ररक्षार्थं मुनिमार्गस्य तत्त्ववित् ॥१०७॥

भुक्तिपानप्रवृत्तेश्च मर्यादाप्रतिपालकम् ।
ऊर्ध्वीभूय यथायोग्यमेकवारं स्वयुक्तितः ॥१०८॥

संतोषभावमाश्रित्य श्रावकाणां गृहे शुभम् ।
आहारं स्वतपःसिद्ध्यै करोति स्म महामुनिः ॥१०९॥

कृतकारितनिर्मुक्तं पवित्रं दोषवर्जितम् ।
अन्तरं पादयोः कृत्वा चतुरङ्गुलमात्रकम् ॥११०॥

सूर्योदये घटीषट्कमपराह्णे तथा त्यजन् ।
तन्मध्ये प्रासुकाहारं स लाति स्म मुनिः शुभम् ॥१११॥

एतान् मूलगुणानुच्चैर्मुनीनां मोक्षसाधकान् ।
दधेऽष्टाविंशति शुद्धान् धर्मध्यानपरायणः ॥११२॥

तथा श्रीमज्जिनेन्द्रोक्तं दशधा धर्ममुत्तमम् ।
उत्तमक्षान्तिसन्मुख्यं स प्रीत्या प्रत्यपालयत् ॥११३॥

सुधी (वह) सदा प्रमाद को छोड़कर सर्वदा दोषों का क्षय करने वाले प्रतिक्रमण को अत्यधिक रूप से करता था ॥ ९९ ॥

परिक्रमा के बाद वह विचक्षण नित्य देव, गुरु आदि की साक्षीपूर्वक सुख की खान प्रत्याख्यान को करता था ॥ १०० ॥

अन्य जिस किसी वस्तु का जो अपनी शक्तिपूर्वक परित्याग धीर व्यक्तियों के द्वारा किया जाता है, उसे प्रत्याख्यान कहते हैं ॥ १०१ ॥

बुद्धिमान् स्वामी काय से अत्यन्त निस्पृह होकर कर्मों की हानि के लिए अपनी शक्ति के अनुसार सदा कायोत्सर्ग करते थे ॥१०२॥

योगिराट् मुनियों को सुख का समूह प्रदान करने वाले छः आवश्यक अथवा शिव की प्राप्ति के लिए, [illegible] (आवश्यक) का साधन करते थे ॥१०३॥

वे रेशमी, कपास के बने, रोम के बने, चमड़े के बने तथा पेड़ की छाल से निर्मित पाँच प्रकार के वस्त्रों के नित्य त्यागी थे ॥१०४॥

जिनेन्द्र का नग्न रूप उत्कृष्ट निर्वाण का साधन है। ब्रह्मचर्य का (उससे) रक्षण मानकर उन्होंने नग्नत्व का आश्रय लिया था ॥१०५॥

दयालु वे राग की हानि के लिए स्नान नहीं करते थे। उन्होंने धैर्य के कारण पृथ्वी पर सोने का अत्यधिक रूप से सेवन किया था अर्थात् वे पृथ्वी पर शयन करते थे ॥१०६॥

मुनि मार्ग के तत्त्व को जानने वाले वे महामुनि प्रत्याख्यान की उत्कृष्ट रूप से रक्षा करने के लिए दन्तधावन नहीं करते थे ॥१०७॥

भोजन पान की प्रवृत्ति की मर्यादा के प्रतिपालक वे महामुनि उन्नत होकर यथायोग्य एक बार अपनी युक्ति से, सन्तोष भाव का आश्रय लेकर श्रावकों के घर अपने तप की सिद्धि के लिए आहार किया करते थे ॥१०८-१०९॥

कृत, कारित से रहित, पवित्र, दोष रहित दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तर कर, वे मुनि सूर्योदय तथा सायंकाल की छह घड़ी छोड़कर मध्य के समय शुभ आहार को लेते थे ॥११०-१११॥

धर्मध्यान में लगे हुए वे मोक्षसाधक मुनियों के इन शुद्ध २८ मूलगुणों को धारण करते थे ॥११२॥

उत्तम क्षमा प्रमुख श्रीमज्जिनेन्द्र कथित दश प्रकार के धर्मों को वे प्रीतिपूर्वक पालते थे ॥११३॥

गुप्तित्रयपवित्रात्मा सर्वशीलप्रभेदभाक् ।
द्वाविंशतिप्रमाणोक्तपरीषहसहिष्णुकः ॥११४॥

कर्मणां निर्जराहेतुं मत्वा चित्ते समग्रधीः ।
उपवासतपश्चक्रे तपसां मुख्यमुत्तमम् ॥११५॥

यथाष्टाङ्गशरीरेषु मस्तकं मुख्यकारणम् ।
तथा द्वादशभेदानां तपसां स्यादुपोसनम् ॥११६॥

आमोदर्यं तपः स्वामी प्रमादपरिहानये ।
स्वाध्यायसिद्धये चक्रे कर्मचक्रनिवारणम् ॥११७॥

वृत्तिसंख्यानकं नाम तपः संतोषकारणम् ।
वस्तुगेहवनोद्वृक्षसंख्यानैः कुरुते स्म सः ॥११८॥

जिनवाक्यामृतास्वादविशदीकृतमानसः ।
रसत्यागतपोधीरः स तेपे परमार्थवित् ॥११९॥

विविक्तशयनं नित्यं विविक्तं चासनं क्षितौ ।
भजति स्म सुधीः शीलदयापालनहेतवे ॥१२०॥

त्रिकालयोगसंयुक्त्या कायक्लेशतपोऽभवत् ।
तस्य तत्त्वप्रयुक्तस्य रतिनाथप्रवैरिणः ॥१२१॥

इत्येवं षड्विधं बाह्यमभ्यन्तरविशुद्धये ।
तपः संतप्तवान् गाढं कातराणां सुदुःसहम् ॥१२२॥

तस्य शुद्धचरित्रस्य कदाचिच्चेत्प्रमादता ।
प्रायश्चित्तं यथाशास्त्रं तपोऽभूच्छल्यनाशकम् ॥१२३॥

विनयं भक्तितश्चक्रे सर्वदा धर्मवत्सलः ।
रत्नत्रयपवित्राणां मुनीनां परमार्थतः ॥१२४॥

रत्नत्रये पराशुद्धिर्विनयादस्य चाभवत् ।
विद्या विनयतः सर्वाः स्फुरन्ति स्म विशेषतः ॥१२५॥

सत्यं पद्माकरे नित्यं भानुरेव विकाशकृत् ।
ततः साधर्मिकेषूच्चैर्विधेयो विनयो बुधैः ॥१२६॥

आचार्यपाठकादीनां दशधा सत्तपस्विनाम् ।
वैयावृत्यं स्वहस्तेन करोति स्म स संयमी ॥१२७॥

मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति से उनकी आत्मा पवित्र थी, वे शील के समस्त प्रभेदों का पालन करते थे और बाईस परीषहों को सहते थे ॥११४॥

समग्र बुद्धि वाले वे मन में तपों में मुख्य उत्तम उपवास को कर्म की निर्जरा का हेतु मानकर किया करते थे ॥११५॥

जैसे अष्टाङ्ग शरीरों में मस्तक मुख्य कारण है, उसी प्रकार तप के बाहर भेदों में उपवास मुख्य है ॥११६॥

कर्म के समूह का निवारण करने वाले अवमोदर्य तप को स्वामी प्रमाद को दूर करने के लिए तथा स्वाध्याय की सिद्धि के लिए किया करते थे ॥११७॥

वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप सन्तोष का कारण है। उसे वे वस्तु, गेह, वन के वृक्ष की गणनाओं से किया करते थे ॥११८॥

जिनवाक्य रूपी अमृत के आस्वाद से जिन्होंने अपने मन को विशद बनाया है, परमार्थ को जानने वाले वे धीर रस त्याग रूप तप को तपते थे ॥११९॥

सुधी वे शील और दया पालन के लिए नित्य पृथ्वी पर विविक्तशय्या और विविक्त आसन का सेवन करते थे ॥१२०॥

रति के नाथ कामदेव के उत्कृष्ट वैरी तत्त्व प्रयुक्त उनका त्रिकाल योग से संयुक्त कायक्लेश नामक तप होता था ॥१२१॥

आन्तरिक विशुद्धि के लिए इस तरह छह प्रकार के गाढ़ तप को वे तपते थे। यह तप डरपोकों के लिए सुदुःसह है ॥१२२॥

शुद्ध चारित्र वाले उनके कदाचित् प्रमाद होता था तो शास्त्र के अनुसार शल्य का नाशक प्रायश्चित तप होता था ॥१२३॥

सदा धर्मवत्सल वे रत्नत्रय से पवित्र मुनियों की भक्तिपूर्वक विनय करते थे ॥१२४॥

इनके विनय से रत्नत्रय की विशुद्धि होती थी। सभी विद्यायें विनय से विशेष रूप से प्रकट होती हैं ॥१२५॥

सच है, कमलों के समूह को सूर्य ही विकसित करने वाला होता है। अतः बुद्धिमानों को सार्धमियों की अत्यधिक रूप से विनय करना चाहिए ॥१२६॥

दस प्रकार के उत्तम तपस्वी आचार्य, पाठकादि की अपने हाथ से जो विनय करता है, वह संयमी है ॥१२७॥

तथा यच्च सुपात्रेभ्यो दीयते भव्यदेहिभिः ।
आहारौषधशास्त्रादि वैयावृत्यं तदुच्यते ॥ १२८ ॥

वैयावृत्यविहीनस्य गुणाः सर्वे प्रयान्त्यलम् ।
सत्यं शुष्कतडागेऽत्र हंसास्तिष्ठन्ति नैव च ॥ १२९ ॥

स्वाध्यायं पञ्चधा नित्यं प्रमादपरिवर्जितः ।
वाचना पृच्छनानुप्रेक्षाम्नायैर्धर्मदेशनैः ॥ १३० ॥

जिनोक्तसारशास्त्रेषु परमानन्दनिर्भरः ।
कर्मणां निर्जराहेतुं मत्वासौ संचकार च ॥ १३१ ॥

स्वाध्यायेन शुभा लक्ष्मीः संभवेद्विमलं यशः ।
तत्त्वज्ञानं स्फुरत्युच्चैः केवलं च भवेदलम् ॥ १३२ ॥

उक्तं च—

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वस्वभावाप्तिरच्युतिः ।
तस्मादच्युतिमाकाङ्क्षन् भावयेद् ज्ञानभावनाम् ॥ १३३ ॥

स संवेगपरो भूत्वा मुनीन्द्रो मेरुनिश्चलः ।
प्रदेशे निर्जने कायोत्सर्गं विधिवदाश्रयत् ॥ १३४ ॥

निर्ममत्वमलं चित्ते संध्यायन् सर्ववस्तुषु ।
एकोऽहं शुद्धचैतन्यो नापरो मेऽत्र कश्चन ॥ १३५ ॥

इति भावनया तस्य कर्मणां निर्जराभवत् ।
सुतरां भास्करोद्योते सत्यं याति तमश्चयः ॥ १३६ ॥

इष्टप्राप्तिस्मृते चित्ते त्वनिष्टक्षयचिन्तनात् ।
वेदनाया निदानाच्च भवेदार्तं चतुर्विधम् ॥ १३७ ॥

ध्यानं पश्वादिदुःखस्य कारणं धर्मवारणम् ।
चतुःपञ्चोरुषष्ठाख्यगुणस्थानावधि ध्रुवम् ॥ १३८ ॥

हिंसानृतोद्भवं स्तेयविषयारक्षणोद्भवम् ।
आपञ्चमगुणस्थानं नरकादिक्षितिप्रदम् ॥ १३९ ॥

रौद्रमेतद्द्वयं स्वामी दुर्गतेः कारणं ध्रुवम् ।
परित्यज्य दयासिन्धुः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ॥ १४० ॥

भव्य जीवों के द्वारा जो सुपात्रों को आहार, औषधि, शास्त्र आदि दिया जाता है, उसे वैयावृत्य कहते हैं ।। १२८ ।।

जो वैयावृत्य से विहीन है, उसके समस्त गुण अत्यधिक रूप से चले जाते हैं। सच है, यहाँ पर सूखे तालाब में हंस नहीं रहते हैं ।। १२९ ।।

वे वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश इस तरह पाँच प्रकार का स्वाध्याय नित्य प्रमाद को छोड़कर करते थे ।। १३० ।।

जिन उक्तियों के सार रूप शास्त्रों में अत्यधिक आनन्द से भरे हुए वे उन्हें कर्मों की निर्जरा का कारण मानकर उनकी रचना करते थे ।। १३१ ।।

स्वाध्याय से शुभा लक्ष्मी और विमल यश होता है, अत्यधिक रूप से तत्त्वज्ञान स्फुरित होता है और केवलज्ञान होता है ।। १३२ ।।

कहा भी है—

आत्मा ज्ञानस्वभावी है, स्वभाव की प्राप्ति होना अच्युति है। अतः अच्युति की आकांक्षा करता हुआ ज्ञानभावना को भावित करे ।। १३३ ।।

वे मेरु के समान निश्चल मुनीन्द्र संवेगपरायण होकर निर्जन प्रदेश में विधिपूर्वक कायोत्सर्ग का आश्रय लेते थे ।। १३४ ।।

चित्त में समस्त वस्तुओं के प्रति वे अमल निर्ममत्व का ध्यान करते थे। वे सोचते थे कि मैं एक शुद्ध चैतन्य हूँ, यहाँ पर मेरा कोई दूसरा नहीं है ।। १३५ ।।

इस प्रकार की भावना से उनके कर्मों की निर्जरा हो गई। सच है, सूर्य का उद्योत होने पर अन्धकार का समूह तत्क्षण ही चला जाता है ।। १३६ ।।

चित्त में इष्ट वस्तु की प्राप्ति की स्मृति, अनिष्ट वस्तु के क्षय का चिन्तन, वेदना और निदान, इस प्रकार आर्तध्यान चार प्रकार का होता है ।। १३७ ।।

चौथे, पाँचवें और छठें गुणस्थान तक निश्चित रूप से पशु आदि के दुःख का कारणरूप ध्यान धर्म का निवारण करने वाला है ।। १३८ ।।

पाँचवें गुणस्थान तक हिंसा, झूठ, चोरी तथा विषय संरक्षण में उद्भूत ध्यान नरकादि पृथिवियों को प्रदान करने वाला है ।। १३९ ।।

इन दोनों खोटे ध्यानों का स्वामी निश्चित रूप से दुर्गति का कारण है। इसका त्याग करके दयासिन्धु समस्त द्वन्द्वों से रहित हो गए ।। १४० ।।

आज्ञापायविपाकोत्थं संस्थानविचयं तथा ।
धर्मध्यानं चतुर्भेदं स्वर्गादिसुखसाधनम् ॥ १४१ ॥

ध्यायन्नित्यं स मोक्षार्थी षड्विधं चेति सत्तपः ।
आभ्यन्तरं जगत्सारं करोति स्म सुखप्रदम् ॥ १४२ ॥

शुक्लध्यानं चतुर्भेदं साक्षान्मोक्षस्य कारणम् ।
तदग्रे कथयिष्यामि भवभ्रमणवारणम् ॥ १४३ ॥

एवं तपस्यतस्तस्य संजाता विविधर्द्धयः ।
अनेकभव्यलोकानां परमानन्ददायिकाः ॥ १४४ ॥

तथा चोक्तम्—

बुद्धि तओ वि य लद्धी विउवण लद्धो तहेव ओसहिया ।
मणबलिअरकीणा वि य लद्धीओ सत्त पण्णत्ता ॥ १४५ ॥

ग्रीष्मकाले महाधीरः पर्वतस्योपरि स्थितः ।
शीतकाले बहिर्देशे प्रावृट्काले तरोरधः ॥ १४६ ॥

कुर्वन्महातपः स्वामी ध्यानी मौनी मुनीश्वरः ।
शैथिल्यं कर्मणां शक्तिं नयति स्म महामनाः ॥ १४७ ॥

इत्येवं स मुनीश्वरो गुणनिधिर्मूलोत्तरान् सद्गुणान्,
संसाराम्बुधितारणैकनिपुणान् स्वर्गापवर्गप्रदान् ।
सद्रत्नत्रयमण्डितोऽतिनितरां वृद्धिं नयन्नित्यशो,
निर्मोहः परमार्थपण्डिततनुश्चक्रे जिनोक्तं तपः ॥ १४८ ॥

इति सुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षु-
श्रीविद्यानन्दिविरचिते सुदर्शनतपोग्रहणमूलोत्तर-
गुणप्रतिपालनव्यावर्णनो नाम
दशमोऽधिकारः ।

आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय इन चार प्रकार का ध्यान स्वर्गादि सुख का साधन है ।। १४१ ।।

वह मोक्षार्थी नित्य इन चार प्रकार के ध्यानों को करता हुआ संसार के सार स्वरूप छः प्रकार के आभ्यन्तर सत्तपों को करता था ।। १४२ ।।

शुक्लध्यान के चार भेद हैं, वह साक्षात् मोक्ष का कारण है, संसार भ्रमण को रोकने वाले उसका कथन मैं आगे करूँगा ।। १४३ ।।

इस प्रकार तप करते हुए उन्हें अनेक भव्य लोगों को परम आनन्द देने वाली अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ हो गईं ।। १४४ ।।

कहा भी गया है—

बुद्धि, तप, विक्रिया, औषधि, मन, वचन और काय इस प्रकार सात ऋद्धियाँ कही गई हैं ।। १४५ ।।

महाधीर वे गर्मी के समय पर्वत के ऊपर खड़े होते थे । शीतकाल में बाहर खड़े होते थे और वर्षाकाल में वृक्ष के नीचे खड़े होते थे ।।१४६।।

ध्यानी, मौनी, महामना, मुनीश्वर स्वामी महातप करते हुए कर्मों की शक्ति को शिथिल करते थे ।। १४७ ।।

इस प्रकार मूल और उत्तर सद्गुणों के निधि, उत्तम रत्नत्रय से मण्डित, निर्मोह, परमार्थ पण्डित वह मुनीश्वर संसाररूपी समुद्र से तारने में एक मात्र निपुण, स्वर्ग और मोक्ष को देने वाले जिनोक्त तपों का अत्यधिक रूप से नित्य वृद्धि करते हुए किया करते थे ।। १४८ ।।

इस प्रकार पञ्चनमस्कारमाहात्म्य प्रदर्शक मुमुक्षु श्री विद्यानन्दिविरचित सुदर्शनचरित में सुदर्शन का तप ग्रहण मूल तथा उत्तरगुणों के प्रतिपालन का विशेष रूप से वर्णन करने वाला दशम अधिकार समाप्त हुआ ।

एकादशोऽधिकारः

अथासौ सन्मुनिः स्वामी जैनतत्त्वविदांवरः ।
धर्मोपदेशपीयूषैर्भव्यजीवान् प्रतर्पयन् ।। १ ।।
श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रोक्तधर्मं संवर्द्धयन् सुधीः ।
नानातीर्थविहारेण प्रतिष्ठाद्युपदेशनैः ।। २ ।।
अनेकव्रतशीलाद्यैर्दानपूजागुणोत्करैः ।
मार्गप्रभावनां नित्यं कारयन् परमोदयः ।। ३ ।।
स्वयं कर्मक्षयार्थी च पञ्चकल्याणभूमिषु ।
जिनानामूर्जयन्तादिसिद्धक्षेत्रेषु सर्वतः ।। ४ ।।
वन्दनाभक्तिमातन्वन् विहारं मुनिमार्गतः ।
कुर्वन् विशुद्धचित्तः सन् सर्वजीवदयापरः ।। ५ ।।
पारणादिवसे स्वामी पाटलीपुत्रपत्तनम् ।
ईर्यापथं सुधीः पश्यंश्चर्यार्थं स समागमत् ।। ६ ।।

तदा तत्पत्तने पापा पण्डिता धात्रिका स्थिता ।
आगतं तं समाकर्ण्य मुनीन्द्रं जितमन्मथम् ।। ७ ।।
देवदत्तां प्रति प्राह श्रृणु त्वं रे मदीरितम् ।
सोऽयं सुदर्शनो नूनं मुनिर्भूत्वा समागतः ।। ८ ।।
निजां प्रतिज्ञां सा स्मृत्वा वेश्यामायाशतान्विता ।
श्राविकारूपमादाय महाकपटकारिणी ।। ९ ।।
नत्वा तं स्थापयामास गतविक्रियमादरात् ।
रुद्धाशयं गृहस्यान्तं नयति स्म दुराशया ।। १० ।।
भूपतेर्भामिनी यत्र लोके कन्दर्पपीडिता ।
दुराचारशतं चक्रे वेश्यायाः किं तदुच्यते ।। ११ ।।
तत्र सा मदनोन्मत्ता तं जगाद मुनीश्वरम् ।
भो मुने तव सद्रूपं यौवनं चित्तरञ्जनम् ।। १२ ।।
एतैर्भोगैर्मनोऽभीष्टैः सफलीकुरु साम्प्रतम् ।
बहुद्रव्यं गृहे मेऽस्ति नानाजनसमागतम् ।। १३ ।।
चिन्तामणिरिवाक्षय्यं कल्पद्रुमवदुत्तमम् ।
सर्वं गृहाण दासीत्वं करिष्यामि तवेप्सितम् ।। १४ ।।

एकादशोऽधिकारः

अनन्तर जैन तत्वज्ञानियों में श्रेष्ठ सुधी, परमोदय वह सन्मुनि स्वामी धर्मोपदेश रूपी अमृत से भव्य जीवों को अत्यधिक तृप्त करते हुए, नाना तीर्थों में विहार करने से और प्रतिष्ठादि का उपदेश देने से श्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्र के द्वारा कहे हुए धर्म की भली भाँति वृद्धि करते हुए, अनेक व्रत, शीलादि, दान और पूजा के गुण समूहों से नित्य मार्ग प्रभावना कराते हुए, स्वयं कर्म के क्षय को चाहते हुए चारों ओर जिनों के ऊर्जयन्त (गिरनार) आदि सिद्ध क्षेत्रों में, पञ्चकल्याण भूमियों में, वन्दना, भक्ति करते हुए, समस्त जीवों के प्रति दयापरायण तथा विशुद्ध चित्त हो मुनिमार्ग के अनुसार विहार करते हुए, सुधी स्वामी ईर्यापथ से अवलोकन करते हुए पारणा के दिन पाटलीपुत्रपत्तन में आए ।। १–६ ।।

तब उस नगर (पत्तन) में पण्डिता धाई स्थित थी। कामदेव को जीतने वाले उन मुनीन्द्र को आया हुआ सुनकर, देवदत्ता से बोली। रे तुम मेरी कही हुई बात को सुनो। वह यह सुदर्शन निश्चित रूप से मुनि होकर आ गया है ।। ७-८ ।।

सौ मायाओं से युक्त महाकपटधारिणी उस वेश्या ने निज प्रतिज्ञा का स्मरण कर श्राविका का रूप बनाकर, विक्रिया रहित उन्हें नमस्कार कर ठहरा लिया। दुष्ट अभिप्राय वाली उन शुद्ध आशय वाले को घर के अन्दर ले गयी ।। ९-१० ।।

जहाँ पर राजा की स्त्री (भी) काम से पीड़ित हो (वहाँ पर) जिसने सौ दुराचार किए, उस वेश्या का कहना ही क्या है ? ।। ११ ।।

वहाँ पर काम से उन्मत्त उन मुनीश्वर से वह बोली—हे मुनि। आपका अच्छा रूप, यौवन चित्त को रञ्जित करने वाला है ।। १२ ।।

मन को अभीष्ट इन भोगों से इस समय सफल करो। नाना लोगों से आया हुआ मेरे पास बहुत सा धन है ।। १३ ।।

यह धन चिन्तामणि के समान अक्षय है, कल्पवृक्ष के समान उत्तम है। इस सबको ले लो। तुम्हारी इष्ट दासीपने को करूँगी ।। १४ ।।

मन्दिरे मेऽत्र सर्वत्र सर्ववस्तुमनोहरे।
मम सङ्गेन ते स्वर्गः सुधीरत्र समागतः ॥ १५ ॥

किं ते तपःप्रकष्टेन सदाप्राणप्रहारिणा।
भुक्त्वा भोगान् मया सार्धं सर्वथा त्वं सुखी भव ॥ १६ ॥

ततस्तां स मुनिः प्राह धीरवीरैकमानसः।
रे रे मुग्धे न जानासि त्वं पापात् संसृतेः स्थितिम् ॥ १७ ॥

शरीरं सर्वथा सर्वजनानामशुचेर्गृहम्।
जलबुद्बुदवद्गाढं क्षयं याति क्षणार्धतः ॥ १८ ॥

भोगाः फणीन्द्रभोगाभाः सद्यः प्राणप्रहारिणः।
संपदा विपदा तुल्या चञ्चलेवातिचञ्चला ॥ १९ ॥

शीलरत्नं परित्यज्य शर्मकोटिविधायकम्।
येऽधमाश्चात्र कुर्वन्ति दुराचारं दुराशयाः ॥ २० ॥

ते मूढा विषयासक्ताः श्वभ्रं यान्ति स्वपापतः।
तत्र दुःखं प्रयान्त्येव छेदनं भेदनादिकम् ॥ २१ ॥

जन्मादिमृत्युपर्यन्तं कविवाचामगोचरम्।
तस्मात् सुदुर्लभं प्राप्य मानुष्यं क्रियते शुभम् ॥ २२ ॥

इत्यादिकं प्रजल्प्योच्चैस्तस्याः स मुनिपुङ्गवः।
द्विधा संन्यासमादाय मेरुवन्निश्चलाशयः ॥ २३ ॥

चित्ते संचिन्तयामास स्वामी वैराग्यवृद्धये।
अमेध्यमन्दिरं योषिच्छरीरं पापकारणम् ॥ २४ ॥

बहिर्लावण्यसंयुक्तं किंपाकफलवत् खरम्।
कामिनां पतनागारं निःसारं संकटोत्करम् ॥ २५ ॥

दुष्टस्त्रियो जगत्यत्र सद्यः प्राणप्रहाः किल।
सर्पिण्यो वात्र मूढानां वञ्चनाकरणे चणाः ॥ २६ ॥

पातिन्यः श्वभ्रगर्त्तायां स्वयं पतनतत्पराः।
प्रमुग्धमृगसार्थानां वागुराः प्राणनाशकाः ॥ २७ ॥

कामान्धास्तत्र कुर्वन्ति वृथा प्रीतिं प्रमादिनः।
स्वतत्त्वं नैव जानन्ति यथा धात्तूरिकाः खलाः ॥ २८ ॥

हे सुधी ! यहाँ आए हुए सब जगह समस्त मनोहर वस्तुओं से युक्त मेरे मन्दिर में मेरे सङ्ग से तुम्हें स्वर्ग (मिल) जायगा ॥ १५ ॥

सदा प्राणों पर प्रहार करने वाले तुम्हारे तप रूप कष्ट से क्या ? मेरे साथ भोगों को भोगते हुए तुम सर्वथा सुखी होओ ॥ १६ ॥

अनन्तर धीर, वीर एक मन वाले मुनि उससे बोले । हे हे मुग्धा ! तुम पाप के कारण संसार की स्थिति को नहीं जानती हो ॥ १७ ॥

समस्त लोगों का शरीर सर्वथा अपवित्रता का घर है । जल के बुलबुले के समान आधे क्षण में ही नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

भोग नाग के शरीर के समान आभा वाले हैं, तत्क्षण प्राण हरण करने वाले हैं । लक्ष्मियाँ दिनांत के समान हैं, बिजली के समान अत्यन्त चञ्चल हैं ॥ १९ ॥

करोड़ों सुख को करने वाले शीलरूपी रत्न का परित्याग कर जो बुरे अभिप्राय वाले अधम यहाँ दुराचार करते हैं ॥ २० ॥

वे विषयासक्त मूढ़ अपने पाप से नरक जाते हैं । वहाँ जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त कवि की वाणी के अगोचर छेदन, भेदनादिक दुःख पाते हैं अतः सुदुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर शुभ कार्य किया जाता है ॥ २१-२२ ॥

इत्यादिक अत्यधिक रूप से कहकर वे मुनि दो प्रकार से संन्यास ग्रहण कर मेरु के समान निश्चल अभिप्राय वाले हो गए ॥ २३ ॥

स्वामी ने वैराग्य की वृद्धि के लिए चित्त में विचार किया । स्त्रियों का शरीर अपवित्र वस्तुओं का घर और पाप का कारण है ॥ २४ ॥

बाहरी सौन्दर्य से युक्त और किंपाक फल के समान कठोर है । कामियों के पतन का आगार है ॥ २५ ॥

निश्चय से यहाँ जगत् में दुष्ट स्त्रियाँ तत्क्षण प्राण हरण करने वाली होती हैं । सर्पिणियों के समान यहाँ मूढ़ों को ठगने में निपुण हैं ॥ २६ ॥

(ये) नरक रूपी गड्ढे में गिराने वाली हैं, स्वयं गिरने में तत्पर हैं । भोले मृग के समूहों के लिए प्राणनाशक रस्सी हैं ॥ २७ ॥

प्रमादी कामान्ध व्यक्ति व्यर्थ ही प्रीति करते हैं । जैसे धतूरा खाने वाले दुष्ट व्यक्ति स्वतत्त्व को नहीं जानते हैं ॥ २८ ॥

ते धन्या भुवने भव्या ते स्त्रीसंगपराङ्मुखाः ।
प्रतिपाल्य स्वं शीलं संप्राप्ताः परमोदयम् ॥ २९ ॥
मयापि श्रीजिनेन्द्रोक्ते तत्त्वे चित्तं विधाय च ।
मोक्षसौख्यं परं साध्यं सर्वथा शीलरक्षणात् ॥ ३० ॥

एवं यदा मुनिर्धीरः स्वचित्ते चिन्तयत्यलम् ।
तावत्तया समुद्धृत्य पापिन्या मुनिसत्तमम् ॥ ३१ ॥
स्वशय्यायां चकाराशु स तदापि मुनीश्वरः ।
काष्ठवच्चिन्तयामास मौनस्थो निश्चलस्तराम् ॥ ३२ ॥
सर्वथा शरणं मेऽत्र परमेष्ठी पितामहः ।
एकोऽहं शुद्धबुद्धोऽहं नान्यः कोऽपि परो भुवि ॥ ३३ ॥

तदा तया च पापिन्या गाढमालिङ्गनैर्घनैः ।
मुखे मुखार्पणैर्हस्तस्पर्शनै रागजल्पनैः ॥ ३४ ॥
नग्नीभूय निजाकारदर्शनैर्मर्दनैस्तथा ।
इत्थं दिनत्रयं स्वामी पीडितोऽपि तथा स्थितः ॥ ३५ ॥

निश्चलं तं तरां मत्वा देवदत्ता तदा खली ।
निरर्था मुनिमुद्धृत्य गत्वा शीघ्रं श्मशानकम् ॥ ३६ ॥
धृत्वा कृष्णमुखं लात्वा पापिनी स्वगृहं गता ।
दुष्टाः स्त्रियो मदोन्मत्ताः किं न कुर्वन्ति पातकम् ॥ ३७ ॥

तत्र प्रेतवने स्वामी कायोत्सर्गेण धीरधीः ।
यावत्संतिष्ठते दक्षस्तत्त्वचिन्तनतत्परः ॥ ३८ ॥
तावत्सा व्यन्तरी पापा व्योममार्गे भयातुरी ।
पर्यटन्ती विमानस्य स्खलनाद्वीक्ष्य तं मुनिम् ॥ ३९ ॥

जगौ रे हं त्वदार्त्तेन मृत्वा जातास्मि देवता ।
त्वं च केनापि देवेन रक्षितोऽसि सुदर्शन ॥ ४० ॥
इदानीं कः परित्राता तव त्वं ब्रूहि मे शठ ।
गदित्वेति महाकोपादुपसर्गं सुदारुणम् ॥ ४१ ॥
कर्तुं लग्ना तदागत्य मुनेः पुण्यप्रभावतः ।
सोऽपि यक्षः सुधीर्भक्तो वारयामास तां सुरीम् ॥ ४२ ॥

जो भव्य संसार में स्त्रीसंग से पराङ्मुख हैं, वे धन्य हैं। उन्होंने शील व्रत का पालन कर परमोदय को प्राप्त किया है ॥ २९ ॥

मेरे द्वारा भी जिनेन्द्रोक्त तत्त्व के प्रति चित्त लगाकर सर्वथा शील के रक्षण से उत्कृष्ट मोक्ष साध्य है ॥ ३० ॥

इस प्रकार वे धीर मुनि अपने चित्त में अत्यधिक रूप से सोच रहे थे तभी उस पापिनी ने मुनिश्रेष्ठ को उठाकर, अपनी शय्या पर रख लिया। काष्ठ के समान बने हुए उन मुनि ने मौन में स्थित रह निश्चल होकर विचार किया, मेरे लिए यहाँ परमेष्ठी, पितामह सर्वथा शरण हैं, मैं शुद्ध, बुद्ध एक हूं, पृथ्वी पर अन्य कोई (मेरा) नहीं है ॥ ३१-३३ ॥

तब उस पापिनी के घने गाढ़ आलिङ्गनों से, मुख में मुख अर्पित करने से, हाथ छूने से और रागपूर्वक बातचीत करने से, नग्न होकर अपने आकार दिखलाने और मर्दन से, इस प्रकार तीन दिन तक पीड़ित होने पर भी स्वामी उसी प्रकार स्थित रहे ॥ ३४-३५ ॥

तब दुष्टा निरर्था देवदत्ता उन्हें अत्यधिक निश्चल मानकर मुनि को उठाकर शीघ्र श्मशान जाकर, वहाँ श्मशान में मुनि को रखकर काला मुख धारण करके, वह पापिनी अपने घर चली गई। मद में उन्मत्त दुष्ट स्त्रियाँ क्या पाप नहीं करती हैं ॥ ३६-३७ ॥

तत्त्व चिन्तन में तत्पर, दक्ष, धीर बुद्धि वाले स्वामी जब तक श्मशान में ठहरे, तब तक वह भय से व्याकुल पापिनी व्यन्तरी आकाश मार्ग में भ्रमण करती हुई विमान के लड़खड़ाने से उन मुनि को देखकर, बोली, रे मैं तुम्हारे दुःख से मरकर देवता हुई हूँ। हे सुदर्शन! तुम किसी देव से रक्षित हो ॥ ३८-४० ॥

हे शठ! इस समय तुम्हारा कौन रक्षक है, बोलो। इस महाकोप से बोलकर दारुण उपसर्ग करने लगी ॥ ४१ ॥

तब मुनि के पुण्य के प्रभाव से वह सुधी भक्त यक्ष भी आकर उस देवी को रोकने लगा ॥ ४२ ॥

सापि सप्तदिनान्युच्चैर्युद्धं कृत्वा सुरेण च ।
मानभङ्गं तदा प्राप्य रात्रिर्वा भास्कराद्गता ॥ ४३ ॥
तदा सुदर्शनः स्वामी तस्मिन् घोरोपसर्गके ।
ध्यानावासे स्थितस्तत्र मेरुवन्निश्चलाशयः ॥ ४४ ॥
कर्मणां क्षपणे शूरः सावधानोऽभवत्तराम् ।
क्रमस्तु प्रकृतीनां च मया किंचिन्निरूप्यते ॥ ४५ ॥

सम्यग्दृष्टिगुणस्थाने चतुर्थे भुवनोत्तमे ।
पञ्चमे च तथा षष्ठे सप्तमे वा यतीश्वरः ॥ ४६ ॥
धर्मध्यानप्रभावेन तेषु स्थानेषु वा क्वचित् ।
मिथ्यात्वप्रकृतीस्तिस्रो चतस्रो दुःकषायजाः ॥ ४७ ॥
देवायुर्नारकायुश्च पश्वायुः पापकारणम् ।
दशैताः प्रकृतीर्हत्वा पूर्वमेव मुनीश्वरः ॥ ४८ ॥
अष्टमे च गुणस्थाने क्षपकश्रेणिमाश्रितः ।
अपूर्वकरणो भूत्वा स्थित्वा च नवमे सुधीः ॥ ४९ ॥
शुक्लध्यानस्य पूर्वेण पादेन परमार्थवित् ।
नाम्ना पृथक्त्ववीतर्कवीचारेण विचारवान् ॥ ५० ॥
समातपचतुर्जातित्रिनिद्राश्वभ्रयुग्मकम् ।
स्थावरत्वं च सूक्ष्मत्वं पशुद्वयुद्योतकं तथा ॥ ५१ ॥
अनिवृत्तगुणस्थानपूर्वभागे च षोडश ।
क्षयं नीत्वा द्वितीये च कषायाष्टकमुच्चकैः ॥ ५२ ॥
क्लैब्यं परे ततः स्त्रैणं चतुर्थे भागके ततः ।
परे हास्यादिषट्कं च षष्ठे पुंवेदकं तथा ॥ ५३ ॥
क्रोधं मानं च मायां च त्रिभागेषु पृथक् पृथक् ।
षट्त्रिंशत्प्रकृतीर्हत्वा नवमे चैवमादिकम् ॥ ५४ ॥
सूक्ष्मसांपरायकेऽपि सूक्ष्मलोभं निहत्य च ।
क्षीणमोहगुणस्थाने द्वितीयशुक्लमाश्रितः ॥ ५५ ॥
निद्रां सप्रचलां हित्वा चोपान्त्यसमये सुधीः ।
अन्तिमे समये तत्र चतस्रो दृष्टिघातिकाः ॥ ५६ ॥
पञ्चधा ज्ञानहाः पञ्चप्रकृतीः पञ्च विघ्नकाः ।
इत्येवं प्रकृतीः प्रोक्तास्त्रिषष्टिं घातिकर्मणाम् ॥ ५७ ॥

हत्वाभूत्तत्क्षणे स्वामी केवलज्ञानभास्करः ।
सयोगाख्यगुणस्थानवर्ती सर्वप्रकाशकः ॥ ५८ ॥

वह भी देव के साथ सात दिन तक अत्यधिक युद्ध कर मानभङ्ग पाकर इस प्रकार चली गई, जैसे सूर्य के कारण रात चली जाती है ॥ ४३ ॥

तब सुदर्शन स्वामी उस घोर उपसर्ग में ध्यान रूप आवास में स्थित रहकर मेरु के समान स्थिर अभिप्राय वाले हो गये ॥ ४४ ॥

वे शूरवीर कर्म के नष्ट करने में अत्यधिक सावधान हो गए। प्रकृतियों का क्रम मेरे द्वारा किञ्चित् निरूपित किया जाता है ॥ ४५ ॥

भुवन में उत्तम सम्यग्दृष्टि नामक चतुर्थ गुणस्थान में पाँचवें, छठे तथा सातवें में यतीश्वर, धर्मध्यान के प्रभाव से उन स्थानों में अथवा क्वचित् तीन मिथ्यात्व प्रकृतियाँ, चार दुःकषाय, पाप की कारण देवायु, नरकायु और तिर्यंचायु इन दस प्रकृतियों को पहले ही मुनीश्वर नाश कर, आठवें गुणस्थान में क्षपकश्रेणी के आश्रित हो गए। सुधी अपूर्वकरण होकर नवम गुणस्थान में स्थित होकर, परमार्थ के जानने वाले शुक्लध्यान के पूर्व चरण से पृथक्त्ववितर्कवीचार नाम से विचारवान् (होकर), अनिवृत्तिकरण गुणस्थान के पूर्व भाग में आतप, चार जातियाँ, तीन निद्रायें, दो नरक, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यक्द्विक्, उद्योत इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर दूसरे में अत्यधिक रूप से आठ कषाय, तीसरे में नपुंसक चौथे में स्त्रैण, पाँचवें में हास्यादि छह, छठे में पुंवेद, तीन भागों में पृथक्-पृथक् क्रोध, मान और माया, नवम में छत्तीस प्रकृति का विनाश कर, सूक्ष्मसांपरायगुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का विनाश कर क्षीणमोह गुणस्थान में दूसरे शुक्लध्यान का आश्रम ले लिया। उपान्त्य समय में सुधी ने प्रचला सहित निद्रा को छोड़कर अन्तिम समय में दर्शन की घाती चार, पाँच प्रकार से ज्ञान का विनाश करने वाली, पाँच प्रकृतियाँ, पांच अन्तराय, इस प्रकार घातिकर्म की त्रेसठ प्रकृतियाँ कही गई हैं ॥ ४६–५७ ॥

इन्हें नाश कर तत्क्षण ही केवलज्ञानरूपी सूर्य हो गए। सयोगकेवली गुणस्थान में वे सर्वप्रकाशक हो गए ॥ ५८ ॥

संयत सर्वदर्शी च वीर्यमानन्त्यमाश्रितः ।
अनन्तसुखसंपन्नः परमानन्ददायकः ॥ ५९ ॥
अन्तकृत्केवली स्वामी वर्द्धमानजिनेशिनः ।
स जीयाद् भव्यजीवानां शर्मणे शरणं जिनः ॥ ६० ॥

केवलज्ञानसंपत्तिं मत्वा स्वासनकम्पनात् ।
सर्वे देवेन्द्रनागेन्द्रचन्द्रार्काद्याः सुरेश्वराः ॥ ६१ ॥
चतुर्निकायदेवौघैः स्वाङ्गनाभिः समन्विताः ।
समागत्य महाभक्त्या कृत्वा गन्धकुटीं शुभाम् ॥ ६२ ॥
सिंहासनं लसत्कान्ति सच्छत्रं चामरद्वयम् ।
पुष्पवृष्टिं प्रकुर्वन्ति परमानन्दनिर्भराः ॥ ६३ ॥

जलगन्धाक्षतैः पुष्पैः पीयूषैः रत्नदीपकैः ।
कृष्णागरुलसद्धूपैः फलैर्नानाप्रकारकैः ॥ ६४ ॥
गीतनृत्यादिवादित्रसहस्रैः पापनाशनैः ।
पूजयित्वा जगत्पूज्यं तं जिनं श्रीसुदर्शनम् ॥ ६५ ॥
वीतरागं क्षणार्धेन लोकालोकप्रदर्शिनम् ।
स्तुतिं कर्तुं प्रवृत्तास्ते सारसंपत्तिदायिनीम् ॥ ६६ ॥

जय देव दयासिन्धो जय त्वं केवलेक्षण ।
जय त्वं सर्वदर्शी च जयानन्तप्रवीर्यभाक् ॥ ६७ ॥
अनन्तसुखसंतृप्त जय त्वं परमोदयः ।
जय त्वं त्रिजगत्पूज्य दोषदावाग्नितोयदः ॥ ६८ ॥
सर्वोपसर्गजेता त्वं सर्वसन्देहनाशकः ।
भव्यानां भवभीरूणां संसाराम्भोधितारकः ॥ ६९ ॥
सद्ब्रह्मचारिणां घोरब्रह्मचारी त्वमेव हि ।
तपस्विनां महातीव्रतपःकर्ता भवानहो ॥ ७० ॥
हितोपदेशको देव त्वं भव्यानां कृपापरः ।
प्रतापिनां प्रतापी त्वं कर्मशत्रुक्षयंकरः ॥ ७१ ॥
बन्धूनां त्वं महाबन्धुर्भव्यसंदोहपालकः ।
लोकद्वयमहालक्ष्मीकारणं त्वं जगत्प्रभो ॥ ७२ ॥
स्वामिंस्ते गुणवाराशेः पारं को वा प्रयाति च ।
किं वयं जडतां प्राप्ताः स्तुतिं कर्तुं क्षमाः क्षितौ ॥ ७३ ॥

(उन) संवर और सर्वदर्शी ने अनन्तवीर्य का आश्रय ले लिया। वे अनन्त सुख से सम्पन्न और परम आनन्ददायक हो गए ।। ५९ ।।

वर्द्धमान जिनेन्द्र के अन्तकृत्केवली स्वामी शरणरूप जिन भव्य जीवों के सुख के लिए जियें ।। ६० ।।

समस्त देवेन्द्र, नागेन्द्र, चन्द्र, सूर्य आदि सुरेश्वर अपने आसन के कम्पन से केवलज्ञान सम्पत्ति को मानकर, चतुर्निकाय के देवों का समूह ने अपनी स्त्रियों सहित महाभक्ति से आकर शुभ गन्धकुटी का निर्माण कर, उत्तम छत्र और दो चामरों से सुशोभित सिंहासन (बनाया) तथा (वे) परम आनन्द से भरे हुए पुष्प वर्षा कर रहे थे ।। ६१–६३ ।।

जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, पीयूष, रत्नदीपक, काला अगरु, सुवासित धूप और नाना प्रकार के फलों से, पाप के नाशक हजारों गीत, नृत्य और वाद्यों से उन जगत्पूज्य श्री सुदर्शन जिन की पूजा कर, आधे क्षण में ही लोकालोक को प्रदर्शित करने वाले वीतराग की वे सार रूप सम्पत्ति को देने वाली स्तुति करने में प्रवृत्त हो गए ।। ६४–६६ ।।

हे दयासिन्धु ! तुम्हारी जय हो। हे केवलज्ञान रूपी नेत्र तुम्हारी जय हो। हे सर्वदर्शी तुम्हारी जय हो। हे अनन्तवीर्य के धारी तुम्हारी जय हो ।। ६७ ।।

अनन्त सुख से संतृप्त हे परमोदय ! आपकी जय हो। हे दोष रूपी वनाग्नि के लिए मेघ स्वरूप त्रिजगत्पूज्य ! तुम्हारी जय हो ।। ६८ ।।

तुम समस्त उपसर्गों के विजेता हो, समस्त सन्देहों का नाश करने वाले हो, संसार से डरने वाले भव्यों को संसार समुद्र के तारने वाले हो ।। ६९ ।।

अच्छे ब्रह्मचारियों में घोर ब्रह्मचारी तुम ही हो। तपस्वियों में महान् तीव्र तप के कर्त्ता आप ही हो ।। ७० ।।

हे हितोपदेशी देव ! तुम भव्यों पर कृपा करने वाले हो। आप प्रतापियों में प्रतापी हैं, कर्म शत्रु का क्षय करने वाले हैं ।। ७१ ।।

बन्धुओं में आप महाबन्धु हैं, भव्यों के समूह के रक्षक हैं, हे जगत्प्रभु ! आप दोनों लोकों की महालक्ष्मी के कारण हो ।। ७२ ।।

आप गुणरूपी समुद्र के स्वामी हैं, आपका कौन पार पा सकता है ? जड़ता को प्राप्त क्या हम पृथ्वी पर स्तुति करने में समर्थ हैं ।। ७३ ।।

तथापि ते स्तुतिर्देव भव्यानां शर्मकारिणी ।
अस्माकं संभवत्वत्र संसाराम्भोधितारिणी ॥ ७४ ॥

इत्यादिकं स्तुतिं कृत्वा सर्वे सानन्दसंभ्रमाः ।
सर्वराजप्रजोपेता नमस्कृत्य पुनः पुनः ॥ ७५ ॥
स्वहस्तौ कुड्मलीकृत्य धर्मश्रवणमानसाः ।
स्वामिनस्ते मुखाम्भोजे दत्तनेत्राः सुखं स्थिताः ॥ ७६ ॥

तदा स्वामी कृपासिन्धुः स्वभावादेव संजगौ ।
स्वदिव्यभाषया भव्यान् परमानन्दमुद्गिरन् ॥ ७७ ॥
यत्याचारं जगत्सारं मुनीनां शर्मकारणम् ।
मूलोत्तरैर्गुणैः पूतं रत्नत्रयमनोहरम् ॥ ७८ ॥
दानं पूजां व्रतं शीलं सोपवासं जगद्धितम् ।
सारसम्यक्त्वसंयुक्तं श्रावकाणां सुखप्रदम् ॥ ७९ ॥
नित्यं परोपकारं च धर्मिणां सुमनःप्रियम् ।
धर्मं जगौ गुणाधीशः सर्वसत्त्वहितंकरम् ॥ ८० ॥
तथा स्वामी जगादोच्चैः सप्त तत्त्वानि विस्तरात् ।
षड्द्रव्याणि तथा सर्वत्रलोकस्थितिसंग्रहम् ॥ ८१ ॥
पुण्यपापफलं सर्वं कर्मप्रकृतिसंचयम् ।
यं कंचित्तत्त्वसद्भावं तं सर्वं जिनभाषितम् ॥ ८२ ॥
श्रुत्वा ते भव्यसंदोहाः परमानन्दनिर्भराः ।
जयकोलाहलैरुच्चैस्तं नमन्ति स्म भक्तितः ॥ ८३ ॥
तदा तस्य समालोक्य केवलज्ञानसंपदाम् ।
व्यन्तरी सा तमानम्य सारसम्यक्त्वमाददे ॥ ८४ ॥
सत्यं ये पापिनश्चापि भूतले साधुसंगमात् ।
तेऽत्र श्रद्धा भवत्युच्चैरयः स्वर्णं यथा रसात् ॥ ८५ ॥

तथातिशयमाकर्ण्य केवलज्ञानसंभवम् ।
सुकान्तपुत्रसंयुक्ता सज्जनैः परिवारिता ॥ ८६ ॥
मनोरमा समागत्य तं विलोक्य जिनेश्वरम् ।
धर्मानुरागतो नत्वा समभ्यर्च्य सुभक्तितः ॥ ८७ ॥
संसारदेहभोगेभ्यो विरक्ता सुविशेषतः ।
सुकान्तं सुतमापृच्छ्य क्षान्त्वा सर्वान् प्रियोक्तिभिः ॥ ८८ ॥

फिर भी हे देव ! आपकी स्तुति भव्यों को सुख देने वाली है। यह हमारे संसार रूपी समुद्र को पार करने वाली हो ॥ ७४ ॥

समस्त इन्द्रादिक देव इत्यादिक स्तुति कर, हर्ष से युक्त समस्त राजा पुन: पुन: नमस्कार कर, धर्म के सुनने में मन लगाकर अपने दोनों हाथ मुकुलित कर हे स्वामी ! आपके मुख कमल में दृष्टि लगाकर सुख-पूर्वक स्थित हैं ॥ ७५-७६ ॥

तब कृपासिन्धु स्वामी अपनी दिव्य भाषा से परम आनन्द बिखेरते हुए अपनी दिव्य भाषा में भव्यों से बोले ॥ ७७ ॥

यति का आचार संसार में सारस्वरूप है, मुनियों के सुख का कारण है, मूल और उत्तर गुणों से पवित्र और रत्नत्रय से मनोहर है ॥ ७८ ॥

सार सम्यक्त्व से संयुक्त उपवास सहित दान, पूजा, व्रत, शील संसार के हितकारी हैं। श्रावकों के लिए सुखप्रद हैं ॥ ७९ ॥

नित्य परोपकार धर्मियों के उत्तम मन को प्रिय है। गुणों के अधीश ने समस्त प्राणियों के हितकर धर्म कहा ॥ ८० ॥

स्वामी ने सात तत्त्व अत्यधिक विस्तार से कहे। छ: द्रव्य सब जगह लोक की स्थिति रूप संग्रह ॥ ८१ ॥

पुण्य-पाप का फल, समस्त कर्म प्रकृतियों का समूह, जो कुछ भी जिनभाषित तत्त्व सद्भाव है ॥ ८२ ॥

इन सबको सुनकर भव्य समूह परम आनन्द से भर गए। जय शब्द के कोलाहल से उन्हें, उन्होंने भक्तिपूर्वक नमस्कार किया ॥ ८३ ॥

तब उनकी केवलज्ञान रूपी सम्पदा को देखकर उस व्यन्तरी ने नमस्कार कर साररूप सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया ॥ ८४ ॥

सच है, पृथ्वी पर जो पापी भी हैं, साधु के संगम से उनको भी अत्यधिक श्रद्धा हो जाती है। जैसे रस के संयोग से लोहा भी सोना हो जाता है ॥ ८५ ॥

केवलज्ञान से उत्पन्न उस प्रकार के अतिशय को सुनकर सज्जनों से घिरे हुए पुत्र सुकान्त सहित मनोरमा ने आकर उन जिनेश्वर को देखकर धर्मानुराग से नमस्कार कर सुभक्तिपूर्वक अर्चना कर, संसार, शरीर और भोगों से विशेष रूप से विरक्त हो गए। प्रिय उक्तियों से सबसे क्षमा कराकर सुकान्त, पुत्र से पूछकर, मन, वचन, काय से सब त्याग कर, वस्त्र

त्रिधा सर्वं परित्यज्य वस्त्रमात्रपरिग्रहा ।
तत्र दीक्षां समादाय शर्मदां परमादरात् ।। ८९ ।।
भूत्वार्यिका सती पूता जिनोक्तं सुतपः शुभम् ।
संचकार जगच्चेतोरञ्जनं दुःखभञ्जनम् ।। ९० ।।

सत्यं कुलस्त्रियो नित्यं न्यायोऽयं परमार्थतः ।
स्वस्वामिना धृतो मार्गो ध्रियते यच्छुभोदयः ।। ९१ ।।

पण्डिता धात्रिका सा च देवदत्ता च सा किल ।
पुण्याङ्गना तमानम्य निन्दां कृत्वा निजात्मनः ।। ९२ ।।
स्वयोग्यानि व्रतान्याशु स्वीचक्राते गुणाश्रिते ।
अहो सतां प्रसङ्गेन किं न जायेत भूतले ।। ९३ ।।
इत्येवं परमानन्ददायिनी भव्यतायिनी ।
केवलज्ञानसंपत्तिः सुदर्शनजिनेशिनः ।। ९४ ।।
सर्वदेवेन्द्रनागेन्द्रखेचराद्यैः समर्चिता ।
अस्माकं कर्मणां शान्त्यै भवत्वत्र शुभोदया ।। ९५ ।।

इति विततविभूतिः केवलज्ञानमूर्तिः,
सकल-सुखविधाता प्राणिनां शान्तिकर्ता ।
जयतु गुणसमुद्रोऽनन्तवीर्यैकमुद्र-
स्त्रिभुवनजनपूज्यः श्रीजिनो भव्यबन्धुः ।। ९६ ।।

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिविरचिते श्रीसुदर्शनकेवलज्ञानोत्पत्तिव्यावर्णनो नाम एकादशोऽधिकारः ।

मात्र स्वीकार कर वहाँ परम आदर से सुख देने वाली दीक्षा ग्रहण कर, मनोरमा सती ने पवित्र आर्यिका होकर जिनोक्त शुभ सुतप किया, जो कि संसार के चित्त को प्रसन्न करने वाला और दुःख का भंजन करने वाला है ।। ८६–९० ।।

सच है, परमार्थ रूप से कुल स्त्रियों का यह नित्य न्याय है कि अपने स्वामी के द्वारा धारण किए हुए शुभ उदय वाले मार्ग को धारण करती हैं ।। ९१ ।।

पण्डिता धाय और उस देवदत्ताने पवित्र स्त्री (आर्यिका मनोरमा) उसे प्रणाम कर निजात्मः की निन्दा कर, गुणों के आश्रित अपने व्रतों को शीघ्र स्वीकार कर लिया। ओह ! सज्जनों के प्रसङ्ग से पृथ्वी तल पर क्या नहीं होता है ।। ९२-९३ ।।

इस प्रकार भव्यजनों को पार करने वाली परम आनन्द की देने वाली सुदर्शन जिनेन्द्र की केवलज्ञानरूपी सम्पत्ति, जो कि समस्त देवेन्द्र, नागेन्द्र और विद्याधर आदि से समर्चित है, वह शुभोदया हमारे कर्मों को शान्ति के लिए हो ।। ९४-९५ ।।

इस प्रकार विस्तीर्ण विभूति, केवलज्ञानमूर्त्ति, समस्त सुखों के विधाता, प्राणियों के शान्तिकर्ता, गुणों के समुद्र, अनन्तवीर्य रूप एक मुद्रा वाले, तीनों भुवनों के लोगों द्वारा पूज्य भव्य बन्धु श्रीजिन जयशील हों ।। ९६ ।।

इस प्रकार पञ्चनस्कारमाहात्म्य प्रदर्शक मुमुक्षु श्री विद्यानन्दि-
विरचित श्री सुदर्शन केवलज्ञानोत्पत्ति व्यावर्णन नामक
ग्यारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ।

द्वादशोऽधिकारः

अथ श्री केवलज्ञानी सुदर्शनसमाह्वयः ।
सत्यनामा जगद्वन्द्यो लोकालोकप्रकाशकः ॥ १ ॥
स्व-स्वभावेन पूतात्मा भव्यपुण्योदयेन च ।
अनिच्छोऽपि जगत्स्वामी स्ववाक्यामृतवर्षणैः ॥ २ ॥
भव्यौघांस्तर्पयन्नित्यं सुरासुरसमर्चितः ।
विहारं सुविधायोच्चैः परमानन्ददायकः ॥ ३ ॥
अन्ते च स्वायुषः स्वामी शेषकर्मक्षयोद्यतः ।
विभूतिं तां परित्यज्य छत्रचामरकादिजाम् ॥ ४ ॥

निरालम्बं जिनः स्थित्वा शुभे देशे क्वचित्प्रभुः ।
मौनी स्वामी समासाद्य पञ्चलघ्वक्षरस्थितिम् ॥ ५ ॥
अयोगिकेवली देवो द्वौ गन्धौ रसपञ्चकम् ।
पञ्चवर्णाश्रिताः पञ्च प्रकृतीः स यतीश्वरः ॥ ६ ॥
पञ्चधा वपुषां स्वामी बन्धनानि तथा मुनिः ।
पञ्चधा च शरीराणि संघातान् पञ्च कीर्तितान् ॥ ७ ॥
संहननषट्कं चापि संस्थानानि च तानि षट् ।
देवगत्यानुपूर्व्यैश्च विहायोगतियुग्मकम् ॥ ८ ॥
परं घातोपघातौ चोच्छ्वासं चागुरुलाघवम् ।
अयशःकीर्तिमनादेयं शुभं चाशुभमेव च ॥ ९ ॥
सुस्वरं दुःस्वरं चापि स्थिरत्वं चास्थिरत्वयुक् ।
स्पर्शाष्टकं च निर्माणमेकं स्थानप्रमाणवाक् ॥ १० ॥
अङ्गोपाङ्गमपर्याप्तिं दुर्भगत्वं च दुःखदम् ।
सप्रत्येकशरीरं च नीचैर्गोत्रं च पापकृत् ॥ ११ ॥
वेद्यं चान्यतरच्चैवं द्वासप्ततिमिति प्रभुः ।
उपान्त्यसमये तत्र समुच्छिन्नक्रियाख्यतः ॥ १२ ॥
सुध्यानात्प्रकृतीः क्षिप्त्वा तथासौ चरमक्षणे ।
आदेयत्वं च मानुष्यगतिगत्यानुपूर्विके ॥ १३ ॥
स पञ्चेन्द्रियजातिं च यशःकीर्तिमनुत्तराम् ।
पर्याप्तिं च त्रसत्वं च बादरत्वं च यन्मतम् ॥ १४ ॥
सुभगत्वं मनुष्यायुरुच्चैर्गोत्रं च वेद्यकम् ।
श्रीमत्तीर्थकरत्वं च प्रकृतीः स त्रयोदश ॥ १५ ॥

द्वादशोऽधिकारः

अनन्तर श्री सुदर्शन नामक केवलज्ञानी, सत्य रूप में संसार के बन्धु, लोकालोक के प्रकाशक, अपने स्वभाव से पवित्रात्मा, भव्यजनों के पुण्य के उदय से बिना इच्छा के भी संसार के स्वामी अपने वाक्य रूपी अमृत की वर्षा से, भव्य जनों के समूह को नित्य तृप्त करते हुए, सुर और असुरों से पूजित, परम आनन्द को देने वाले विहार को अत्यधिक करके, अपनी आयु के अन्त में स्वामी छत्र चामरादि विभूति का परित्याग कर शेष कर्मों का क्षय करने के लिए उद्यत हुए ॥ १-४ ॥

किसी शुभदेश में जिन निरालम्बन ठहर कर मौन होकर पांच लघु अक्षरों की स्थिति को प्राप्त कर, उन यतीश्वर अयोगिकेवली देव ने दो गन्ध, पाँच रस, पाँच वर्णों के आश्रित पाँच प्रकृति वाले, वह स्वामी मुनि पाँच बन्धन, पाँच शरीर, पाँच संघात, छः संहनन, छः संस्थान, देव-गत्यानुपूर्वी, दो विहायोगति, परघात, उपघात, उच्छ्वास, अगुरुलघु, अयशःकीर्ति, अनादेय, अशुभ, शुभ, सुस्वर, दुःस्वर, स्थिरत्व, अस्थिरत्व, आठ स्पर्श, एक स्थान निर्माणवाक्, अङ्गोपाङ्ग, अपर्याप्ति, दुःख देने वाली दुर्भग प्रकृति, असातावेदनीय, प्रत्येक शरीर, पाप कर्म करने वाला नीच गोत्र, एक वेदनीय इस प्रकार उपान्त्य समय में बहत्तर प्रकृतियों का समुच्छिन्न क्रिया नामक सुध्यान से नाश कर चरम क्षण में आदेयत्व, मनुष्यगति, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, पञ्चेन्द्रिय जाति, अनुत्तरयशःकीर्ति, पर्याप्ति, त्रस, बादरपना, सुभगपना, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, श्रीमत्तीर्थंकरत्व इस तेरह

हत्वैताः समयेनाशु संप्राप्तो मोक्षमक्षयम् ।
सिद्धो बुद्धो निराबाधो निष्क्रियः कर्मवर्जितः ॥ १६ ॥

किञ्चिन्न परित्यक्तकायाकारोऽप्यकायकः ।
त्रैलोक्यशिखरारूढस्तनुवाते स्थिरं स्थितः ॥ १७ ॥
प्रसिद्धाष्टगुणैर्युक्तः सम्यक्त्वाद्यैरनुत्तरैः ।
कर्मबन्धननिर्मुक्तश्चोर्ध्वगामी स्वभावतः ॥ १८ ॥
एरण्डबीजवद्वह्निशिखावच्च तदा द्रुतम् ।
निर्मलालाबुवत् स्वामी गत्वा त्रैलोक्यमस्तके ॥ १९ ॥
वृद्धिह्रासविनिर्मुक्तस्तनुवाते प्रतिष्ठितः ।
अनन्तसुखसंतृप्तः शुद्धचैतन्यलक्षणः ॥ २० ॥
काले कल्पशते चापि विक्रियारहितोऽचलः ।
अभावाद्धर्मद्रव्यस्य नैव याति ततः परम् ॥ २१ ॥
त्रिकालोत्पन्नदेवेन्द्रनागेन्द्रखचरेन्द्रजम् ।
भोगभूमिमनुष्याणां यत्सुखं चक्रवर्तिनाम् ॥ २२ ॥
अनन्तगुणितं तस्मात्सुखं भुङ्क्ते च नित्यशः ।
समयं समयं स्वामी योऽसौ मे शर्म संक्रियात् ॥ २३ ॥
अन्ये सर्वेऽपि ये सिद्धाः प्रबुद्धा गुणविग्रहाः ।
कालत्रयसमुत्पन्नाः पूजिता वन्दिताः सदा ॥ २४ ॥
शुद्धचैतन्यसद्भावा जन्ममृत्युजरातिगाः ।
सन्तु ते कर्मणां शान्त्यै समाराध्या जगद्धिताः ॥ २५ ॥
धात्रीवाहनभूपाद्या ये तदा मुनयोऽभवन् ।
ते सर्वे स्वतपोयोगैः प्राप्ताः स्वर्गापवर्गकम् ॥ २६ ॥
यं सुमन्त्रं समाराध्य गोपालोऽपि जगद्धितः ।
एवं सुदर्शनो जातस्तत्र किं वर्ण्यते परम् ॥ २७ ॥
अन्येऽपि बहवो भव्याः परमेष्ठिपदान्यलम् ।
समुच्चार्य जगत्सारं सुखं प्रापुर्निरन्तरम् ॥ २८ ॥
तथा यं मन्त्रमाराध्य परमानन्ददायकम् ।
कुर्कुरोऽपि सुरो जातः का वार्ता भव्यदेहिनाम् ॥ २९ ॥
तेषां सारफलं लोके कोऽत्र वर्णयितुं क्षमः ।
इन्द्रो वा धरणेन्द्रो वा विना श्रीमज्जिनेश्वरैः ॥ ३० ॥

प्रकृतियों का नाश कर, शीघ्र ही सिद्ध, बुद्ध, निराबाध, निष्क्रिय, कर्म रहित मोक्ष प्राप्त कर लिया ॥ ५-१६ ॥

यद्यपि उन्होंने काय के आकार का किंचित् त्याग नहीं किया था, फिर भी अकायक हैं। तीनों लोकों के शिखर पर आरूढ़ तनुवात में स्थिर रूप से स्थित हैं ॥ १७ ॥

सम्यक्त्वादि अनुत्तर प्रसिद्ध आठ गुणों से युक्त हैं स्वभावतः कर्म बन्धन से मुक्त और ऊर्ध्वगामी हैं ॥ १८ ॥

एरण्ड के बीज तथा अग्नि की शिखा के समान शीघ्र जाकर स्वामी तीनों लोगों के मस्तक पर, वृद्धि और ह्रास से रहित तनुवात में प्रतिष्ठित हो गए। वे अनन्त सुख से संतृप्त और शुद्ध चैतन्य लक्षण वाले हैं ॥ १९-२० ॥

सौ कल्पकाल में भी विक्रिया रहित, अचल, धर्मद्रव्य का अभाव होने से उसके आगे नहीं जाते हैं ॥ २१ ॥

तीनों कालों में उत्पन्न देवेन्द्र, नागेन्द्र, विद्याधरों के, इन्द्र भोगभूमि के मनुष्य तथा चक्रवर्तियों का जो सुख है ॥ २२ ॥

उसका अनन्त गुना स्वामी नित्य भोग करते हैं। इस प्रकार के स्वामी समय-समय पर मुझे सुख करें ॥ २३ ॥

अन्य सब जो गुणरूप शरीर वाले प्रबुद्ध सिद्ध तीनों कालों में समुत्पन्न हैं, वे सदा पूजित और वन्दित हैं ॥ २४ ॥

शुद्ध चैतन्य रूप सद्भाव वाले, जन्म, मृत्यु और जरा से अतीत संसार के हितकारी, समाराध्य वे कर्मों की शान्ति के लिए हों ॥ २५ ॥

धात्री वाहन आदि राजा जो कि तब मुनि हो गए थे, उन सबने, अपने तपोयोग से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त किया ॥ २६ ॥

जिस सुमन्त्र की भली-भाँति आराधना कर संसार का हितकारी ग्वाला भी इस प्रकार सुदर्शन हुआ, उसका अधिक क्या वर्णन किया जाय ॥ २७ ॥

अन्य भी बहुत से भव्यों ने परमेष्ठी के पदों का अत्यधिक उच्चारण कर संसार के सार स्वरूप सुख को निरन्तर पाया ॥ २८ ॥

तथा जिस परमानन्ददायक मन्त्र की आराधना कर कुत्ता भी देव हो गया तो भव्य देहियों की तो बात ही क्या है ? ॥ २९ ॥

उनके साररूप फल को इस लोक में श्रीमज्जिनेश्वर के बिना इन्द्र अथवा धरणेन्द्र कौन वर्णन करने में समर्थ है ॥ ३० ॥

अन्योऽपि यो महाभव्यो मन्त्रमेतं जगद्धितम् ।
आराधयिष्यति प्रीत्या स भविष्यति सत्सुखी ॥ ३१ ॥

तस्माद्बुधैः सुखे दुःखे मन्त्रोऽयं परमेष्ठिनाम् ।
समाराध्यः सदासारस्वर्गमोक्षैककारणम् ॥ ३२ ॥

निशि प्रातश्च मध्याह्ने सन्ध्यायां वात्र सर्वदा ।
मन्त्रराजोऽयमाराध्यो भव्यैर्नित्यं सुखप्रदः ॥ ३३ ॥

अस्य स्मरणमात्रेण मन्त्रराजस्य भूतले ।
सर्वे विघ्नाः प्रणश्यन्ति यथा भानूदये तमः ॥ ३४ ॥

यथा सर्वेषु वृक्षेषु कल्पवृक्षो विराजते ।
तथायं सर्वमन्त्रेषु मन्त्रराजो विराजते ॥ ३५ ॥

इत्यादिकं समाकर्ण्य मन्त्रस्यास्य प्रभावकम् ।
सर्वकार्येषु मन्त्रोऽयं स्मरणीयः सदा बुधैः ॥ ३६ ॥

येन सर्वत्र भव्यानां मनोवाञ्छितसंपदाः ।
धनं धान्यं कुलं रम्यं भवन्त्यत्र सुनिश्चितम् ॥ ३७ ॥

सुदर्शनजिनस्योच्चैश्चरित्रं पुण्यकारणम् ।
पठन्ति पाठयन्त्यत्र लेखयन्ति लिखन्ति ये ॥ ३८ ॥

ये शृण्वन्ति महाभव्या भावयन्ति मुहुर्मुहुः ।
ते लभन्ते महासौख्यं देवदेवेन्द्रसंस्तुतम् ॥ ३९ ॥

श्रीगौतमगणीन्द्रेण प्रोक्तमेतन्निशम्य च ।
सच्चरित्रं तमानम्य संतुष्टः श्रेणिकप्रभुः ॥ ४० ॥

अन्यैर्भूरिजनैः सार्धं परमानन्दनिर्भरैः ।
प्राप्तो राजगृहं रम्यं स सुधीर्भावितीर्थकृत् ॥ ४१ ॥

गन्धारपुर्यां जिननाथगेहे छत्रध्वजाद्यैः परिशोभितेऽत्र ।
कृतं चरित्रं स्वपरोपकारकृते पवित्रं हि सुदर्शनस्य ॥ ४२ ॥

नन्दत्विदं सारचरित्ररत्नं भव्यैर्जनैर्भावितमुत्तमं हि ।
सत्केवलज्ञानिसुदर्शनस्य संसारसिन्धौ वरयानपात्रम् ॥ ४३ ॥

स श्रीकेवललोचनो जिनपतिः सर्वेन्द्रवृन्दार्चितो,
भव्याम्भोरुहभास्करो गुणनिधिर्मिथ्यातमोध्वंसकृत् ।
सच्छीलाम्बुधिचन्द्रमाः शुचितरो दोषौघमुक्तः सदा,
नाम्ना सारसुदर्शनोऽत्र सततं कुर्यात् सतां मङ्गलम् ॥ ४४ ॥

अन्य भी जो महाभव्य संसार के हितकारी इस मन्त्र की प्रीतिपूर्वक आराधना करेगा, वह सुखी होगा ॥ ३१ ॥

अतः भव्यों को सुख-दुःख में परमेष्ठी के इस मन्त्र की आराधना करना चाहिए। यह सदा सार रूप स्वर्ग और मोक्ष का एकमात्र कारण है ॥ ३२ ॥

रात में, प्रातःकाल, मध्याह्न में सन्ध्या काल सदा भव्यों को सुखप्रद इस मन्त्र की आराधना करना चाहिए ॥ ३३ ॥

इस मन्त्रराज के स्मरण मात्र से पृथ्वी पर समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥३४॥

जैसे समस्त वृक्षों में कल्पवृक्ष सुशोभित होता है, उसी प्रकार समस्त मन्त्रों में यह मन्त्रराज सुशोभित होता है ॥ ३५ ॥

इत्यादिक इस मन्त्र के प्रभाव को सुनकर बुद्धिमानों को समस्त कार्यों में इस मन्त्र का सदा स्मरण करना चाहिए ॥ ३६ ॥

जिस मन्त्र से यहाँ भव्यों की मनोवाञ्छित सम्पदा, धन, धान्य और रम्य कुल सुनिश्चित होता है ॥ ३७ ॥

अत्यधिक पुण्य के कारण सुदर्शन जिनके चरित्र को जो पढ़ते हैं, पढ़ाते हैं, लिखाते हैं, लिखते हैं ॥ ३८ ॥

जो महाभव्य सुनते हैं, बार-बार भाते हैं वे देव, देवेन्द्र से संस्तुत महासुख को प्राप्त करते हैं ॥ ३९ ॥

श्री गौतम गणीन्द्र के द्वारा कहे हुए इस सच्चरित्र को सुनकर उन्हें नमस्कार कर श्रेणिक राजा सन्तुष्ट हुए ॥ ४० ॥

परमानन्द से भरे हुए अन्य बहुत से लोगों के साथ सुधी भावि तीर्थंकर वे रम्य राजगृह में आए ॥ ४१ ॥

गन्धारपुरी के जिन मन्दिर में, जो कि यहाँ छत्र, ध्वजादि से सुशोभित है, अपने परके उपकार के लिए सुदर्शन का पवित्र चरित्र बनाया ॥४२॥

भव्यजनों के द्वारा भावित, उत्तम यह सार रूप चरित्र रत्न प्रसन्नतादायक हो। उत्तम केवलज्ञानी सुदर्शन का यह चारित्र संसाररूपी समुद्र में उत्तम जहाज है ॥ ४३ ॥

समस्त इन्द्रों के समूह से अर्चित, भव्य कमलों के सूर्य, गुणों के निधि, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले, उत्तम शीलरूपी समुद्र के चन्द्रमा, पवित्र, दोषों के समूह से मुक्त, केवलज्ञानलोचन सुदर्शन यहाँ सज्जनों का सतत मङ्गल करें ॥ ४४ ॥

अर्हत्सिद्धगणीन्द्रपाठकमुनिश्रीसाधवो नित्यशः,
पञ्चैते परमेष्ठिनः शुभतराः संसारनिस्तारकाः ।
कुर्वन्त्वत्र सुखं जिनेश्वरविनुतं मन्त्राक्षरं निर्मलं,
यन्मन्त्रोऽपि करोति वाञ्छितसुखं कीर्तिं प्रमोदं जयम् ।। ४५ ।।

श्रीसारदासारजिनेन्द्रवक्त्रात्समुद्भवा सर्वजनैकचक्षुः ।
कृत्वा क्षमां मेऽत्र कवित्वलेशे मातेव बालस्य सुखं करोतु ।। ४६ ।।

श्रीमूलसङ्घे वरभारतीये गच्छे बलात्कारगणेऽतिरम्ये ।
श्रीकुन्दकुन्दाख्यमुनीन्द्रवंशे जातः प्रभाचन्द्रमहामुनीन्द्रः ।। ४७ ।।

पट्टे तदीये मुनिपद्मनन्दी भट्टारको भव्यसरोजभानुः ।
जातो जगत्त्रयहितो गुणरत्नसिन्धुः कुर्यात् सतां सारसुखं यतीशः ।४८।

तत्पट्टपद्माकरभास्करोऽत्र देवेन्द्रकीर्तिर्मुनिचक्रवर्ती ।
तत्पादपङ्कजसुभक्तियुक्तो विद्यादिनन्दीचरितं चकार ।। ४९ ।।

तत्पादपट्टेऽजनि मल्लिभूषणगुरुश्चारित्रचूडामणिः,
संसाराम्बुधितारणैकचतुरश्चिन्तामणिः प्राणिनाम् ।
सूरिश्रीश्रुतसागरो गुणनिधिः श्रीसिंहनन्दी गुरुः,
सर्वे ते यतिसत्तमाः शुभतराः कुर्वन्तु वो मङ्गलम् ।। ५० ।।

गुरूणामुपदेशेन सच्चरित्रमिदं शुभम् ।
नेमिदत्तो व्रती भक्त्या भावयामास शर्मदम् ।। ५१ ।।

इति श्रीसुदर्शनचरिते पञ्चनमस्कारमाहात्म्यप्रदर्शके मुमुक्षुश्रीविद्यानन्दिविरचिते सुदर्शनमहामुनिमोक्षलक्ष्मीसंप्राप्तिव्यावर्णनो नाम द्वादशोऽधिकारः समाप्तः ।

।। शुभं भवतु ।। ग्रन्थ संख्याश्लोक १३६२ ।।
संवत् १५९१ वर्षे आषाढमासे शुक्लपक्षे ।

अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य (गणीन्द्र), पाठक (उपाध्याय) और मुनिश्री (साधु) नित्य शुभतर ये परमेष्ठी संसार से पार करने वाले हैं। ये भव्यों को निर्मल, विनाशरहित सुख करें, जिनका मन्त्र भी वाञ्छित सुख, कीर्ति, प्रमोद और जय करता है ॥ ४५ ॥

मेरे कवित्व का लेश होने पर यहाँ समस्त लोगों की एकमात्र नेत्र, जिनेन्द्रमुख से उत्पन्न श्री शारदा माता जिस प्रकार बालक को सुखकर है, उस प्रकार सुख करें ॥ ४६ ॥

श्री मूलसंघ में, श्रेष्ठ भारतीय गच्छ में, अत्यन्त रम्य बलात्कार गण में श्री कुन्दकुन्द नामक मुनीन्द्र के वंश में प्रभाचन्द्र नामक महामुनीन्द्र हुए ॥ ४७ ॥

उस पट्ट पर तीनों लोकों के हितकारी, गुणरत्नों के समुद्र, भव्य कमलों के सूर्य मुनि पद्मनन्दी भट्टारक यतीश सज्जनों का सार रूप सुख करें ॥ ४८ ॥

उनके पट्ट पर कमलों के समूह के लिए सूर्य के समान मुनि चक्रवर्ती देवेन्द्रकीर्ति हुए। उनके चरणकमलों में भक्ति से युक्त विद्यानन्दी ने यह चरित बनाया ॥ ४९ ॥

उनके पाद पट्टपर चारित्रचूडामणि, संसाररूपी समुद्र को तारने में एकमात्र चतुर, प्राणियों के चिन्तामणि मल्लिभूषण गुरु उत्पन्न हुए ॥ गुणों की निधि सूरिश्री श्रुतसागर, श्री सिंहनन्दी गुरु ये समस्त शुभतर यति श्रेष्ठ आपका मङ्गल करें ॥ ५० ॥

गुरुओं के उपदेश से यह शुभ, सुख देनेवाला सच्चरित्र नेमिदत्त व्रती ने भावित किया ॥ ५१ ॥

इस प्रकार मुमुक्षु श्रीविद्यानन्दिविरचित पञ्चनमस्कार माहात्म्यप्रदर्शन श्री सुदर्शनचरित में सुदर्शनमहामुनि की मोक्षलक्ष्मी प्राप्ति व्यावर्णन नामक बारहवाँ अधिकार समाप्त हुआ ॥

॥ शुभं भवतु ॥

संवत् १५९१ वर्षे आषाढ़ मासे शुक्लपक्षे।

परिशिष्ट

सुदर्शनचरित में आगत सूक्तियाँ

यथा राजा तथा प्रजा १।६३

प्रायेण सुकुलोत्पत्तिः पवित्रा स्यान्महीतले ।
शुद्ध रत्नाकरोद्‌भूतो मणिर्वा विलसद्द्युतिः ॥१।६८

सत्यं जिनागमे जाते सर्वप्राणिहितंकरे ।
किं वा भवति नाश्चर्यं परमानन्ददायकम् ॥१।७७

युक्तं ये धर्मिणो भव्या जिनभक्तिपरायणाः ।
धर्मकार्येषु ते नित्यं भवन्ति परमादराः ॥१।८६

…………भव्यानामीदृशी गतिः ।
यत्सुपूज्येषु सत्पूजा क्रियते शर्मकारिणी ॥१।१२०

धर्मो वस्तु स्वभावो हि ।२।४

क्षमादि दशधा धर्मो तथा रत्नत्रयात्मकः ।
जीवानां रक्षणं धर्मश्चेति प्राहुर्जिनेश्वराः ॥२।५

युक्तं दिवाकरोद्योते प्रयाति सकलं तमः ।२।३८

सत्यं त एव दातारो ये वदन्ति प्रियं वचः ॥३।३०

कामः क्रोधश्च मानश्च लोभो हर्षस्तथा मदः ।
अन्तरङ्गोऽरिषड्वर्गः क्षितीशानां भवन्त्यमी ॥३।५०

उत्तम श्रेष्ठिना राज्यं स्थिरीभवति भूपतेः ॥३।५६
शुभं श्रुत्वा सुधीः को वा भूतले न प्रमोदवान् ॥३।७२

विश्वासः सद्गुरुणां यः स एव सुखसाधनम् ३।८५
भाविपुत्र यशो वोच्चैः सज्जनानां मनःप्रियम् ।३।८९

सत्यं सत्पुत्रसंप्राप्तौ किं न कुर्वन्ति साधवः ।३।९९

पूर्वपुण्येन जन्तूनां किं न जायेत भूतले ।
कुलं गोत्रं शुभं नाम लक्ष्मीः कीर्तिर्यशः सुखम् ॥३।१०४

पुण्येन दूरतरवस्तु समागमोऽस्ति ।
पुण्यं विना तदपि हस्ततलात्प्रयाति ॥३।१०६

सत्यं सुपुण्यसंयुक्तः पुत्रः कस्य न शर्मदः ।४।२

प्रौढार्भको विशेषेण शोभितो भुवनोत्तमः ।४।४

पुत्रः सामान्यतश्चापि सज्जनानां सुखायते ।
मुक्तिगामी च यो भव्यस्तस्य किं वर्ण्यते भुवि ।।४।५

किं वर्ण्यते मया योऽत्र भावीत्रैलोक्यपूजितः ।।४।२५

विद्या लोकद्वये माता विद्या शर्मयशस्करी ।
विद्या लक्ष्मीकरा नित्यं विद्या चिन्तामणिर्हितः ।।४।३२

विद्या कल्पद्रुमो रम्यो विद्या कामदुहा च गौः ।
विद्या सारधनं लोके विद्या स्वर्मोक्षसाधिनी ।।४।३३

विदुषां भारतीवात्र लोकद्वय सुखावहा ।।४।३९

सत्यं स एव लोकेऽस्मिन् गृहवासः प्रशस्यते ।
यत्र धर्मे गुणे दाने द्वयोर्मेधा सदा शुभा ।।४।७०

युक्तं प्रच्छन्नकं कार्यं किंचिद् वा शुभाशुभम् ।
मित्रं सर्वं विजाभाति तत्सखा शर्मदायकः ।।४।७९

युक्तं दुष्टेन कामेन महान्तोऽपि महीतले ।
रुद्रादयोऽपि संदग्धा मुग्धेष्वन्येषु का कथा ।।४।८८

ययोरेव समं वित्तं यो ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च नतु पुष्टाविपुष्टयोः ।।४।९७-९८

सर्वेषां प्रचुरप्रमोदजनकः संतानसंवृद्धिकः ।
सत्पुण्याच्छुभदेहिनां त्रिभुवने संपद्यते मङ्गलम् ।।४।११७

साधूनां सत्प्रभावेण किं शुभं यन्न जायते ।।५।१४

धर्मं शर्मकरं नित्यं कुरुध्वं परमोदयम् ।
प्राप्यन्ते संपदो येन पुत्रमित्रादिभिर्युताः ।।५।२२

मुनीनां समहाधर्मो भवेत्स्वर्गापवर्गदः ।
सर्वथा पञ्चपापानां त्यागो रत्नत्रयात्मकः ।।५।२५

सप्तव्यसनमध्ये च प्रधानं द्यूतमुच्यते ।
कुलगोत्रयशोलक्ष्मी नाशकं तत्त्यजेद् बुधः ।।५।३३

कितवेषु सदा रागद्वेषासत्यप्रवञ्चनाः ।
दोषाः सर्वेऽपि तिष्ठन्ति यथा सर्पेषु दुर्विषम् ।।५।३४

तिलसर्षपमात्रं च मांसं खादन्ति ये द्विजाः ।
तिष्ठन्ति नरके तावद्यावच्चन्द्रदिवाकरौ ॥५।४६

संगतिश्चापि संत्याज्या पण्याङ्गनाविधायिनाम् ॥५।५१

गणिका संगमेनापि पाप राशिः प्रकीर्तितः ।
मद्यमांसरतत्वाच्च परस्त्री दोषतस्तथा ॥५।५२

तस्मादाखेटकं चौर्यं परस्त्री श्वभ्रकारणम् ।
दौर्जन्यं च सदा त्याज्यं सद्भिः पाप प्रदायकम् ॥५।५४

अणुव्रतानि पञ्चोच्चैस्त्रिप्रकारं गुणव्रतम् ।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि पालनी यानि धीधनैः ॥५।५५

सारधर्मविदा नित्यं संत्याज्यं रात्रिभोजनम् ।
अगालितं जलं हेयं धर्मतत्त्वविदांवरैः ॥५।५६

भोजनं परिहर्त्तव्यं मद्यमांसादिदर्शने ॥५।५८

पात्रदानं सदा कार्यं स्वशक्त्या शर्मसाधनम् ।
आहाराभयभैषज्यशास्त्रदानविकल्पभाक् ॥५।५९

पूजा श्रीमज्जिनेन्द्राणां सदा सद्गतिदायिनी ।
संस्तुतिः सन्मतिर्जाये सर्वपापप्रणाशिनी ॥५।६०

शास्त्रस्य श्रवणं नित्यं कार्यं सन्मतिरक्षणम् ।
लक्ष्मी क्षेमयशःकारि कर्मास्रवनिवारणम् ॥५।६१

अन्ते सल्लेखना कार्या जैनतत्त्वविदांवरैः ।
परिग्रहं परित्यज्य सर्वशर्मशतप्रदा ॥।।६२

जिनेन्द्र तपसा लोके किमसाध्यं सुखोत्तमम् ॥५।९०
सत्यं कामातुरा नारी चञ्चला किं करोति न ॥६। ०

लम्पटा स्त्री दुराचारप्रकारचतुरा किल ।६।१८

दुष्टा किं किं न कुर्वन्ति योषितः कामपीडिताः ।
या धर्मवर्जिता लोके कुबुद्धिविषदूषिताः ॥६।२०

अस्थाने येऽत्र कुर्वन्ति भोगाशां पापवञ्चिताः ।
ते सदा कातरा लोके मानभङ्गं प्रयान्ति च ॥६।४२

ये सन्तो भुवने भव्या जिनेन्द्रवचने रताः ।
येन केन प्रकारेण शीलं रक्षन्ति शर्मदम् ॥६।४४

ये परस्त्रीरतामूढा निकृष्टास्ते महीतले ।
दुःखदारिद्र्यदुर्भाग्यमानभङ्गं प्रयान्ति ते ॥६।४५

शीलरत्नं प्रयत्नेन पालनीयं सुखार्थिभिः ॥६।४६

कुस्त्रियः साहसं किं वा नैव कुर्वन्ति भूतले ।
कामाग्निः पीडिताः कष्टं नदी वा कूलयुक्तया ॥६।६९

कामिनां नास्ति चेतना ।६।७१

कामिनां क्व विवेकिता ।६।७४

.........तावद्धर्मो यशः सुखम् ।
यावच्चित्ते भवेन्नित्यं शीलरत्नं जगद्धितम् ॥६।७६

स्त्रियश्चापि विशेषेणशोभन्ते शीलमण्डिताः ।
अन्यथा विषवल्ल्यो रूपाद्यैः संयुता अपि ॥६।७७

कामाकुलाः स्त्रियः पापा नैव पश्यन्ति किंचन ।
कार्याकार्ये यथान्धोऽपि पापतो विकलाशयाः ॥६।७८

स्वेच्छया कार्यमाधातुं विरुद्धं योषितां भवेत् ॥६।७९

सुखी दुःखी कुरूपी च निर्धनो धनवानपि ।
पित्रा दत्तो वरो योऽसौ स सेव्यः कुलयोषिताम् ॥६।८१

परस्त्री परभर्तारश्च परद्रव्यं नराधमाः ।
ये वाञ्छन्ति स्वपापेन दुर्गतिं यान्ति ते खलाः ॥६।८६

परोपदेशने नित्यं सर्वोऽपि कुशलो जनः ॥६।९२

हा कष्टं स्त्रीदुराग्रहः ॥६।९८

यथा प्रेतवने रक्षः कश्मले मक्षिकाकुलम् ।
निम्बे काको बको मत्स्ये शूकरो मल भक्षणे ।
खलो दुष्टस्वभावे च परद्रव्येषु तस्करः ।
प्रीतिं नैव जहात्यत्र तथा कुस्त्री दुराग्रहम् ॥६।९९-१००

अथवा यद्यथा यत्रावश्यंभावि शुभाशुभम् ।
तत्तथा तत्र लोकेऽस्मिन् भवत्येव सुनिश्चितम् ॥६।१०१

युक्तं लोके पराधीनः किं वा कार्यं शुभाशुभम् ।
कर्मणा कुरुते नैव वशीभूतो निरन्तरम् ॥६।१०७

नित्यं मायामया नारी किं पुनः कार्यमाश्रिता ॥७।१४

कृते दोषे महत्यत्र साधवो दीनवत्सलाः ॥७।१८

स्त्रीणां प्रपञ्चवाराशेः को वा पारं प्रयात्यहो ॥७।२०

मुक्त्वा कर्माणि संसारे नास्ति मे कोऽपि शत्रुकः ।
धर्मो जिनोदितो मित्रं पवित्रो भुवनत्रये ॥७।३२

एवं येऽत्र महान्तोऽपि ते दुःखापिपराङ्मुखाः ॥७।४४

किं वातैश्चाल्यतेऽद्रिराट् ॥७।४३

निजबन्धोश्च वियोगो दुस्सहो भुवि ॥७।४५

सस्नेहाः सद्दशोपेताः सुपुत्रा वा तमश्छिदः ॥७।४८

किं करोति न कामिनी ॥७।६२

दुष्टस्त्रीणां स्वभावोऽयं यद्विलोक्य परं नरम् ।
प्रमोदं कुरुते चित्ते कामबाणप्रपीडिता ॥७।६४

चञ्चला सुचला चापि न शक्ता काञ्चनाचले ॥७।८२
किं करोति न दुःशीला दुष्टस्त्री कामलम्पटा ॥७।८४

अविज्ञातस्वभावा हि किं न कुर्वन्ति दुर्जनाः ॥७।९३
धर्मोऽर्हतां जगत्पूज्यो जयत्वत्र जगद्धितः ॥७।९६

अहो सतां मनोवृत्तिर्भूतले केन वर्ण्यते ।
प्राणत्यागोपसर्गेऽपि निश्चला या जिताद्रिराट् ॥७।९८
किं वा भानुर्नभोभागे प्रस्फुरन् कुरुते तमः ॥७।१००

कस्य पुत्रो गृहं कस्य भार्या वा कस्य बान्धवाः ।
संसारे भ्रमतोर्जन्तोर्निजोपार्जित कर्मभिः ॥७।११६

अस्थिरं भुवने सर्वं रत्नसुवर्णादिकं सदा ।
संपदा चपला नित्यं चञ्चलेव क्षणार्द्धतः ॥७।११७

भवेऽस्मिन् शरणं नास्ति देवो वा भूपतिः परः ।
देवेन्द्रो वा फणीन्द्रो वा मुक्त्वा रत्नत्रयं शुभम् ॥७।११८

सुदृष्टिः सहते नैव मानभङ्गं सधर्मिणाम् ॥७।१२३

त्यजन्ति मार्दवं नैव सन्तः संपीडिता ध्रुवम् ।
ताडितं तापितं चापि काञ्चनं विलसच्छविः ॥७।१३९

सत्यं श्रीमज्जिनेन्द्रोक्त धर्मकर्मगितत्पराः ।
शीलवन्तोऽत्र संसारे कैर्न पूज्याः सुरोत्तमैः ॥७।१४४

शीलं दुर्गतिनाशनं शुभकरं शीलं कुलोद्योतकं,
शीलं सारसुखप्रमोदजनकं लक्ष्मीयशः कारणम् ।
शीलं स्वव्रतरक्षणं गुणकरं संसारनिस्तारणं,
शीलं श्रीजिनभाषितं शुचितरं भव्या भजन्तुश्रिये ॥७।१४५

सत्यं कामातुरा नारी न वेत्ति पुरुषान्तरम् ॥८।९
जन्मान्धको यथा रूपं मत्तो वा तत्त्वलक्षणम् ।
तथाऽन्योऽपि न जानाति कामी शीलवतां स्थितिम् ॥८।१०
प्राणिनां च सुखं दुःखं शुभाशुभविपाकतः ॥८।१८
वृत्तं सतां सदा लोके क्षमासारविभूषणम् ।
यथा सर्वक्रियाकाण्डे दर्शनं शर्मकारणम् ॥८।२३
सत्यं प्रसिद्धभूपालाः प्रजापालनतत्पराः ।
ये ते नैव सहन्तेऽत्र प्रजापीडनमुत्तमाः ॥८।५२
पुण्यं विना कुतो लोके जयः संप्राप्यते शुभः ॥८।५४
दुःसाध्यं स्वपितुर्लोके साधयत्यत्र सत्सुतः ॥८।५७
सत्यमासन्नभव्यानां गुरुभक्तौ रतिर्भवेत् ॥८।९४
परमेष्ठिमहामन्त्रप्रभावात् किं न जायते ॥८।१२२
सत्यं सन्तः प्रकुर्वन्ति संप्राप्यावसरं शुभम् ।
श्रेयो निजात्मनो गाढं यथा श्रीमान् सुदर्शनः ॥१०।७
गुरुभक्तिः फलप्रदा ॥१०।४७
ये भव्यास्तां गुरोर्भक्तिं कुर्वते शर्मदायिनीम् ।
त्रिशद्भ्यति महाभव्या लभन्ते परमं सुखम् ॥१०।४८
यो गृह्णाति परद्रव्यं तस्य जीवदया कुतः ॥१०।५३
शरीरे निस्पृहश्चापि कथं सङ्गरतो भवेत् ॥१०।६१
विद्या विनयतः सर्वा स्फुरन्ति स्म विशेषतः ॥१०।१२५
सत्यं पद्माकरे नित्यं भानुरेव विकाशकृत् ।
ततः साधर्मिकेषूच्चैर्विधेयो विनयो बुधैः ॥१०।१२६
वैयावृत्यविहीनस्य गुणाः सर्वे प्रयान्त्यलम् ।
सत्यं शुष्कतडागेऽत्र हंसास्तिष्ठन्ति नैव च ॥१०।१२९
स्वाध्यायेन शुभा लक्ष्मीः संभवेद्विमलं यशः ।
तत्त्वज्ञानं स्फुरत्युच्चैः केवलं च भवेदलम् ॥१०।१३२
सुतरां भास्करोद्योते सत्यं याति तमश्चयः ॥१०।१३६
कष्टाशयं गृहस्यान्तं नयति स्म दुराशया ॥११।१०

शरीरं सर्वथा सर्वजनानामशुचेर्गृहम् ।
जलबद्बुदवद् गाढं क्षयं याति क्षणार्धतः ॥११।१८

भोगा फणीन्द्रभोगाभाः सद्यः प्राणप्रहारिणः ।
संपदा विपदा तुल्या चञ्चलेवातिचञ्चला ॥११।१९

अमेध्यमन्दिरं योषिच्छरीरं पापकारणम् ॥११।२४

दुष्टस्त्रियो जगत्यत्र सद्यः प्राणप्रहाः किल ।
सर्पिण्यो वात्र मूढानां वञ्चनाकरणे चणाः ॥११।२६

ते धन्या भुवने भव्या ये स्त्रीसंगपराङ्मुखाः ।
परिपाल्य व्रतं शीलं संप्राप्ताः परमोदयम् ॥११।२९

दुष्टाः स्त्रियो मदोन्मत्ता, किं न कुर्वन्ति पातकम् ॥११।३७

सत्यं ये पापिनश्चापि भूतले साधुसंगमात् ।
तेऽत्र श्रद्धा भवत्युच्चैरयः स्वर्णं यथा रसात् ॥११।८५

सत्यं कुलस्त्रियो नित्यं न्यायोऽयं परमार्थतः ।
स्वस्वामिना धृतो मार्गो ध्रियते यच्छुभोदयः ॥११।९१

अहो सतां प्रसङ्गेन किं न जायेत भूतले ॥११।९३